ओझा निबन्ध संग्रह

द्वितीय भाग

—❀—

[साहित्य-संस्थान, राजस्थान विश्व विद्यापीठ के इतिहास और पुरातत्व-विभाग के तत्वावधान में सम्पादित]

लेखक

स्व० डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा

—❀—
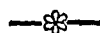
१९५४

साहित्य-संस्थान,

राजस्थान विश्व विद्यापीठ

उदयपुर (राजस्थान)

प्रकाशक:—
अध्यक्ष, साहित्य-संस्थान,
राजस्थान विश्व विद्यापीठ
उदयपुर (राजस्थान)

प्रथम संस्करण, मार्च १९५४
मूल्य ६)

मुद्रक—
व्यवस्थापक
विद्यापीठ प्रेस, उदयपुर

प्रकाशकीय निवेदन
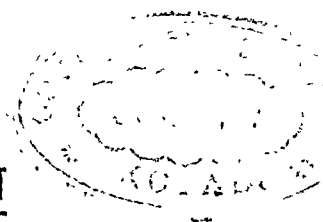
राजस्थान के प्राचीन साहित्य, लोक साहित्य, इतिहास एवं कला विषयक शोध-कार्य को राजस्थान के सांस्कृतिक पुनरुत्थान के लिये अत्यावश्यक और सर्वथा अनिवार्य समझ कर राजस्थान विश्व विद्यापीठ (तत्कालीन हिन्दी विद्यापीठ,) उदयपुर ने वि० सं० १९९९ में "साहित्य-संस्थान" की स्थापना की थी। संस्था की योजनानुसार साहित्य-संस्थान के अन्तर्गत कई महत्वपूर्ण प्रवृतियाँ प्रारम्भ की गई थी जो अब बहुत कुछ विकसित और विस्तृत हो चुकी हैं; जैसे:—

१. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, २. राजस्थान में संस्कृत के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, ३. चारण साहित्य-संग्रह, ४. लोक साहित्य-संग्रह, ५. राजस्थानी कहावत माला, ६. महाकवि सूर्यमल आसन, ७. स्व० डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा आसन, ८. पृथ्वीराज रासो सम्पादन कार्य, ९. अध्ययन गृह तथा संग्रहालय १०, इतिहास एवं पुरातत्व कार्य. ११. शोध-पत्रिका, एवं १२. राजस्थान-साहित्य आदि।

साहित्य-संस्थान की उपर्युक्त विभिन्न प्रवृतियों में 'इतिहास एवं पुरातत्व कार्य' भी एक मुख्य और महत्व पूर्ण प्रवृत्ति है। इस प्रवत्ति विशेष के द्वारा राजस्थान और भारत की पुरातन इतिहास-सामग्री की शोध-खोज करना तथा इतिहास का कार्य करने वालों को यथा संभव साधन सुविधायें देकर आगे बढ़ने के लिये प्रोत्साहित करने का नम्र किन्तु आवश्यक प्रयत्न किया जाता है। स्व० डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने राजस्थान विश्व विद्यापीठ, साहित्य-संस्थान के काम को तथा उसके उज्ज्वल भविष्य

को देख कर अपने समस्त प्रकाशित और अप्रकाशित निवन्ध सम्पादन और प्रकाशन के लिये प्रदान कर दिये थे। स्व० डॉ० ओझाजी भारतीय इतिहासकारों और पुरातत्व वेत्ताओं में प्रमुख और अग्रणी विद्वान थे। राजस्थान की अन्धकाराच्छन्न ऐतिहासिक सामग्री को सर्व प्रथम व्यापक रूप से प्रकाश में लाने का महान श्रेय स्व० डॉ० ओझाजी को ही प्राप्त है। इसी प्रकार भारतीय पुरातत्व के क्षेत्र में भी स्व० डॉ० ओझाजी ने जो महत्वपूर्ण देन दी है; वह कभी भुलाई नहीं जा सकती।

स्व० डॉ० ओझाजी ने वर्षों के परिश्रम से तय्यार किये गये अपने ये निबन्ध जिस आशा और विश्वास के साथ 'साहित्य-संस्थान' को दे दिये थे उसके अनुकूल संस्थान कितना साबित होगा, यह तो भविष्य ही बता सकेगा, लेकिन इतना अवश्य हम यहाँ कह सकते हैं कि "साहित्य-संस्थान" की जो योजना और कल्पना है, यदि साधन-सुविधाओं के साथ विद्वानों का सहयोग जैसा आज मिल रहा है, आगे भी मिलता रहा तो निश्चय ही हम बहुत कुछ कर गुजरने की स्थिति में होंगे। स्व० डॉ० ओझाजी के इन निबन्धों के सम्पादन कार्य में प्रसिद्ध इतिहासज्ञ डॉ० रमाशंकर हेड् ऑफ दि हिस्ट्री-डिपार्टमेंट, विश्व विद्यालय काशी ने हमारे विभागीय-सम्पादक का मार्ग प्रदर्शन कर जो उपयोगी और महत्वपूर्ण सुझाव दिये, उसके लिये संस्थान की ओर से मैं उनके प्रति आभार प्रदर्शित करना अपना कर्तव्य समझता हूँ। इसी प्रकार महाराज कुमार डॉ० रघुबीरसिंह सीतामऊ और डॉ० दशरथ शर्मा, दिल्ली ने समय समय पर जो महत्वपूर्ण सहायता दी है, उसके लिये मैं उनका आभारी हूं, यद्यपि केवल आभार प्रदर्शित कर उक्त दोनों विद्वान महोदयों की साहित्य-संस्थान के विकास कार्य में की गई और की जा रही सेवा के मूल्य को नहीं आंका जा सकता है, और सच तो यह है कि श्री महाराज कुमार और श्री दशरथजी साहित्य-संस्थान राजस्थान विश्व विद्यापीठ, के उन प्रमुख विद्वान स्तम्भों में से प्रमुख है, जिनके बिना 'संस्थान' का काम चल ही नहीं सकता है। इसलिये इन दोनों विद्वान महोदयों के प्रति आभार प्रदर्शित करना केवल रस्म अदायगी मात्र ही है।

"ओझा-निबन्ध संग्रह" के सम्पादन ओर प्रकाशन कार्य में 'साहित्य-संस्थान' के 'इतिहास एवं पुरातत्व कार्य' के संयोजक श्री नाथूलालजी व्यास को जितना परिश्रम करना पड़ा है, उतना अन्य किसी को भी नहीं, श्री व्यासजी ने वर्षों तक

स्व० डॉ० गौरीशंकरजी ओझा के पास रहकर उनके काम में हाथ बटाया है, इसलिये श्री ओझाजी की दृष्टि मति को जितनी ये सही रूप में समझ सकते हैं, उतनी शायद ही अन्य कोई समझता हो। 'साहित्य–संस्थान' के इतिहास और पुरातत्व के काम को जमाने का प्रयत्न भी श्री व्यासजी का ही है। अतः उनको उनके परिश्रम के लिये धन्यवाद देकर या आभार प्रदर्शित कर उनकी सेवा के मूल्य को कम करने की मेरी इच्छा नहीं है। श्री व्यासजी का तो यह अपना कार्य ही है।

प्रस्तुत निबन्धों का प्रकाशन काफी समय पूर्व कर दिया जाना चाहिये था, परन्तु संस्थान की अपनी कठिनाइयों के कारण आज से पूर्व नहीं हो सका, और यदि अभी भी राजस्थान विश्व विद्यापीठ के पीठ मन्त्री श्री भगवतीलालजी भट्ट ने राजस्थान सरकार से आवेदन–निवेदन और दौड़ धूप कर प्रकाशन सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया होता तो न जाने कब प्रस्तुत 'निबन्ध–संग्रह' प्रकाशित हो पाता, श्री भट्टजी की प्रेरणा और परिश्रम से ही इसका प्रकाशन सम्भव हो सका है।

अन्त में मैं राजस्थान-सरकार, उसके मंत्री गण तथा शिक्षा-विभाग के अधिकारियों के प्रति आभार प्रदर्शित करना अपना आवश्यक कर्तव्य समझता हूँ, जिन्होंने "ओझा निबन्ध–संग्रह" के प्रकाशन-कार्य के लिये आर्थिक सहायता देकर प्रोत्साहन में पूर्ण सहयोग दिया है। राजस्थान और भारत में ऐतिहासिक अनुसन्धान के लिए काफी गुंजायश और अनिवार्य आवश्यकता है। यदि प्रान्तीय सरकारों का प्रोत्साहन पूर्ण उदार सहयोग निरन्तर मिलता रहे तो इतिहास की महत्वपूर्ण कमी आसानी से दूर की जा सकती है। ऐतिहासिक अनुसंधान के काम गंभीर और गवेषणा पूर्ण तो हैं ही, परन्तु अधिक व्यय और श्रम साध्य भी हैं, इस कारण बिना सरकारी सहायता के ऐसे काम अधिक परिणामकारी नहीं हो सकते हैं। आशा है, राजस्थान सरकार और उसका शिक्षा-सचिवालय ऐसी ऐतिहासिक सामग्री की शोध-खोज और प्रकाशन के लिये आवश्यक सहयोग और सहायता देता रहने में किसी प्रकार के संकोच का अनुभव नहीं करेगा।

साहित्य–संस्थान, राजस्थान विश्व विद्यापीठ के सभी शोध-खोज के विद्वानों

को देख कर अपने समस्त प्रकाशित और अप्रकाशित निबन्ध सम्पादन और प्रकाशन के लिये प्रदान कर दिये थे। स्व० डॉ० ओझाजी भारतीय इतिहासकारों और पुरातत्व वेत्ताओं में प्रमुख और अग्रणी विद्वान थे। राजस्थान की अन्धकाराच्छन्न ऐतिहासिक सामग्री को सर्व प्रथम व्यापक रूप से प्रकाश में लाने का महान श्रेय स्व० डॉ० ओझाजी को ही प्राप्त है। इसी प्रकार भारतीय पुरातत्व के क्षेत्र में भी स्व० डॉ० ओझाजी ने जो महत्वपूर्ण देन दी है; वह कभी भुलाई नहीं जा सकती।

स्व० डॉ० ओझाजी ने वर्षों के परिश्रम से तय्यार किये गये अपने ये निबन्ध जिस आशा और विश्वास के साथ 'साहित्य-संस्थान' को दे दिये थे उसके अनुकूल संस्थान कितना सावित होगा, यह तो भविष्य ही बता सकेगा, लेकिन इतना अवश्य हम यहाँ कह सकते हैं कि "साहित्य-संस्थान" की जो योजना और कल्पना है, यदि साधन-सुविधाओं के साथ विद्वानों का सहयोग जैसा आज मिल रहा है, आगे भी मिलता रहा तो निश्चय ही हम बहुत कुछ कर गुजरने की स्थिति में होंगे। स्व० डॉ० ओझाजी के इन निबन्धों के सम्पादन कार्य में प्रसिद्ध इतिहासज्ञ डॉ० रमाशंकर हेड़ ऑफ दि हिस्ट्री-डिपार्टमेंट, विश्व विद्यालय काशी ने हमारे विभागीय-सम्पादक का मार्ग प्रदर्शन कर जो उपयोगी और महत्वपूर्ण सुझाव दिये, उसके लिये संस्थान की ओर से मैं उनके प्रति आभार प्रदर्शित करना अपना कर्तव्य समझता हूँ। इसी प्रकार महाराज कुमार डॉ० रघुवीरसिंह सीतामऊ और डॉ० दशरथ शर्मा, दिल्ली ने समय समय पर जो महत्वपूर्ण सहायता दी है, उसके लिये मैं उनका आभारी हूं, यद्यपि केवल आभार प्रदर्शित कर उक्त दोनों विद्वान महोदयों की साहित्य-संस्थान के विकास कार्य में की गई और की जा रही सेवा के मूल्य को नहीं आंका जा सकता है, और सच तो यह है कि श्री महाराज कुमार और श्री दशरथजी साहित्य-संस्थान राजस्थान विश्व विद्यापीठ, के उन प्रमुख विद्वान स्तम्भों में से प्रमुख है, जिनके बिना 'संस्थान' का काम चल ही नहीं सकता है। इसलिये इन दोनों विद्वान महोदयों के प्रति आभार प्रदर्शित करना केवल रस्म अदायगी मात्र ही है।

"ओझा-निबन्ध संग्रह" के सम्पादन और प्रकाशन कार्य में 'साहित्य-संस्थान' के 'इतिहास एवं पुरातत्व कार्य' के संयोजक श्री नाथूलालजी व्यास को जितना परिश्रम करना पड़ा है, उतना अन्य किसी को भी नहीं, श्री व्यासजी ने वर्षों तक

स्व० डॉ० गौरीशंकरजी ओझा के पास रहकर उनके काम में हाथ बटाया है, इसलिये श्री ओझाजी की दृष्टि मति को जितनी ये सही रूप में समझ सकते हैं, उतनी शायद ही अन्य कोई समझता हो। 'साहित्य-संस्थान' के इतिहास और पुरातत्व के काम को जमाने का प्रयत्न भी श्री व्यासजी का ही है। अतः उनको उनके परिश्रम के लिये धन्यवाद देकर या आभार प्रदर्शित कर उनकी सेवा के मूल्य को कम करने की मेरी इच्छा नहीं है। श्री व्यासजी का तो यह अपना कार्य ही है।

प्रस्तुत निबन्धों का प्रकाशन काफी समय पूर्व कर दिया जाना चाहिये था, परन्तु संस्थान की अपनी कठिनाइयों के कारण आज से पूर्व नहीं हो सका, और यदि अभी भी राजस्थान विश्व विद्यापीठ के पीठ मन्त्री श्री भगवतीलालजी भट्ट ने राजस्थान सरकार से आवेदन-निवेदन और दौड़ धूप कर प्रकाशन सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया होता तो न जाने कब प्रस्तुत 'निबन्ध-संग्रह' प्रकाशित हो पाता, श्री भट्टजी की प्रेरणा और परिश्रम से ही इसका प्रकाशन सम्भव हो सका है।

अन्त में मैं राजस्थान-सरकार, उसके मंत्री गण तथा शिक्षा-विभाग के अधिकारियों के प्रति आभार प्रदर्शित करना अपना आवश्यक कर्तव्य समझता हूँ, जिन्होंने "ओझा निबन्ध-संग्रह" के प्रकाशन-कार्य के लिये आर्थिक सहायता देकर प्रोत्साहन में पूर्ण सहयोग दिया है। राजस्थान और भारत में ऐतिहासिक अनुसन्धान के लिए काफी गुंजायश और अनिवार्य आवश्यकता है। यदि प्रान्तीय सरकारों का प्रोत्साहन पूर्ण उदार सहयोग निरन्तर मिलता रहे तो इतिहास की महत्वपूर्ण कमी आसानी से दूर की जा सकती है। ऐतिहासिक अनुसंधान के काम गंभीर और गवेषणा पूर्ण तो हैं ही, परन्तु अधिक व्यय और श्रम साध्य भी हैं, इस कारण बिना सरकारी सहायता के ऐसे काम अधिक परिणामकारी नहीं हो सकते हैं। आशा है, राजस्थान सरकार और उसका शिक्षा-सचिवालय ऐसी ऐतिहासिक सामग्री की शोध-खोज और प्रकाशन के लिये आवश्यक सहयोग और सहायता देता रहने में किसी प्रकार के संकोच का अनुभव नहीं करेगा।

साहित्य-संस्थान, राजस्थान विश्व विद्यापीठ के सभी शोध-खोज के विद्वानों

और विचारकों का मैं उनके सहयोग के लिये अत्यन्त आभारी हूं। यह तो उन्हीं का काम है, उन्हीं के लिये है। अतः उन्हें ही करना है।

साहित्य-संस्थान
राजस्थान विश्व विद्यापीठ
उदयपुर [राज०]

गिरिधारीलाल शर्मा
अध्यक्ष
साहित्य-संस्थान

प्राक्कथन

स्वर्गीय विद्या-वाचस्पति श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के समस्त निबन्धों का यह विस्तृत "ओझा-निबन्ध संग्रह" राजस्थान विश्व विद्यापीठ, साहित्य-संस्थान उदयपुर का एक महत्वपूर्ण एवं अनूठा प्रकाशन-साहस है। स्वर्गीय ओझाजी ने अपने स्वर्गवास के पूर्व अपने समस्त निबन्ध 'साहित्य-संस्थान-विश्व विद्यापीठ, उदयपुर को भेंट दे दिये थे, और तभी से इस संग्रह के प्रकाशन की आतुर कामना बनी हुई थी, ओझाजी ने अपने समस्त निबन्ध राजस्थान, विश्व विद्यापीठ उदयपुर को इसलिये दिये थे कि वे इस संस्था को अपने ज्ञान की विरासता के लिये जहाँ पात्र मानते थे, वहाँ उनको इस बात की खुशी थी कि उदयपुर में एक जन-प्रयत्न साध्य विश्व विद्यापीठ की स्थापना तथा विकास किया जा रहा है।

निस्संदेह "ओझा निबन्ध संग्रह" के प्रकाशन में आवश्यकता से अधिक देर हुई है, इसके कई कारण हैं, सबसे बड़ा कारण इसके सम्पादन-क्रम का है, यह उचित ही था कि ओझाजी के समस्त लेखों के सम्पादन में भारत-प्रसिद्ध इतिहास-वेताओं का सहयोग प्राप्त किया जाय। यही अभिलाषा और प्रयत्न इस ग्रन्थ-रत्न के प्रकाशन की देरी का भी कारण बने, यह आभार मानना होगा कि ओझाजी के सुपुत्र श्री रामेश्वरलालजी ने हमारी इस समीचीन कठिनाई का अनुभव किया और आज दिन तक धैर्य रखा।

ओझाजी राजपूताना के इतिहास के एक भीमकाय अग्रणी थे, धुरन्धर तो वे थे ही, परन्तु राजपूताने की ऐतिहासिक संघर्ष-जर्जर मानवता के शताब्दियों तक के घटनाचक्र के एक **व्यासकार** भी थे। राजपूताने के अनेक ख्यात राज्य-वंशों-उसकी बिखरी एवं अनेक रण-भूमियों के ओझाजी विशिष्ट ज्ञाता थे। अद्वितीय इतिहासज्ञ

ओझाजी थे इसमें किसे सन्देह हो सकता है ? इन सबके उपरान्त ओझाजी पन-घटों, मन्दिरों, धर्मशालाओं, खण्डहरों, गढ़ों, किलों और विजन स्थानों के मौन पाषाण शिलालेखों के महान् विद्यार्थी थे, भारत की प्राचीन लिपियाँ अपने सहज ही अन-जान अर्थ उनके सामने मानों स्वयं खोल कर रख देती थी, ताम्रपत्र, पट्टे-परवाने और रेकार्ड ओझाजी के लिये सहज पाठ्य थे। सच तो यह है कि इतिहास की प्रत्येक प्रकार की सामग्री ओझाजी की शिष्य थी। आचार्य गौरीशंकर ओझा अपने इसी विशाल ज्ञान के कारण इतिहास का एक मानव-पर्यायवाची हो गये हैं।

यह सही है कि ओझाजी ने एक अग्रदूत की भाँति इतिहास का प्रणयन किया है। वंशावलियों, घटना क्रमों और अन्य ऐतिहासिक सामग्रियों के आधार पर राजपूताने के राज्य-वंशों को सामने रख कर उस मतिमान ने राजपूताने के इतिहास का शिवाला खड़ा किया है। परन्तु यह ओझा निबन्ध संग्रह प्रमाणित कर देगा कि ओझाजी ने भारतीय इतिहास की प्राचीन पग-डण्डियों, खंडहरों, ताम्र पत्रों, और उनके विवादास्पद इतिहास-प्रसंगों एवं व्यक्तियों को अछूता नहीं छोड़ा है, परोन्नतः ओझा ने भारतीय प्राचीन एवं मध्यकालीन इतिहास की कई मार्ग दिशाऐं खोली हैं, तथा कई प्रश्नों का उत्तर दिया है, एवं कई कसोटियाँ ओर प्रसंग कायम किये हैं। ओझा निबन्ध संग्रह के विषयों पर दृष्टिपात करते ही ऐसा प्रतीत होता है कि सूक्ष्म किन्तु विशाल इतिहास-नयन प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय अतीत को एकाग्र होकर देख रहा है। रोमाञ्च और प्रेरणा इन लेखों से मिलती है. और भारतवर्ष की अतीत शताब्दियाँ अपने अनूठे और अचूक व्यक्तियों को हमें आज वर्तमान में. जीवन के चित्रों की भाँति भेंट देती है।

ओझा हमारे इतिहास का महान् ब्रह्मचारी है. और यही "ओझा-निबन्ध-संग्रह" का महत्व है।

राजस्थान विश्व विद्यापीठ
पीठस्थविर अधिकरण
उदयपुर [राज०]

जनार्दनराय नागर
पीठस्थविर

प्रस्तावना

[श्री डॉ० दशरथ शर्मा एम० ए०, डी० लिट्]

गुरुवर श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के निबन्ध संग्रह के लिए किसी विशेष प्रस्तावना की आवश्यकता न होते हुए भी मैं दो चार शब्द लिख कर साहित्य संस्थान के अध्यक्षजी के आदेश का पालन कर रहा हूँ। ओझाजी के नाम से हिन्दी साहित्य और भारतीय इतिहास का प्रत्येक विद्यार्थी परिचित है। जब विद्वानों के क्षेत्र में हिन्दी की इस समय से कहीं कम पूछ थी, ओझाजी ने अपने ग्रन्थों को हिन्दी में लिखने का निश्चय कर अपनी दूरदर्शिता और देश भक्ति का परिचय दिया था। हिन्दी साहित्य के अनेक अङ्गों की श्रीवृद्धि इस महान् निश्चय का आनुसङ्गिक फल है।

निबन्ध संग्रह के दूसरे भाग में दो प्रकरण हैं। मुख्यतः पहले में हिन्दी साहित्य के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाले निबन्धों को रखा गया है। इनकी विचार विमर्शमयी शैली हिन्दी के लिये किसी समय नयी वस्तु थी। कई पुरानी स्थापनाओं का ओझाजी ने खण्डन किया किन्तु इनकी भाषा में न कभी अशिष्टता आई और न इन्होंने पूर्व पक्षको विपरीत रूप देने का प्रयत्न किया। सत्य की गवेषणा आपका मुख्य ध्येय था। सत्य को आवृत और विक्षिप्त करने वाली स्थापनाओं से आपकी सत्य प्रणयिनी कुशाग्र बुद्धि को स्वभावतः कुछ क्लेश रहा होगा। संग्रह में 'अनन्द विक्रम सम्वत् की कल्पना' नाम का प्रबन्ध सर्व प्रथम रखा गया है। पण्ड्याजी ने रासो के सम्वतों को असंगत देखकर उनकी संगति बैठाने का किस तरह अनेक रूप से प्रयास किया, इसकी रोचक कथा ओझाजी के निबन्ध में वर्तमान है। यह सम्भव है कि ओझाजी स्वयं कुछ बातों को ध्यान में रख न सके हों, या समन्वयात्मक दृष्टि से देखने पर वे उसे कुछ अन्य रूप देते, किन्तु जिस रूप में भी निबन्ध हमारे सामने

उपस्थित है, यह ऐतिह्य के विमर्श और हिन्दी की शुद्ध खण्डन मण्डनात्मक शैली का अच्छा नमूना है।

दूसरा प्रबन्ध पृथ्वीराज रासो का निर्माण काल 'पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। हिन्दी साहित्य के छोटे से छोटे इतिहासों में भी इसका सारांश प्रस्तुत रहता है। अपने वर्तमान रूप में 'पृथ्वीराज रासो' इतिहास का ग्रंथ नहीं है। इस-में अनेक अनैतिहासिक बातों की भरमार है, संसार को यह बताने का श्रेय कविराज श्री श्यामलदासजी और ओझाजी को है। 'रासो' के आधार पर खड़ी की गई अनेक भ्रान्तियाँ इस लेख के अभाव में ऐतिहासिक संसार को चिरकाल तक सत्य के मार्ग से भ्रष्ट करती रहतीं। अब हम अग्निवंश की उत्पत्ति के विषय में पुनः विचार करने के लिए बाध्य हैं। चौहानों और प्रतिहारों का सूर्यवंशी के रूप में और चौलुक्यों का अनेक प्राचीन शिलालेखों और ग्रंथों में चन्द्रवंशों के रूप में उल्लेख ऐसी बातें नहीं हैं, जिन्हें हम रासो के आधार पर अशुद्ध समझ सकें। इसी प्रकार वर्तमान रासो की वंशावली अपनी अस्त व्यस्त अवस्था में प्रामाणिक नहीं कही जा सकती। पृथ्वीराज की माता को भी ओझाजी के निर्देशानुसार अब हम त्रिपुरीश अचलराज की पुत्री ही मान सकते हैं, अनंगपाल की नहीं। भीमदेव चौलुक्य के हाथ सोमेश्वर की मृत्यु भी न हुई होगी। भीमदेव संवत् १२३५ में गद्दी पर बैठा; सोमेश्वर की मृत्यु १२३४ में हो चुकी थी। वर्ला के लेखानुसार चैत्र, संवत् १२३४ में पृथ्वीराज गद्दी पर विराजमान था। पृथ्वीराज के कुछ विवाह भी कल्पित हो सकते हैं। संवतों में भी इधर उधर गड़बड़ है। घटनाक्रमों को भी सर्वथा ठीक नहीं कहा जा सकता।

इन सब तथ्यों का समुचित रूप से निर्देश इस लेख की विशेषता है, किन्तु जिस समय यह लेख प्रकाशित हुआ, रासो का केवल एक रूपान्तर ज्ञात था। अब पाँच रूपान्तर हमें प्राप्त हैं और पुरातन प्रबन्ध संग्रह में उद्धृत अपभ्रंश के उद्धरणों से यह भी अनुमान होता है कि (रासो) किसी समय अपभ्रंश काव्य के रूप में वर्तमान रहा होगा। रासो का उस समय समुचित अध्ययन भी न हुआ था। उसका अर्थ या अनर्थ करने के लिये केवल 'रासो सार' ही प्राप्त था। इन्हीं कारणों से ओझाजी की सब युक्तियां अब सर्वमान्य नहीं रही हैं। अनेक प्रमाणों के आधार पर कम से कम मेरे जैसे अनेक व्यक्ति संयोगिता के अस्तित्व को स्वीकार करने लगे हैं। अनेक स्थलों पर अर्थ का अनर्थ करने से किस प्रकार भ्रान्तियां उत्पन्न

हुई हैं इसका दिग्दर्शन भी अनेक विद्वानों ने किया है। रासो पर कुछ विवेचनात्मक पुस्तकें भी पिछले तीन चार साल में प्रकाशित हुई हैं। इस तमाम नवीन सामग्री और रासो के पाँचों रूपान्तरों के आधार पर इस विषय का नये सिरे से मूल्याङ्कन आवश्यक है।

संग्रह का तीसरा लेख विमल प्रबन्ध और विमल पर है। इसमें अनेक कल्पित कथाओं का निराकरण करते हुए ओझाजी ने शिलालेखादि के आधार पर आबू के प्रसिद्ध जैन मन्दिर विमल वसही के निर्माता दण्डनायक विमल की सच्ची जीवनी दी है। शिल्पकला की दृष्टि से विमल वसही आबू का सबसे सुन्दर मन्दिर है। सैन्य सञ्चालन में भी यह वस्तुपाल से शायद कुछ बढ़ कर ही रहा हो, किन्तु वस्तुपाल स्वयं कवि और कवियों का आश्रयदाता था, इसी कारण से उसे विमल से कहीं अधिक ख्याति मिली।

'बीसल दे रासो' का निर्माण काल ओझाजी ने संवत् १२७२ निश्चित किया है। किन्तु इसमें अनेक विद्वानों को कुछ सन्देह है। जिन उदाहरणों को स्वयं ओझाजी ने पृष्ठ १५२ पर प्रस्तुत किया हैं उनसे मिलान करने पर भी 'बीसल दे रासो' की भाषा पर्याप्त नवीन ठहरती है। इसे कुछ पुरानी ढूढाड़ी माने तो सम्भवतः अनुपयुक्त न हो। घटनावली इतिहास की दृष्टि से अधिकांश में असंगत है। देवड़े, सोनिगरे, बून्दी के हाड़े आदि कुछ राजपूत जातियां संवत् १२७२ में उपस्थित या इतनी प्रसिद्ध भी न थीं कि उनका वर्णन काव्य में किया जा सके। वर्णित नगरों में भी उस समय कई वर्तमान न थे। ओझाजी की यह स्थापना भी कि विग्रहराज तृतीय ने भोज की पुत्री राजमती से विवाह किया कुछ संदेहास्पद है। भोज का समकालीन चौहान राजा वीर्यराम था। उसके बाद उसका छोटा भाई चामुण्डराज गद्दी पर बैठा। चामुण्डराज का पुत्र दुर्लभराज मुसलमानों से लड़ता हुआ मारा गया। इसका छोटा भाई विग्रहराज परमार राजा उदयादित्य का समकालीन था। उसने उदयादित्य को गुजरात के कर्ण के विरुद्ध सहायता दी। इसलिये वह सम्वत् ११२० से ११५० के बीच में वर्तमान रहा होगा। भोज अपनी मृत्यु के समय ४५ वर्ष तक राज्य कर चुका था। इसलिये संवत् १११२ में वह काफी वृद्ध रहा होगा, सवत् ११२० के बाद भी उसकी कोई ऐसी नव वयस्क पुत्री वर्तमान थी या नहीं – जो विग्रहराज तृतीय से विवाह कर सके? शायद उदयादित्य को ही विग्रहराज का श्वसुर मानने

से कुछ दोष का परिहार हो सके। नाल्ह जैसे परवर्ती कवि के लिये भोज के बन्धु उदयादित्य को ही भोज मान लेना कोई बड़ी बात नहीं है। किन्तु यह भी केवल अनुमान मात्र है। बीसलदेरासो के समय के निर्धारण के लिये अभी उसके समुचित सम्पादन की आवश्यकता है।

संग्रह के पाँचवें लेख में कवि जटमल रचित गोरा बादल की बात का सारांश और उसका जायसी के पद्मावत से तुलनात्मक अध्ययन है। ओझाजी का अनुमान है कि पद्मिनी सभवतः सिंगोली के जागीरदार की पुत्री रही हो। यह असम्भव तो नहीं है, किन्तु यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि पद्मावती की कथा पद्मावत से कहीं प्राचीन है। उसका पर्याप्त प्राचीन स्वरूप हम कल्कि पुराण में देख सकते हैं। उसमें भी पद्मावती सिंहलदेश की राजकुमारी है, नायक उत्तर देशीय है और हीरामन का स्थान सर्वर तोते ने लिया है।

जटमल अच्छा कवि था। और उसके अनेक अन्य ग्रन्थ भी सूचित या प्रकाशित हो चुके हैं। श्री अगरचन्द नाहटा ने इसका जटमल ग्रन्थावली के रूप में सम्पादन किया है।

संग्रह के दूसरे प्रकरण में इतिहास और पुरातत्व के लेख संग्रहीत है। यह ओझाजी का निजी विषय था, और इन की सामग्री प्रायः इतनी ठोस है कि उस पर अँगुली तक उठाना कठिन है।

इस प्रकरण के पहले लेख में ओझाजी ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि वि० सं० १५०० और उसके पीछे तक राणियों के जो नाम ख्यातों में दिये हुए हैं, वे बहुत विश्वास योग्य नहीं है।

दूसरा लेख भीमदेव के दानपत्र के विषय में है। इसके संवत् ९३ को सह संवत् मान कर डॉ० फ्लीट ने अनुमान किया था कि वह चौलुक्य राज्य भीमदेव द्वितीय का दानपत्र है। ओझाजी ने भीमदेव प्रथम के प्रकाशित दानपत्रों के बल पर सिद्ध किया है कि यह दानपत्र वास्तव में भीमदेव प्रथम का है और उसका सम्वत् ९३ वास्तव में विक्रम सम्वत् १०९३ है।

तीसरे लेख में श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव के आक्षेपों का उत्तर देते हुए पुनः यह स्थापना कीगई है कि दानपत्र का समय वि० स० १०९३ था।

चौथा लेख चित्तौड़ के किले पर गुजरात के सोलंकी राजाओं के अधिकार के विषय में है। इसकी दूसरी पंक्ति में वि० सं० १२०७ के स्थान पर गलती से सं० ११०७ छप गया है। कुमारपाल ने सज्जन को चित्तौड़ का दण्डनायक बनाया। इसके नायक का उल्लेख केवल जैन ग्रंथों में ही नहीं,स्वयं चित्तौड़ के एक शिलालेख में भी वर्तमान है। शाकम्भरी और अजमेर के अधिश्वर और कुमार पाल के प्रबल शत्रु विग्रह राज चतुर्थ के हाथों सज्जन की मृत्यु हुई। चौहानों ने उसके सब हाथी हस्तगत किये और मेवाड़ के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया। उसके पुत्र अमर-गाङ्गेय को हटा कर पृथ्वीराज द्वितीय जब गद्दी पर बैठा तो उसने गुहिल वंश से सम्भवतः मैत्री की। पृथ्वीराज द्वितीय के उतराधिकारी सोमेश्वर और गुहिलराज सामन्तसिंह को सोलंकी अजयपाल से युद्ध करना पड़ा, जिससे भी गुहिलों और चौहानों की तत्कालीन मैत्री सिद्ध होती है। कुछ समय के बाद मेवाड़ में घरेलू झगड़ों के कारण सोलंकियों को चित्तौड़ पर अपना अधिकार जमाने का अवसर मिला।

ओझाजी ने यशोवर्मा के राज्य तक परमारों को चित्तौड़ का स्वामी माना है, सो भी प्रायः निश्चित है। जिनपाल रचित खरतरगच्छ पट्टावली से सिद्ध है कि परमार राजा नरवर्मा के समय चित्तौड़ उसके अधिकार में था। यशोवर्मा, नरवर्मा का उतराधिकारी था।

चित्तौड़ पुनः कब स्वतन्त्र हुआ, यह एक विचारणीय प्रश्न है। ओझाजी ने सामन्तसिंह तक ही अपने विमर्श की समाप्ति कर इसका पूरा उतर नहीं दिया है किन्तु 'हम्मीर मद मर्दन', 'सुकृत संकीर्तन' ओर कीर्तिकौमुदी के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि सोलंकी भीमदेव द्वितीय के राज्य काल में ही मेवाड़ फिर स्वतंत्र हो गया। इल्तुतमिश (सन् १२११–१२३६) ने जब मेवाड़ पर आक्रमण किया, उस समय वह स्वतन्त्र राज्य के रूप में था।

द्वितीय प्रकरण का पांचवां लेख चौलुक्य राजा भीमदेव द्वितीय के सामन्त महाराजाधिराज अमृतपालदेव के सं० १२४२ के दानपत्र के विषय में है। यह मेवाड़ और डूंगरपुर राज्यो के इतिहासों के लिये विशेप उपयोगी है। इससे सिद्ध है कि मेवाड़ का राज्य खो देने पर कुछ समय के बाद सामन्तसिंह को अपना नया राज्य डूंगरपुर भी छोड़ना पड़ा और भीमदेव चोलुक्य ने कुछ समय के लिये वहां अपना अधिकार कर लिया। अमृतपालदेव इसी का सामन्त था। गुहिल सामन्तसिंह को हम पृथ्वीराज तृतीय का मित्र माने तो इस दान पत्र से सिद्ध है कि यह मैत्री भीमदेव द्वितीय के विरुद्ध कुछ विशेष कार्य कर सिद्ध न हुई। संवत् १२४४

से पूर्व भीमदेव द्वितीय और पृथ्वीराज तृतीय की, कुछ समय के संघर्ष के बाद सन्धि हो चुकी थी। शायद इस संघर्ष का मेवाड़ और वागड़ के राज्यों से भी कुछ संबन्ध रहा हो।

छठे लेख में ओझाजी ने राज्याभिषेक के समय पृथ्वीराज चौहान की अवस्था का विचार किया है। अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध है कि पृथ्वीराज ने उस समय तक शैशवावस्था पार न की थी। खरतरगच्छ पट्टावली भी जो वास्तव में सम सामयिक ग्रन्थ है (यद्यपि ओझाजी उसे ऐसा नहीं मानते) कहीं इस बात का निर्देश नहीं करती कि पृथ्वीराज की आयु संवत् १२३९ में कुछ बहुत बड़ी थी। पृथ्वीराज ने या यों कहिये उसकी सेना और मन्त्रि मण्डल ने उस समय से कुछ पूर्व भद्दापक देश पर विजय प्राप्त की थी। भद्दापक की स्थिति कुछ संदिग्ध है। राजशेखर के अवतरणों से केवल हमें इतना ज्ञात है कि टक्कों और मरुदेशियों की तरह ये अपभ्रंश भाषी थे। पृथ्वीराज तृतीय के समय अजमेर, नागोर, हांसी, सरसा, दिल्ली आदि चौहानों के हाथ में थे। भद्दापक देश की स्थिति इनसे सूचित प्रान्त से बाहर रही होगी।

सातवां लेख राठौड़ों और गहरवारों के विषय में है। ओझाजी ने सुपुष्ट प्रमाणों द्वारा इन दो राजपूत वंशों की भिन्नता सिद्ध की है। काठियावाड़ के गोहिल नाम का प्रबन्ध ओझाजी के उदयपुर के इतिहास में भी प्रकाशित हो चुका है। ये गोहिल वास्तव में मेवाड़ के गुहिल वंशी शालिवाहन के वंशज हैं और सूर्यवंशी हैं।

नवम लेख, एक परमार वंशीय दानपत्र के विषय में है। यह इतिहास के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके बिना आबू के परमारों का इतिहास बहुत कुछ अपूर्ण था। 'राजस्थान क्षितिज' जैसे कम प्रचार के पत्र में प्रकाशित होने के कारण यह लेख अब तक पूरी ख्याति न प्राप्त कर सका है।

श्री ओझा निबन्ध संग्रह के जो लेख मुद्रित होकर मेरे पास पहुँच चुके हैं मैंने सामान्यतः उनका निर्देश और कुछ मूल्यांकन किया है। संग्रह के कुछ टिप्पण मैं इसके प्रकाशन से पूर्व देख चुका हूँ। कुछ परिवर्तन भी यत्र तत्र मैंने किये हैं। सम्पादन-कार्य अधिकांश में मेरे परम श्रद्धेय मित्र और गुरुवर श्री ओझाजी के पुराने सहकारी श्री नाथूलालजी व्यास ने किया है। मेरा यह सौभाग्य है कि साहित्य-संस्थान राजस्थान विश्व विद्यापीठ, उदयपुर ने मुझे भी इस पुनीत कार्य में कुछ सहयोग देने का अवसर प्रदान किया है। स्वास्थ्याभाव और अवकाशाभाव से मैं कुछ विशेष न कर सका, इसका मुझे खेद है।

———

विषय सूचि

(द्वितीय भाग)

पृष्ठ संख्या

पहला प्रकरण—साहित्य

दूसरा प्रकरण—इतिहास और पुरातत्त्व

तीसरा प्रकरण—विविध

———

स्व० महामहोपाध्याय डॉ० श्री गौरीशङ्कर ओझा

ओझा निबन्ध संग्रह

दूसरा भाग

पहला प्रकरण-साहित्य

१ अनंद विक्रम संवत् की कल्पना

उदयपुर के कविराजा श्यामलदासजी ने मेवाड़ का इतिहास 'वीरविनोद' लिखते समय 'पृथ्वीराजरासे' की ऐतिहासिक दृष्टि से छान-बीन की। जब उन्होंने उसमें दिए हुए संवतों तथा कई घटनाओं को अशुद्ध पाया, तब उन्होंने उसको उतना प्राचीन न माना, जितना कि लोग उसको मानते चले आते थे। फिर ईस्वी सन् १८८६ में उन्होंने उसकी नवीनता के संबंध में एक बड़ा लेख एशिआटिक सोसाइटी, बंगाल, के जर्नल (पत्रिका)[1] में छपवाया और उसी का आशय हिंदी में भी 'पृथ्वीराज रहस्य की नवीनता' के नाम से पुस्तकाकार प्रसिद्ध किया, जिससे पृथ्वीराजरासे के संबंध में एक नई चर्चा खड़ी होगई। पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने उसके विरुद्ध 'पृथ्वीराजरासे की प्रथम संरक्षा' नामक छोटीसी पुस्तक ई० सं० १८८७ के प्रारंभ में छापी, जिसमें 'पृथ्वीराजरासे' के कर्ता चंदबरदाई का प्रसिद्ध चौहान राजा पृथ्वीराज के समय में होना सिद्ध करने की बहुत कुछ चेष्टा, जिस तरह बन सकी, की, फिर उसी का अँग्रेजी अनुवाद एशिआटिक सोसाइटी बंगाल के पास भेजा, परन्तु उक्त सोसाइटी ने उसे अपने जर्नल के योग्य न समझा और उसको उसमें स्थान न दिया। इस पर पंड्याजी ने उसे स्वतंत्र पुस्तकाकार छपवा कर वितरण किया। उस समय तक पंड्याजी और राजपूताना आदि के विद्वानों में से किसी ने भी अनंद विक्रम संवत् का नाम तक नहीं सुना था।

---

१ बं० ए० सो० ज० ई० स० १८८६, हिस्सा तीसरा, पृ० ५-६५।

'पृथ्वीराजरासे' में घटनाओं के जो संवत् दिए हैं, वे अशुद्ध हैं, यह बात कर्नल टॉड को मालूम थी, क्योंकि उन्होंने लिखा है कि—"हाड़ाओं (चौहानों की एक शाखा) की ख्याति में [अष्टपाल] का संवत् ६८१ मिलता है ('कर्नल टॉड ने १०८१ माना है) परन्तु किसी आश्चर्य जनक, तो भी एक सी, भूल के कारण सब चौहान जातियाँ अपने इतिहासों में १०० वर्ष पहले के संवत् लिखती हैं, जैसे कि वीसलदेव के अनहिलपुर पाटन लेने का संवत् १०८६ के स्थान पर ९८६ दिया है। परन्तु इससे पृथ्वीराज के कवि चंद ने भी भूल खाई है और पृथ्वीराज का जन्म संवत १२१५ के स्थान में १११५ होना लिखा है; और सब तरह संभव है कि यह अशुद्धि किसी कवि की अज्ञानता से हुई है [२]"।

पंड्याजी ने कर्नल टॉड का यह कथन अपनी 'पृथ्वीराजरासे की प्रथम संरक्षा' में उद्धृत किया[३] और आगे चल कर उसकी पुष्टि में लिखा कि—"भाट और बड़वा लोग जो संवत् अपने लेखों में लिखते हैं, उसमें और शास्त्रीय संवतों में सौ १०० वर्ष का अन्तर है। अब मैं यह विदित करूंगा कि मैं किस तरह इन बड़वा भाटों के संवत् से परिज्ञात हुआ।......इस ग्रंथ (पृथ्वीराजरासे) को राजपूताने में सर्व-प्रिय और सर्वमान्य देख कर मुझे भी उसके क्रमशः पढ़ने और उसकी उत्तमता की परीक्षा करने की उत्कंठा हुई। जब कि मैं कोटे में था, मैंने उसका थोड़ा सा भाग, उस राज्य के उन प्रसिद्ध कविराज चंडीदानजी से पढ़ा कि जिनके बराबर आज भी कोई चारण संस्कृत भाषा का विद्वान् नहीं है। उसके पढ़ते ही मेरे अंतःकरण में एक नया प्रकाश हुआ और रासा मेरे मन के आकर्षण का केंद्र हुआ और मेरे मन के सब संदेह मिट गये। तदनन्तर बूंदी और अन्य स्थलों के चारण और भाट कवियों के आगे उन में लिखे संवतों के विषय में उन कविराजजी से मेरा एक बड़ा वाद हुआ। उसका सारांश यह हुआ कि चंडीदानजी ने सप्रमाण यह सिद्ध किया कि जब विक्रमी संवत प्रारंभ हुआ था, तब वह संवत् नहीं कहलाता था, किंतु शक कहलाता था, परन्तु जब शालीवाहन ने विक्रम को बँधुआ करके मार डाला और अपना संवत चलाना और स्थापन करना चाहा, तब

---

२ टॉड राजस्थान (कलकत्ते का छपा, अंग्रेजी), जि० २, पृ० ५०० टिप्पण।

३ पृथ्वीराजरासे की प्रथम संरक्षा, पृ० २०।

सर्व साधारण प्रजा में बड़ा कोलाहल हुआ। शालिवाहन ने अपने संवत् के चलाने का दृढ़ प्रयत्न किया, परन्तु जब उसने यह देखा कि विक्रम के शक को बंद करके मेरा शक नहीं चलेगा, क्योंकि प्रजा उसका पक्ष नहीं छोड़ती और विक्रम को वचन भी दे दिया है अर्थात् जब विक्रम बंदीगृह में था; तब उससे कहा गया था कि जो तू चाहता हो वह मांग कि उसने यह याचना किया कि मेरा शक सर्व साधारण प्रजा के व्यवहार में से बंद न किया जावे।......

"तदनंतर शालिवाहन ने आज्ञा किया कि उसका संवत् तो "शक" करके और विक्रम का "संवत्" करके व्यवहार में प्रचलित रहैं। पंडित और ज्योतिषियों नें तो जो आज्ञा दियी गई थी उसे स्वीकार कियी; परंतु विक्रम के याचकों अर्थात् आज जो चारण भाट राव और बड़वा आदि नाम से प्रसिद्ध हैं, उनके पुरुषाओं ने इस बात को अस्वीकार करके विक्रम की मृत्यु के दिन से अपना एक पृथक् **विक्रमी शक** माना। इन दोनों संवतों में सौ १०० वर्षों का अन्तर है। **शालिवाहन के शक और शास्त्रीय विक्रमी** संवत् में १३५ वर्षों का अंतर है। इन दोनों के अन्तरों में जो अन्तर हैं, उसका कारण यह है कि भाट और वंशावली लिखने वालों ने विक्रम की सब वय केवल १०० सौ वर्ष की ही मानी है। यह लोग यह नहीं मानते कि विक्रम ने १३५ वर्ष राज्य किया और न उसके राजगद्दी पर बैठने के पहिले भी कुछ वय का होना जो संभव है, वह मानते हैं। इस प्रकार विक्रम के उस समय से दो संवत प्रारंभ हुवे, उनमें से जो पंडित और ज्योतिषियों ने स्वीकार किया वह "शास्त्रीय विक्रमी संवत" कहलाया और दूसरा जो भाटों और वंश लिखने वालों ने माना वह "भाटों का संवत्" करके कहलाया। आदि में ही इस तरह का मतान्तर होगया और दो थोक इतने शीघ्र उत्पन्न हो गये। भाटों ने अपने शक का प्रयोग अपने लेखों में किया। यह भाटों का शक दिल्ली और अजमेर के अंतिम चौहान बादशाह के राज्य समय तक कुछ अच्छा प्रचार को प्राप्त रहा और उसका शास्त्रीय **विक्रमी संवत्** से जो अन्तर है, उसका कारण भी उस समय तक कुछ लोगों को परिज्ञात रहा। तदनन्तर इसका प्रचार तो प्रति दिन घटता गया और शास्त्रीय विक्रमी संवत् का ऐसा बढ़ता गया कि आज इसका नाम सुनते ही लोग आश्चर्य सा करते हैं। इस भाटों के शक का दूसरे राजपूतों के इतिहास में प्रवेश होने की अपेक्षा चौहान शाखा के राजपूतों

में अधिक प्रयोग होना देखने में आता है। यदि हम रासे में लिखे संवतों को भाटों के विक्रमी शक के नियमानुसार परीक्षा करें तो सौ १०० वर्ष के एक से अन्तर के हिसाब से वह शास्त्रीय विक्रमी संवत् से बराबर मिल जाते हैं और जो हम रासे के बनने के पहले और पिछले संवतों को भी इसी प्रकार से जांचें तो हम हमारी उक्ति की सत्यता के विषय में तुरन्त स्पष्ट हो जाते हैं। जैसे उदाहरण के लिये देखो कि हाडा राजपुत्रों की वंशावली लिखने वाले हाड़ाओं के मूल पुरुष आस्थिपाल जी का असेर प्राप्त करने का संवत् ६८२ (१०८१) और बीसलदेवजी का अनहलपुर पट्टन प्राप्त करने का सं० ६८६ (१०८६) वर्णन करते हैं। भाटों का यह एक अपना पृथ क् शक मानना सत्य और योग्य है; क्योंकि किसी का नाम वंशावली में मृत्यु होने पर ही लिखा जाता है [४]"।

इस प्रकार पंड्याजी ने कर्नल टॉड की बताई हुई चौहानों के इतिहासों (ख्यातों) और रासे में १०० वर्ष की अशुद्धि पर से विक्रम का एक नया संवत् खड़ा कर दिया, जिसका नाम उन्होंने 'भाटों का संवत्' या 'भटायत संवत्' रक्खा और साथ में यह भी मान लिया कि उसमें १०० वर्ष जोड़ने से शास्त्रीय विक्रम संवत् ठीक मिल जाता है। इस संबंध में विक्रम की आयु १३५ वर्ष की होने, शालिवाहन के विक्रम को बंदी करने आदि की कल्पनाएँ अपना खंडन अपने आप करती हैं। पृथ्वीराजरासे और चौहानों की ख्यातों में जो थोड़े से संवत् मिलते हैं, वे शुद्ध हैं या नहीं, इसकी जाँच के साधन उस समय जैसे चाहिएँ वैसे उपस्थित न होने के कारण पंड्याजी को उक्त कथन में विशेष आपत्ति मालूम नहीं हुई; परंतु एक आपत्ति उनके लिए अवश्य उपस्थित थी, जो पृथ्वीराजजी की मृत्यु का संवत् था। चौहानों की ख्यातों और पृथ्वीराजरासे में तो उनकी मृत्यु का शुद्ध संवत नहीं मिलता; परन्तु मुसलमानों की लिखी हुई तवारीखों से यह निर्णय हो चुका था कि तराइन की लड़ाई, जिसमें पृथ्वीराज की शहाबुद्दीन गोरी से हार हुई और वे क़ैद होकर मारे गए, हिजरी सन ५८७ (वि० सं० १२४८-४६) में हुई थी। पृथ्वीराजरासे में पृथ्वीराज का जन्म सं० १११५ में होना और ४३ वर्ष की उम्र

---

४ वही, पृ० ४३-४५। अवतरण में पंड्याजी की लेखन शैली ज्यों की त्यों रक्खी है, जो पद मोटे अक्षरों में हैं उनके नीचे पंड्याजी की पुस्तक में रेखा खिंची हुई है।

पाना लिखा है। यदि पंड्याजी के कथन के अनुसार इस संवत् १११५ को भटायत संवत् मानें तो उनका देहान्त वि० सं० (१००+१११५+४३) १२५८ में होना मानना पड़ता है। यह संवत् उनके देहान्त के ठीक संवत् (१२४८-४६) से ६ या १० वर्ष पीछे आता है। इस अन्तर को मिटाने के लिये पंड्याजी को पृथ्वीराज रासे के पृथ्वीराज का जन्म संवत् सूचित करने वाले दोहे के 'एकादस सै पंचदह' पद में आए पंचदह (पंचदश) शब्द का अर्थ 'पाँच,' करने की खैंचतान में 'दह' (दश) शब्द का अर्थ 'दस' न कर 'शून्य' करने की आवश्यकता हुई और उसके सम्बन्ध में यह लिखना पड़ा कि "हमारे इस कहने की सत्यता के विषय में कोई यह शंका करे कि "दश" से शून्य का क्यों ग्रहण किया जाता है। तो उसके उत्तर में हम कहते हैं कि यहाँ "दश" शब्द के यह दोनों (दस और शून्य) अर्थ हो सकते हैं और इन दोनों में से किसी एक अर्थ का प्रयोग करना कवि के अधिकार की बात है[५]"। 'दस' का अर्थ 'शून्य' होता है वा नहीं इसका निर्णय करना हम इस समय तो पाठकों के विचार पर ही छोड़ते हैं। यहाँ पंड्याजी की प्रथम संरक्षा का, जिसकी भूमिका ता० १-१-१८८७ ई० को लिखी गई थी, शोध समाप्त हुआ और तारीख तक तो 'अनन्द विक्रम संवत्' की कल्पना का प्रादुर्भाव भी नहीं हुआ था।

पृथ्वीराजरासे की प्रथम संरक्षा छपवा कर उसी साल (ई० सं०१८८७ में) पंड्याजी ने 'पृथ्वीराजरासे' का आदि पर्व छपवाना प्रारम्भ किया। ऊपर हम लिख चुके हैं कि पृथ्वीराजरासे और चौहानों की ख्यातों में दिए हुए संवतों में से केवल पृथ्वीराज की मृत्यु का निश्चित संवत फ़ारसी तवारीखों से पहले मालूम हुआ था। उसमें भी रासे के उक्त संवत् को पंड्याजी के कथनानुसार भटायत संवत मानने पर भी ६-१० वर्ष का अन्तर रह जाता है। इसी से पंड्याजी को 'दह' (दश) का अर्थ 'शून्य' और 'पंचदह' (पंचदश) का 'पाँच' मानना पड़ा, जो उनको भी खटकता था। ई० सं० १८८८ के एप्रिल महीने में पंड्याजी से पहली बार मेरा मिलना उदयपुर में हुआ। उस समय मैंने उनसे 'पंचदह' (पंचदश) का अर्थ पाँच करने के लिये प्रमाण बतलाने की प्रार्थना की, जिस पर उन्होंने यही उत्तर दिया कि 'चंद के गूढ आशय को समझने वाले विरले ही चारण

---

५ वही, पृ० ४६-४७

भाट रह गए हैं, तुम लोगों को ऐसे गूढ़ार्थ समझाने के लिये समय चाहिए, कभी समय मिलने पर मैं तुम्हें यह अच्छी तरह समझाऊँगा।' इस उत्तर से न तो मुझे संतोष हुआ और न पंड्याजी की खटक मिटी। फिर पंड्याजी को 'पंचदह' का अर्थ 'पाँच' न कर किसी और तरह से उक्त संगति मिलाने की आवश्यकता हुई। रासे में दिए पृथ्वीराज के जन्म सम्बन्धी दोहे—

एकादस सै पंचदह, विक्रम साक अनंद ।
तिहिं रिपु जय पुर हरन कौं, भय प्रिथिराज नरिंद ॥

में अनंद शब्द देख कर उस पर की टिप्पणी में उन्होंने 'नंद' का अर्थ 'नव', 'अनंद' का नव रहित, और उस पर से फिर 'नव रहित सौ' कर पृथ्वीराज के जन्म सम्बन्धी रासे के संवत् में जो ९-१० वर्ष का अन्तर आता था, उसको मिटाने का यत्न किया और टिप्पण में लिखा कि—

"अब आप चंद की संवत सम्बन्धी कठिनता को इस प्रकार समझने का प्रयत्न करें कि प्रथम तो रूपक ३५५ (एकादस सै पंचदह०) को बहुत ध्यान देकर पढ़ें। तदनंतर उसका अन्वय कर के यह तुर्थ करें कि (एकादस सै पंचदह) ग्यारह से पंद्रह (अनंद विक्रम साक अथवा विक्रम अनन्द साक) अनन्द विक्रम का साक अथवा विक्रम का अनन्द साक (तिहि) कि जिसमें (रिपुजय शत्रुओं को विजय करने (पुर हरन) और नगर अथवा देशान्तरों को हरन करने (कौं) को (प्रिथिराज नरिंद) पृथ्वीराज नामक नरेंद्र (भय) उत्पन्न हुए।"

"तदनन्तर इसके प्रत्येक शब्द और वाक्य खंड पर सूक्ष्म दृष्टि देकर अन्वेषण करें कि उसमें चंद की (Archaic style) प्राचीन गूढ़ भाषा होने के कारण संवत् सम्बंधी कठिनता कहाँ और क्या घुसी हुई है। कवि के प्रतिकूल नहीं, किन्तु अनुकूल विचार करने पर आपकी न्याय बुद्धि झट खोज कर पकड़ लावेगी कि-विक्रम साक अनंद वाक्य खंड में-और उसमें भी अनन्द शब्द में हम लोगों को इतने वर्षों से गड़बड़ा कर भ्रमा रखने वाली चंद की लाघवता भरी हुई है। इतनी जड़ हाथ में आय जाने पर अनन्द शब्द के अर्थ की गहराई को ध्यान में लेकर पक्षपात रहित विचार से निश्चय कीजिये कि यहाँ चंद ने उसका क्या अर्थ माना है। निदान आपको समझ पड़ेगा कि अनंद शब्द का अर्थ यहाँ चंद ने केवल नव-संख्या

रहित-का रक्खा है अर्थात् अ=रहित और नंद=नव ९। अब विक्रम साक अनन्द को क्रम से अनन्द विक्रम साक अथवा विक्रम अनन्द साक करके उसका अर्थ करो कि नव रहित विक्रम का शक अथवा विक्रम का नव रहित शक अर्थात् १००-९=९० । ९१ अर्थात् विक्रम का वह शक कि जो उसके राज्य के ९० । ९१ से प्रारम्भ हुआ है। यही थोड़ी सी और उत्प्रेक्षा (!) करके यह भी समझ लीजिए कि हमारे देश के ज्योतिषी लोग जो सैंकड़ों वर्षों से यह कहते चले आते हैं और आज भी वृद्ध लोग कहते हैं कि विक्रम के दो संवत थे कि जिनमें से एक तो अब तक प्रचलित है और दूसरा कुछ समय तक प्रचलित रह कर अब अप्रचलित हो गया है। और हमने भी जो कुछ इसके विषय की विशेष दंत कथा कोटा राज्य के विद्वान कविराज श्री चंडीदानजी से सुनी थी, वह इस महाकाव्य की संरक्षा में जैसी कि तैसी लिख दियी है और दूसरा अनंद जो इस महाकाव्य में प्रयोग में आया है। इसी के साथ इतना यहाँ का यहाँ और भी अन्वेषण कर लीजिये कि हमारे शोध के अनुसार जो ९० । ९१ वर्ष का अन्तर उक्त दोनों संवतों का प्रत्यक्ष हुआ है, उसके अनुसार इस महाकाव्य के संवत मिलते हैं कि नहीं। पाठकों को विशेप श्रम न पड़े, अतएव हम स्वयम् नीचे के कोष्टक में कुछ संवतों को सिद्ध कर दिखाते हैं:—

"पृथ्वीराज के अनंद संवतों का कोष्टक"

पृथ्वीराजजी का	रासे में लिखे अनन्द संवत् में	सनन्द और अनन्द संवतों का अंतर जोड़ो	यह सनन्द संवत् हुआ
जन्म	१११५	९०।९१	१२०५।६
दिल्ली गोद जाना	११२२	९०।९१	१२१२।३
कैमास जुद्ध	११४०	९०।९१	१२३०।१
कन्नौज जाना	११५१	९०।९१	१२४१।२
अंतिम लड़ाई	११५८	९०।९१	१२४८।९

...... "चंद के प्रयोग किये हुए विक्रम के अनन्द संवत् का प्रचार बारहवें शतक की राजकीय व्यवहार की लिखावटों में भी हमको प्राप्त हुआ है, अर्थात् हमको शोध करते करते हमारे स्वदेशी अंतिम बादशाह पृथ्वीराजजी और रावल समरसीजी और महाराणी पृथाबाईजी के कुछ पट्टे परवाने मिले हैं कि उनके

संवत् भी इस महाकाव्य में लिखे संवतों से ठीक ठीक मिलते हैं और पृथ्वीराजजी के परवानों में जो मुहर छाप है, उसमें उनके राज्याभिषेक का सं० ११२२ लिखा है। इन परवानों के प्रतिरूप अर्थात् Photo हमने हमारी ओर से एशियाटिक सोसाइटी बंगाल को भेट करने के लिये हमारे स्वदेशी परम मित्र प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डाक्टर रायबहादुर राजा राजेन्द्रलालजी ऐल० ऐल० डी०, सी० आई० ई० के पास भेजे हैं और उनके अक्रित्रिम (!) होने के विषय में हमारे परस्पर बहुत कुछ पत्र व्यवहार हुआ है। यदि हमारे राजा साहब अकस्मात् रोगग्रस्त न हो गये होते तो वे हमारे इस बड़े परिश्रम से प्राप्त किये हुए प्राचीन लेखों को अपने विचार सहित पुरातत्ववेत्ताओं की मंडली में प्रवेश किये होते। इन परवानों के अतिरिक्त हमको और भी कई एक प्रमाण प्राप्त होने की दृढाशा है कि जिनको हम उस समय विद्वत् मंडली में प्रवेश करेंगे कि जब कोई विद्वान् उनको कृत्रिम होने का दोष देगा। देखिये जोधपुर राज्य के काल-निरूपक राजा जयचंदजी को संवत ११३२ में और शिवजी और सेतरामजी को सं० ११६८ में और जयपुर राज्यवाले पज्जूनजी को सं० ११२७ में होना आज तक निः संदेह मानते हैं और यह संवत भी हमारे अन्वेषण किये हुए ६१ वर्ष के अन्तर के जोड़ने से सनंद विक्रमी होकर संप्रतकाल के शोध हुए समय से मिल जाते हैं। इसके अतिरिक्त रावल समरसीजी की जिन प्रशस्तियों को हमारे मित्र महामहोपाध्याय कविराज श्यामलदासजी ने अपने अनुमान को सिद्ध करने को प्रमाण में मानी है, वह भी एक आंतरीय हिसाब से indirectly हमारे शोध किये इस अनन्द संवत को और उसके प्रचार को पुष्ट और सिद्ध करती है[१]।

इस प्रकार पंड्याजी ने जिस संवत को 'पृथ्वीराज रासे की प्रथमसंरक्षा' में 'भाटों का संवत' या 'भटायत' संवत माना था उसी का नाम उन्होंने 'अनंदविक्रम संवत' रक्खा और पहले 'भटायत' संवत में १०० जोड़ने से प्रचलित विक्रम संवत-का मिलजाना बतलाया था, उसको पलट कर 'अनंदविक्रम-संवत' में ६० या ६१ मिलाने से प्रचलित विक्रम संवत का बनना मान लिया। साथ में यह भी मान

१ पृथ्वीराजरासा, आदि पर्व, पृ० १३६-४४ ।

लिया कि ऐसा करने से पृथ्वीराज रासे तथा चौहानों की ख्यातों में दिए हुए सब संवत् उन घटनाओं के शुद्ध संवतों से मिल जाते हैं और जोधपुर तथा जयपुर के राजाओं के जो संवत मिलते हैं, वे भी मिल जाते हैं और मेवाड़ के रावल समरसिंहजी की प्रशस्तियां भी उक्त संवत (अनंद) की पुष्टि करती है। पंड्याजी के इस कथन की तथा उनके ऊपर उल्लेख किए हुए पृथ्वीराजजी, समरसीजी तथा पृथाबाई के पट्टे परवानों की जाँच कुछ आगे चल कर करेंगे, जिससे स्पष्ट हो जायगा कि उनका कथन कहाँ तक मानने योग्य है।

इसके पीछे बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा की हुई ई०स०१९०० की हिंदी की हस्तलिखित पुस्तकों की खोज की रिपोर्ट, पुस्तकों के प्रारम्भ और अन्त के अवतरणों आदि सहित, अंग्रेजी में छापी, जिसमें पृथ्वीराज-रासे की तीन पुस्तकों के नोटिस हैं और अंत में पृथ्वीराजजी, समरसीजी तथा पृथाबाइ के जिन पट्टे परवानों का उल्लेख पंड्याजी ने किया था, उनकी प्रति-कृतियों (फोटो) सहित नकलें भी दी हैं। उसकी अंग्रेजी भूमिका में, जिसका हिंदी अनुवाद जयपुर के 'समालोचक' नामक हिंदी मासिक पुस्तक की अक्टूबर, नवंबर, दिसम्बर सन १९०४ ई० की सम्मिलित संख्या में भी छपा है, बाबूजी ने पंड्याजी के कथन को समर्थन करते हुए लिखा कि "चंद ने अपने ग्रन्थ में ९०-९१ वर्ष की लगातार भूल की है। परन्तु किसी बात का एकसा होना भूल नहीं कहलाता, इसलिये इस ९० वर्ष के समअन्तर के लिये कोई न कोई कारण अवश्य होगा। ...... पृथाबाई का विवाह समरसी से अवश्य हुआ था, लोग इसके विरुद्ध चाहे कुछ ही क्यों न कहें। परवानों का जो प्रमाण यहाँ दिया गया है वह बहुत ही पुष्ट जान पड़ता है और इसके विरुद्ध जो कुछ अनुमान किया जाय उस सबको हलका बना देता है।...... परवानों और पत्रों की सत्यता में कोई संदेह नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनमें से एक दूसरे की पुष्टि करता है.......। यह बात ऊपर बहुत ही स्पष्ट करदी गई है कि चंद की तिथियाँ कल्पित नहीं हैं और न उसके महाकाव्य में दी हुई घटनाएँ ही मिथ्या हैं वरन वे सब सत्य हैं। यह भी साबित किया जा चुका है कि ईसवी सन की बारहवीं शताब्दी के लगभग राजपूताने में दो संवत प्रचलित थे, एक तो सनंद विक्रम संवत जो ईसवी सन् के ५७ वर्ष पहले चलाया गया था और दूसरा अनंद विक्रम संवत् जो सनंद विक्रम

संवत् में से ६२ वर्ष घटाकर गिना जाता था[७]।"

बाबूजी की वह रिपोर्ट यूरोप में पहुंची और वहाँ के विद्वानों ने उसे पढ़कर नए, 'अनंद विक्रम संवत' को इतिहास के लिये बड़े महत्व की बात माना। अनेक भाषाओं के विद्वान् प्रसिद्ध डाक्टर सर जी० ग्रिअर्सन ने भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास के विद्वान् विंसेंट स्मिथ को इस संवत् की सूचना दी, जिस पर उन्होंने अपने 'भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास' में पंड्याजी अथवा बाबूजी का उल्लेख न करके लिखा कि "सर जी० ग्रिअर्सन मुझे सूचित करते हैं कि नंदवंशी राजा ब्राह्मणों कट्टर दुश्मन माने गए हैं और इसीलिये उनका राजत्व काल बारहवीं शताब्दी में चंद कवि ने काल गणना में से निकाल दिया। उसने विक्रम के अनंद (नंद रहित) संवत् का प्रयोग किया है जो प्रचलित गणना से ६० या ६१ वर्ष पीछे है। 'नंद' शब्द का 'नव' के अर्थ में व्यवहृत होना पाया जाता है (१००-६=६१)[८]" आगे चल कर उसी विद्वान् ने लिखा है कि "रासे में काल गणना की जो भूलें मानी जाती हैं उनका समाधान इस शोध से होजाता है कि ग्रंथकर्ता ने अनंद विक्रम संवत् का प्रयोग किया है [जिसका प्रारंभ] अनुमान से ई० स० ३३ से है और इसीलिये वह प्रचलित सनंद विक्रम सम्वत से, जो ई० स० पूर्व ५८-५७ से [प्रारंभ हुआ था] ६०-१ वर्ष पीछे है। अनंद और सनंद शब्दों का अर्थ क्रमशः 'नंद-रहित' और 'नंद सहित' होता है और नंद ६० या ६१ का सूचक माना जाता है, परन्तु नव नंदों के कारण वह शब्द वास्तव में ६ का सूचक है[९]।"

नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा की हुई हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों की खोज की ई० स० १६०० से १६०२ तक की बाबू श्यामसुन्दरदासजी की अंग्रेजी रिपोर्ट की समालोचना करते समय डाक्टर रूडोल्फ होर्नली ने ई० स० १६०६ के रायल-एशिआटिक सोसाइटी के जर्नल में लिखा कि "पृथ्वीराज रासे के प्रामाणिक होने को जो एक समय बिना किसी सन्देह के माना जाता था, पहले पहल कविराजा श्यामलदास ने ई० स० १८८६ में बंगाल एशिआटिक सोसाइटी के जर्नल

---

७ एन्युअल् रिपोर्ट ऑन दि सर्च फॉर हिंदी मैनुस क्रिप्ट्स १६०० ई०, पृ० ८-१० और 'समालोचक' (हिंदी का मासिक पत्र), भाग ३, पृ० १६५-७१।

८ विंसेंटस्मिथ; अर्लीहिस्टरी ऑफ इंडिया संस्करण पृ० ४२ टिप्पन २।

९ वही।

में छपवाए लेख में अस्वीकार किया और तब से उस पर बहुत कुछ सन्देह होरहा है; जिसका मुख्य कारण उसके संवतों का अशुद्ध होना है। पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या का तलाश किया हुआ उसका समाधान उसी पुस्तक (रासे) से मिलता है। चंद बरदाई अपने आदि पर्व में बतलाता है कि उसके संवत् प्रचलित विक्रम संवत् में नहीं; किंतु पृथ्वीराज के ग्रहण किए हुए उसके प्रकारांतर अनंद विक्रम संवत् में दिए गए हैं। इस नाम के लिए कई तर्क बतलाए गए हैं जिनमें से एक भी पूर्ण संतोषदायक नहीं है, तो भी वास्तव में जो ठीक प्रतीत होता है वह मि० श्यामसुन्दरदास का यह कथन है कि यदि अनंद विक्रम संवत् का प्रारंभ प्रचलित विक्रम संवत से, जो पहिचान के लिये सनंद विक्रम संवत् कहा जाता है, ९०-९१ वर्ष पीछे माना जावे तो रासे के सब संवत् शुद्ध मिल जाते हैं, इसलिये यह सिद्ध होता है कि अनंद विक्रम संवत् में ३३ जोडने से ई० स० बन जाता है[१०]।"

ई० स० १९१३ में डॉक्टर बार्नेट ने 'एंटिक्विटीज़ ऑफ इंडिआ' नामक पुस्तक प्रसिद्ध की, जिसमें अनंद विक्रम संवत् का प्रारंभ ई० स० ३३ से होना माना है[११]।

विक्रम संवत १९६७ में मिश्रबंधुओं ने हिंदी नवरत्न' नामक उत्तम पुस्तक लिखी, जिसमें चंद बरदाई के चरित्र के प्रसंग में रासे के संवतों के विषय में लिखा है कि "सन् संवतों का गड़बड़ अधिक संदेह का कारण हो सकता था, पर भाग्य वश विचार करने से वह भी निर्मूल ठहरता है। चंद के दिए संवतों में घटनाओं का काल अटकलपच्चू नहीं लिखा है, वरन् इतिहास द्वारा जाने हुए समय से चंद के कहे हुए संवत सदा ९० वर्ष कम पड़ते हैं और यही अंतर एक दो नहीं प्रत्येक घटना के संवत् में देख पड़ता है। यदि चंद के किसी संवत् में ९० जोड़ दें तो ऐतिहासिक यथार्थ संवत् निकल आता है। चंद ने पृथ्वीराज के जन्म, दिल्ली गोद जाने, कन्नोज जाने, तथा अंतिम युद्ध के ११११, ११२२, ११५१, ११५८ संवत दिए हैं और इनमें ९० जोड़ देने से प्रत्येक घटना के यथार्थ संवत निकल आते हैं

---

१० जर्नल ऑफ दी रॉयल एशिआटिक् सोसाइटी, सन् १९०६, ई०, पृ०, ५००-१।

११ डा० बार्नेट; एँटिक्विटीज़ ऑफ इंडिआ, पृ० ६५।

(पृथ्वीराज रासो, पृ० १४०, देखिए)। प्रत्येक घटना में केवल ६० साल का अंतर होने से प्रकट है कि कवि इन घटनाओं के संवतों से अनभिज्ञ न था नहीं तो किसी में ६० वर्षों का अंतर पड़ता और किसी में कुछ और।...... ......। चंद पृथ्वीराज का जन्म १११५ विक्रम अनंद संवत् में बताता है। अतः वह साधारण संवत् न लिखकर 'अनंद' संवत लिखता है। अनंद का अर्थ साधारण तया आनंद का भी कहा जा सकता है, पर इस स्थान पर आनंद के अर्थ लगाने से ठीक अर्थ नहीं बैठता है। यदि आनंद शब्द होता तो आनंद वाला अर्थ बैठ सकता था। अतः प्रकट होता है कि चंद अनंद संज्ञा का कोई विक्रमीय संवत् लिखता है। यह अनंदसंवत् ज्ञान पड़ता है कि साधारण संवत् से ६० वर्ष पीछे था........ । अनंदसंवत् किस प्रकार चला और साधारण संवत से वह ६० वर्ष पीछे क्यों है, इसके विषय में पंड्याजी ने कई तर्क दिए हैं, पर दुर्भाग्यवश उनमें से किसी पर हमारा मत नहीं जमता है। बाबू-श्यामसुन्दरदासजी ने भी एक कारण बतलाया है, पर वह भी हमें ठीक नहीं ज्ञान पड़ता। ...अभी तक हम लोगों को अनंद संवत के चलने तथा उसके ६० वर्ष पीछे रहने का कारण नहीं ज्ञात है, पर इतना जरूर ज्ञान पड़ता है कि अनंद संवत चलता अवश्य था और वह साधारण संवत से ६० या ६१ वर्ष पीछे अवश्य था। उसके चलने का कारण न ज्ञात होना उसके अस्तित्व में संदेह नहीं डाल सकता[१२]"।

इस प्रकार पंड्याजी के कल्पना किए हुए 'अनंद विक्रम संवत्' को इंग्लैंड और भारत के विद्वानों ने स्वीकार कर लिया, परन्तु उनसे किसी ने भी यह जाँच करने का श्रम न उठाया कि ऐसा करना कहाँ तक ठीक है। राजपूताने में इतिहास की ओर दिन-दिन रुचि बढ़ती जाती है और कई राज्यों में इतिहास कार्यालय भी स्थापित हो गए हैं। ख्यातों आदि के अशुद्ध संवतों के विषय की चर्चा करते हुए कई पुरुषों ने मुझे यह कहा कि उन संवतों को अनंद विक्रम संवत मानने से शायद वे शुद्ध निकल पड़े। अतएव उसकी जाँच कर यह निर्णय करना शुद्ध इतिहास के लिये बहुत ही आवश्यक है कि वास्तव में चंद ने 'पृथ्वीराजरासे' में प्रचलित विक्रम संवत् से भिन्न 'अनंद विक्रम संवत्' का प्रयोग किया है, या नहीं, पंड्याजी के कल्पना किए हुए उक्त संवत् में ६० या ६१ जोड़ने से 'रासे' तथा चौहानों की

---

१२ मिश्रबंधु; हिन्दी नवरत्न, पृ० ३२२-२४।

ख्यातों में दिए हुए सब घटनाओं के संवत शुद्ध मिल जाते हैं या नहीं, ऐसे ही जोधपुर और जयपुर राज्यों की ख्यातों में मिलनेवाले संवतों तथा पृथ्वीराज, रावल समरसी तथा पृथाबाई के पट्टे परवानों के संवतों को अनंद विक्रम संवत मानने से वे शुद्ध संवतों से मिल जाते है या नहीं, इसकी जाँच नीचे की जाती है।

'अनंद विक्रम संवत्' नाम

कर्नल टॉड की मानी हुई चौहानों की ख्यातों और पृथ्वीराजरासे के संवतों में १०० वर्ष की अशुद्धि पर से उन सवतों की संगति मिलाने के लिये पंडयाजी ने ई०स०१८८७ में पृथ्वीराजरासे की प्रथम संरक्षा में तो एक नए संवत् की कल्पना कर उसका नाम 'भाटों का संवत्' या 'भटायत संवत' रक्खा और प्रचलित विक्रम संवत् से उसका १०० वर्ष पीछे होना मानकर लिखा कि "यदि हम रासे में लिखे संवतों की भाटों के विक्रमी शक के नियमानुसार परीक्षा करें तो सौ १०० वर्ष के एक से अंतर के हिसाब से वह शास्त्रीय विक्रमीय संवत् से बराबर मिल जाते हैं।" इस हिसाब से पृथ्वीराज का देहांत, जो रासे में ४३ वर्ष की अवस्था में होना लिखा है, वह वि०सं०१२५८ में होना मानना पड़ता था। पृथ्वीराज का देहांत वि०सं०१२४८-४९ में होना निश्चित् था, जिससे भटायत सं० से वह ९-१० वर्ष पीछे पड़ता था। इस अन्तर को मिटाने के लिये 'एकादश से पंचदह' में से (पंचदश) का गूढार्थ 'पांच' मानकर उसकी संगति मिलाने का उन्होंने यत्न किया, जिसको साक्षर वर्ग ने स्वीकार न किया। तब उन्होंने उसी साल पृथ्वीराजरासे के आदि पर्व को छपवाते समय टिप्पण में उस ९ वर्ष के फ़र्क को मिटाने के लिये पृथ्वीराज के जन्म-सम्बन्धी रासे के दोहे 'एकादश सै पंचदह विक्रम साक अनंद' में 'अनंद' शब्द का अर्थ नंद रहित' या 'नव रहित' कर अपने माने हुए भटायत संवत् के अनुसार पृथ्वीराजजी के देहांत संवत् को ठीक करने का उद्योग किया, परन्तु ऐसा करने पर उक्त दोहे का अर्थ 'विक्रम का नव-रहित सवत १११५ (अर्थात ११०६) होता था, जिससे उन्होंने मूल में १०० का सूचक कोई शब्द न होने पर भी सौ रहित नव (अर्थात ९१) कर उक्त संवत का नाम 'अनंद विक्रम संवत्' रक्खा और लिखा कि "३५५ रूपक में जो अनंद शब्द प्रयोग हुआ है, उसमें किसी किसी को कुछ सन्देह रहेगा; अतएव हम फिर उसके विषय में कुछ अधिक कहते हैं। देखो संशय करना कोई बुरी बात नहीं है; किंतु वह सिद्धांत का मूल है। हमारे गौतम

के अर्थ में किया है और 'अनंद विक्रम संवत्' नाम की कल्पित सृष्टि केवल पंड्याजी ने ही खड़ी की है।

पृथ्वीराज के जन्म का संवत्।

पृथ्वीराजरासे में पृथ्वीराज का जन्म वि० सं० १११५ में होना लिखा है। पंड्याजी इस संवत् को अनंद विक्रम संवत् मानकर उसका जन्म सनंद विक्रम संवत् (१११५+९०-९१=) १२०५-६ में होना बतलाते हैं। इसके ठीक निर्णय के लिये पृथ्वीराज के दादा अर्णोराज (आना) से लगाकर पृथ्वीराज तक के अजमेर के इतिहास की संक्षेप से आलोचना करना आवश्यक है। आधुनिक शोध के अनुसार अर्णोराज से पृथ्वीराज तक का वंशवृक्ष प्रत्येक राजा के निश्चित् ज्ञात समय के साथ नीचे लिखा जाता है—
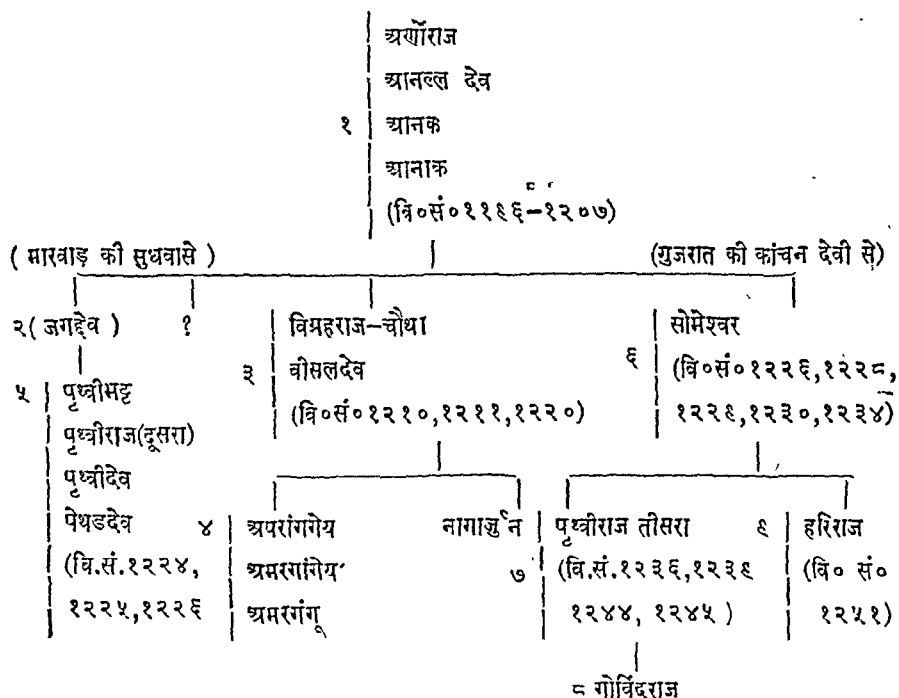
(१) पृथ्वीराज विजय में अर्णोराज की दो रानियों के नाम मिलते हैं- मारवाड़ की सुधवा और गुजरात के राजा जयसिंह (सिद्धराज) की पुत्री कांचन-देवी। सुधवा के तीन पुत्र हुए, जिनमें से केवल सब से छोटे विग्रहराज का नाम

उसमें दिया है। कांचन देवी से सोमेश्वर का जन्म हुआ [१५]। सुधवा के ज्येष्ठ पुत्र

---

१५ अवीचिभागो मरुभूमिनामा खण्डो द्युलोकस्य च गूर्जराख्यः।
परीक्षणायेव दिशि प्रतीच्यामेकीकृतौ पाशधरेण यौ द्वौ ॥ [२६॥]
तयोर्द्वयोरप्युदिते नरेन्द्रं तं वव्रतुस्तुल्यगुणे महिष्यौ।
रसातलस्वर्गभवे इव द्वे त्रिलोचनं चन्द्रकलात्रिसर्गे ॥ [३०॥]
पूर्वा तयोर्नाम कृतार्थयन्ती तं प्राप्य कान्तं सुधवाभिधाना।
सुतानवा पत्प्रकृतेरसमानान्गुणानिवान्योन्यविभेदिनस्त्रीन् ॥ [३१॥]
(पृथ्वीराज विजय महाकाव्य, सर्ग ६)।

गूर्जरेन्द्रो जयसिंहस्तस्मै यां दत्तवान्सा काञ्चनदेवी रात्रौ च दिने च सोमं सोमेश्वरसंज्ञमनत्" (पृथ्वीराज विजय, सर्ग ६, श्लोक [३४] पर जोनराज की टीका, मूल श्लोक नष्ट होगया है)।

सूनुः श्रीजयसिंहोऽस्माज्जायते स्म जगज्जयी ॥ २३ ॥
अमर्षणं मनः कुर्वन्विपक्षोर्वीभृदुन्नतौ।
अगस्तय इव यस्तूर्णमर्णोराजमशोषयत् ॥ २७ ॥
गृहीता दुहिता तूर्णमर्णोराजस्य विष्णुना।
दत्तानेन पुनस्तस्मै भेदोभूदुभयोरयम् ॥ २८ ॥
द्विषां शीर्षाणि लूनानि दृष्ट्वा तत्पादयोः पुरः।
चक्रे शाकंभरीशोपि शङ्कितः प्रणतं शिरः ॥ २६ ॥
(सोमेश्वर रचित कीर्तिकौमुदी, सर्ग २)

'कीर्तिकौमुदी' का कर्ता, गुर्जरेश्वरपुरोहित सोमेश्वर, गुजरात के राजा जयसिंह (सिद्धराज) का चौहान (शाकंभरीश्वर) अर्णोराज (आना) को जीतना और अपनी पुत्री का विवाह उस (अर्णोराज) के साथ करना स्पष्ट लिखता है, तो भी 'बंबई गेज़ेटिअर' का कर्ता सोमेश्वर के कथन को स्वीकार न कर लिखता है कि यह भूल है क्योंकि अर्णोराज के साथ की लड़ाई और संधि कुमारपाल के समय की घटनाएँ हैं' (बंबई गेज़ेटिअर, जि० १, भाग १, पृ० १७६)। यहां सोमेश्वर की भूल बतलाता हुआ उक्त 'गेज़ेटियर' का कर्ता स्वयं भूल कर गया है, क्योंकि 'प्रबन्धचिंतामणि का कर्ता मेरुतुंगाचार्य भी जयसिंह और आनाक (अर्णोराज=आना) के बीच की लड़ाई का उल्लेख करता है (सपादलक्षः सहभूरिलक्षैरानाकभूपाय नताय दत्तः। दत्ते यशोवर्मणि मालवोपि त्वया न से हे द्विषि सिद्धराज प्रबन्धचिंतामणि, पृ० १६०)। 'पृथ्वीराज विजय के कर्ता जयरथ (जयानक) ने अपना काव्य वि० सं० १२४८ के पूर्व बनाया और इसमें जयसिंह की पुत्री कांचनदेवी का विवाह

(जगद्देव) के विषय में लिखा है कि उसने अपने पिता की वह सेवा बजाई जो भृगुनंदन (परशुराम) ने अपनी माता की की थी (अर्थात् उसने अपने पिता को मारडाला) और वह दीपक की नाईं अपने पीछे दुर्गंध (अपयश) छोड़ मरा[१६]। वि० सं० ११९६ के अर्णोराज के समय के दो शिलालेख जयपुर राज्य के शेखावाटी प्रांत में प्रसिद्ध जीणमाता के मंदिर के एक स्तंभ पर खुदे हुए हैं[१७] और चित्तौड़ के किले तथा पालड़ी के शिलालेखों से पाया जाता है कि गुजरात के चौलुक्य (सोलंकी) राजा कुमारपाल की अर्णोराज के साथ की लड़ाई वि० सं० १२०७ के आश्विन या कार्तिक में हुई होगी[१८]। उसके पुत्र विग्रहराज (वीसलदेव) ने राज्य पाने के बाद वि० सं० १२१० माघशुक्ला ५ को 'हरकेलि' नाटक समाप्त किया[१९]। अतएव अर्णोराज और जगद्देव दोनों का देहान्त वि० सं०१२०७ के आश्विन और १२१० के माघ के बीच किसी समय हुआ होगा।

अर्णोराज से होना लिखा है, इतना ही नहीं; किंतु उस कन्या से उत्पन्न होने वाले सोमेश्वर को जयसिंह का अपने यहाँ लेजाने और उसके उत्तराधिकारी कुमारपाल के द्वारा गुजरात में सोमेश्वर का लालन-पालन होने आदि का विस्तार के साथ उल्लेख किया है। कीर्तिकौमुदी वि० सं० १२८२ के आसपास बनी है। इन दोनों काव्यों का कथन 'बंबई गेज़ेटिअर के कर्ता के कथन की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक है।

१६ प्रथमस्तुधवासुतस्तदानीं परिचर्यां जनकस्य तामकार्षीत्।
प्रतिपाद्यजलाञ्जलिं घृणायै विदधे यां भृगुनन्दनो जनन्याः ॥ [१२॥]
न परं विदधे वृथा गुणित्वं जनक स्नेहमयं विनाश्य यावत्।
स्वयमेव विनश्य गर्हणीयं व्यतनोद्दीप इवानुरागगन्धम् ॥ [१३॥]
पृथ्वीराजविजय, सर्ग ७।

१७ प्रॉग्रेस रिपोर्ट ऑफ दि आर्किआलॉजिकल, सर्वे, वेस्टर्न सर्कल, ई०स०१९०९-१०, पृ० ५२।

१८ इन्डि० ऐंटि०; जि० ४०, पृ० १९६।

१९ संवत् १२१० मार्गशुदि ५ आदित्यदिने श्रवणनक्षत्रे मकरस्य चन्द्रे हर्षणयोगे बालवकरणे हरकेलिनाटकं समाप्तं ॥ मंगलं महा श्रीः ॥ कृतिरियं महाराजधिराजपरमेश्वर श्रीविग्रहराजदेवस्य (शिलाओं पर खुदा हुआ हरकेलि नाटक, राजपूताना म्यूज़िअम, अजमेर, में सुरक्षित)।

(२) जगद्देव का नाम, पितृघाती (हत्यारा) होने के कारण, राजपूताने की रीति के अनुसार बीजोल्यां के वि० सं० १२२६ के लेख तथा 'पृथ्वीराजविजय' में नहीं दिया, परन्तु 'हमीरमहाकाव्य' [२०] और 'प्रबंध कोष (चतुर्विंशति प्रबंध)' की हस्तलिखित पुस्तक के अंत में दी हुई चौहानों की वंशावली[२१] में उसका नाम जगद्देव मिलता है। जगद्देव के पुत्र पृथ्वीभट के विद्यमान होने पर भी उसके पीछे उसका छोटा भाई विग्रहराज (बीसलदेव) राजा हुआ, जिसका कारण यही अनुमान किया जा सकता है कि जैसे मेवाड़ के महाराणा कुम्भकर्ण (कुम्भ) को मार कर उसका ज्येष्ठ पुत्र उदयसिंह। मेवाड़ के राजा बना, परन्तु सर्दारों आदि ने उसकी अधीनता स्वीकार न की और राणा कुंभा का छोटा पुत्र रायमल सर्दारों की सहायता से उसे निकाल कर मेवाड़ का राजा बना, वैसे ही पृथ्वीभट से विग्रहराज ने अजमेर का राज्य लिया हो।

(३) विग्रहराज (बीसलदेव) चौथे के राजत्व काल के संवत् वाले शिलालेख अब तक ४ मिले हैं, जिनमें से उपर्युक्त 'हरकेलिनाटक' की पुष्पिका वि० सं० १२१० की, मेवाड़ के जहाज़पुर ज़िले के लोहारी गांव के पास के भूतेश्वर महादेव के मंदिर के स्तंभ पर का वि० सं० १२११ का [२२] और अशोक के लेख वाले देहली के शिवालिक स्तंभ पर [कार्तिकादि] वि० सं० १२२० (चैत्रादि १२२१ (वैशाख शुदि १५ (ता० ६ एप्रिल, ई० स० ११६४) गुरुवार (वार एक ही लेख में दिया है) के दो[२३] हैं। पृथ्वीभट (पृथ्वीराज दूसरे) का सब से पहला लेख वि० सं० १२२४ माघशुक्ल ७ का हांसी से मिला है[२४]। अतएव विग्रहराज (बीसलदेव) चौथे और उसके पुत्र अपर गांगेय दोनों की मृत्यु वि० सं० १२२१ और १२२४ के बीच किसी समय हुई, यह निश्चित है।

---

२० विस्मापकश्रीर्भवति स्म तस्माद्भूभृत् जगद्देव इति प्रतीतः ।
हंमीरमहाकाव्य, सर्ग २, श्लो० ५२ ।

२१ गउडवहो, अँग्रेजी भूमिका, पृ० १३५–३६ (टिप्पण) ।

२२ ॐ ॥ सम्वत् १२११ श्रीः (श्री) परमपाशु (शु) पताचार्येन (ण) विश्वेश्वर [प्र] ज्ञेन श्रीवीसलदेवराज्ये श्रीसिद्धेश्वरप्रासादे मण्डपं [भूषितं] ॥
(लोहारी के मन्दिर का लेख, अप्रकाशित) ।

२३ इन्डि० एँटि०, जि० १६, पृ० २१८ ।

२४ वही, जि० ४१, पृ० १६ ।

(४) अपरगांगेय (अमरगांगेय) से पितृघाती जगदेव के पुत्र पृथ्वीभट ने राज्य छीन लिया हो, ऐसा पाया जाता है। क्योंकि मेवाड़ राज्य के जहाजपुर ज़िले के धौड़ गांव के पास के रूठी राणी के मंदिर के एक स्तंभ पर के वि० सं० १२२५ ज्येष्ठ वदि १३ के पृथ्व देव (पृथ्वीभट) के लेख में उसको 'रणखेत में अपने भुजबल से शाकंभरी के राजा को जीतने वाला'[२५] बतलाया है। बालक अपरगांगेय की मृत्यु विवाह होने से पहले हुई हो और वह एक वर्ष से अधिक राज करने न पाया हो। 'पृथ्वीराजविजय' में लिखा है कि 'पृथ्वीराज के द्वारा सूर्यवंश (चौहानवंश) की उन्नति को देखते हुए यमराज ने इस (विग्रहराज) के पुत्र अपरगांगेय को हर लिया[२६]।

(५) पृथ्वीभट (पृथ्वीराज दूसरे) के समय के अब तक तीन शिलालेख मिले हैं। जिनमें से उपर्युक्त हांसी का वि० सं० १२२४ का, धौड़ गांव का, १२२५ का (ऊपर लिखा हुआ) और मेवाड़ के मेनाल नामक प्राचीन स्थान के मठ का १२२६ का[२७] (बिना मास पक्ष और तिथि) का है। उसके उत्तराधिकारी सोमेश्वर का सब से पहला वि० सं० १२२६ फाल्गुन वदि ३ का मेवाड़ के बीजोल्यां गांव के पास की चट्टान पर खुदा हुआ प्रसिद्ध लेख[२८] है जिसमें सामंत से लगा कर सोमेश्वर तक की सांभर और अजमेर के चौहानों की पूरी वंशावली मिलती है। इन लेखों से निश्चित् है कि पृथ्वीभट का देहांत और सोमेश्वर का राज्याभिषेक ये दोनों घटनाएँ वि० सं० १२२६ में फाल्गुन के पहले किसी समय हुईं।

---

२५ ॐ सं० १२२५ ज्येष्ठ वदि १३ अद्येह श्री सपादलक्षमंडले महाराजाधिराज परमेश्वर परमभट्टारक उमापतिवरलब्धप्रसाद प्रौढ़प्रताप निजभुजरणांगणविनिर्जितशाकंभरीभूपाल श्री प्रिथिम्विदेवविजयराज्ये (धौड़ गाँव के रूठी राणी के मंदिर के एक स्तंभ पर का लेख—अप्रकाशित)।

२६ सुतोऽप्यपरगाङ्गेयो निन्येस्य रविसूनुना।
उन्नतिं रविवंशस्य पृथ्वीराजेन पश्यता॥ [५४ ॥]
पृथ्वीराजविजय सर्ग ८।

२७ बंगाल एशियाटिक् सोसाइटी का जर्नल, ई० सं० १८८६, हिस्सा १, पृ० ४६।

२८ वही, पृ० ४०–४६।

पृथ्वीराजविजय में लिखा है कि 'सब गुणों से संपन्न, पितृवैरी (जगद्देव) का पुत्र, पृथ्वीभट भी (विग्रहराज को लाने के लिये अचानक चल धरा (=मर गया[२९])"।

(६) सोमेश्वर के विषय में 'पृथ्वीराज विजय' में लिखा है कि "उसका जन्म होने पर जब उसके नाना (जयसिंह=सिद्धराज) ने ज्योतिषियों से यह सुना की रामचंद्र अपना बाकी रहा हुआ कार्य करने के लिये उस (सोमेश्वर) के यहाँ जन्म लेंगे, तब उसने उसको अपने नगर में मँगवा लिया। उसके पीछे कुमारपाल ने कुमार (बालक) सोमेश्वर का पालन किया, जिससे उसका 'कुमारपाल' नाम सार्थक हुआ। उसकी वीरता के कारण वह (कुमारपाल) उसको सदा अपने पास रखता था। एक हाथी से दूसरे हाथी पर उछलते हुए उस (सोमेश्वर) ने कौंकण के राजा की छुरिका (छोटी तलवार) छीनली और उसी से उसका सिर काट डाला। फिर उसने त्रिपुरी (चेदि की राजधानी तेवर) के कलचुरि राजाकी पुत्री (कर्पूरदेवी) से विवाह किया, जिससे ज्येष्ठ (पक्ष नहीं दिया) की द्वादशी को पृथ्वीराज का जन्म हुआ[३०]। उसका चूड़ाकरण संस्कार होते ही रानी के

---

२९ प्रत्यानेतुमिवाकाण्डे पूर्णोपि सकलैर्गुणैः ।
पितृवैरितनूजोपि प्रतस्थे पृथिवीभटः ॥ [५६॥]

पृथ्वीराजविजय, सर्ग ८ ।

३० उत्पत्स्यते कंचन कार्यं शेषं निर्मातुकामस्तनयो ऽस्यरामः ।
सांवत्सरैरित्युदितानुभावं मातामहस्तं स्वपुरं निनाय ॥ [३५॥]

पृथ्वीराजविजय, सर्ग, ६ ।

अथ गूर्जरराजमूर्जितानां मुकुटालङ्करणं कुमारपालः ।
अधिगत्य सुतासुतं तदीयं परिरक्षन्नभवद्यथार्थ नामा ॥ [११॥]
[क्रमशो रथि] यन्तृसादिपत्तिव्यवहारेषु विसारिणा चतुर्धा ।
युधि वीरसेन शुद्धिमन्तं न समीपादमुचत्कुमारपालः ॥ [१४॥]
हनुमानिव शैलतस्स शैलं द्विरदेन्द्राद्द्विरदेन्द्रमुत्पतिष्णुः ।
छुरिकामपहृत्य कुङ्कणेन्द्रं गमयामास कबंधता तयैव ॥ [१५॥]
इति साहससाहचर्यचर्यस्समयज्ञैः प्र[तिपादि] तप्रभावाम् ।
तनयां स सपादलक्षपुण्यैरुपयेमे त्रिपुरीपुर[न्द]रस्य ॥ [१६॥]

फिर गर्भ रहा[३१] और माघसुदि ३ को हरिराज का जन्म हुआ[३२]।" 'पृथ्वीराजविजय' के इस लेख से पाया जाता है कि जब कुमारपाल ने राज पाया उस समय अर्थात् वि० सं० ११६६ में तो सोमेश्वर बालक था, परन्तु कौंकण के राजा के साथ की लड़ाई के समय वह युद्ध में वीरता बतलाने के योग्य अवस्था को पहुंच गया था। कौंकण के जिस राजा का उक्त काव्य में उल्लेख किया गया है वह उत्तरी कौंकण का शिलारावंशी राजा मल्लिकार्जुन है। कुमारपाल की उस पर की चढ़ाई के विषय में "प्रबंधचिंतामणि" से पाया जाता है कि कुमारपाल के दर्बार में एक भाट ने मल्लिका-

---

ज्येष्ठत्वं चरितार्थतामथ नयन्मासान्तरापेक्षया
ज्यैष्ठस्य पृथयन्पन्तपतया ग्रीष्मस्य भीष्मां स्थितिम्।
द्वादश्यास्तिथिमुख्यतामुपदिशन्भानोः प्रतापोन्नतिं
तन्वन्गोत्रगुरोर्निजेन नृपतेर्जज्ञे सुतो जन्मना ॥ [५०॥]

वही, सर्ग ७।

पृथ्वीं पवित्रतां नेतुं राजशब्दं कृतार्थताम्।
चतुर्वर्णधनं नाम पृथ्वीराज इति व्यधात् ॥ [३०॥]

वही, सर्ग ८।

३१ चूडाकरणसंस्कार बहुधा प्रथम वर्ष में, नहीं तो तीसरे में होता है।

३२ चूडाकरणसंस्कारसुन्दरं तन्मुखं बभौ।
पाश्चात्यभागसंप्राप्तलक्ष्मेव शशिमण्डलम् ॥ [४५॥]
सत्रान्तरे पुनर्देवीवपुः प्रैक्षत पार्थिवः।
स्वप्नदृष्टभुजङ्गेन्द्रभोगकान्त्येव पाण्डुरम् ॥ [४६॥]
प्रसूतपृथिवीराजा देवी गर्भवती पुनः।
उदेष्यत्कुमुदा फुल्लपद्मेव सरसी बभौ ॥ [४७॥]
माघस्याथ तृतीयस्यां सितायामपरं सुतम्।
प्रसादमिव [पार्वत्या मूर्त], परमवाप सा ॥ [४६॥]

युद्धेष्वस्य हस्तिदलनलीलां भविष्यन्तीं जानतेव हरिराजनाम्नायं स्वस्य कृतार्थतायेत्र स्पृष्टः। हरिराजो हि हस्तिमर्दनः (श्लोक ५० पर जोनराज की टीका, मूल श्लोक बहुतसा नष्ट हो गया है)

पृथ्वीराजविजय, सर्ग ८।

र्जुनको 'राजपितामह' कहा। इस पर क्रुद्ध होकर कुमारपाल ने अपने मंत्री आंबड को सेनापति वनाकर अपने सामन्तों सहित उस पर भेजा। उसने कौकण में प्रवेश किया और कलविणि नदी को पार करने पर मल्लिकार्जुन से उसकी हार हुई और वह काला मुँह कराकर लौटा। इस पर कुमारपाल ने बड़ी सेना के साथ फिर उसी को उस पर भेजा और उसी नदी के पार फिर उससे लड़ाई हुई, जिसमें आंवड़ ने उसके हाथी पर चढ़ कर अपनी तलवार से उसका सिर काट डाला और कौंकण पर कुमारपाल का अधिकार जमा दिया। उसने मल्लिकार्जुन के सिरको सोने में मढ़ा लिया और दरबार में बैठे हुए कुमारपाल को कई बहुमूल्य उपहारों के साथ भेट किया। इस पर कुमारपाल ने आंबड़ को ही राजपितामह की उपाधि दी।[33] प्रबंधचिंतामणिकार मल्लिकार्जुन का सिर काटने का यश सेनापति आंवड़ को देता है परन्तु 'पृथ्वीराजविजय', जो 'प्रबन्धचिंतामणि' से अनुमान ११४ वर्ष पूर्व बना था, उस वीर कार्य का सोमेश्वर के हाथ से होना बतलाता है, जो अधिक विश्वास के योग्य है। मल्लिकार्जुन के दो शिलालेख शक सं०१०७८ और १०८२ (वि०सं०१२१३ और १२१७) के मिले हैं और उसके उत्तराधिकारी अपरादित्य का पहला शिलालेख शक सं० १०८४ (वि० सं० १२१६)[35] का है अतएव सोमेश्वर ने मल्लिकार्जुन को वि०सं०१२१७ या १२१८ में मारा होगा, जिसके पीछे उसने चेदि देश की राजधानी त्रिपुरी के हैहय (कलचुरि) वंशी राजा की पुत्री से विवाह किया। टीकाकार ने एक श्लोक की टीका में राजा का नाम तेजल लिखा है किंतु पृथ्वीराजविजय के एक और श्लोक में श्लेष से यह अर्थ संभव है कि कर्पूरदेवी के पिता का नाम अचलराज हो। उससे पृथ्वीराज का जन्म हुआ जो वि०सं०१२१७ के पीछे किसी समय होना चाहिए, न कि वि०सं०१२०५-६ में। उस समय तक तो सोमेश्वर युवावस्था को भी न पहुंचा होगा।

'पृथ्वीराजविजय' में पृथ्वीभट की मृत्यु के वर्णन के बाद लिखा है कि 'जिसमें से पुरुष रूपी मोती गिरते गए,ऐसे सुधवा के वंश को छोड़ कर राजश्री

---

३३ प्रबन्धचिंतामणि, पृ० २०१-२०३।

३४ बंबई गेज़िटिअर, जि० १, भाग १, पृ० १८६।

३५ वही, पृ० १८६।

सोमेश्वर को राजा देखने के लिये उत्कण्ठित हुई। महामन्त्री यश और प्रताप रूपी दोनों पुत्रों (पृथ्वीराज और हरिराज) सहित राजा (सोमेश्वर) को सपादलक्ष में लाए और दान तथा भोग जैसे उन दोनो पुत्रों को लेकर संपत्ति की मूर्त्ति स्वरूप कर्पूरदेवी ने अजयराज की नगरी (अजमेर) में प्रवेश किया। परलोक को जीतने की इच्छा वाले राजा ने मंदिरादि निर्माण कराए और इस तरह पितृ-ऋण से मुक्त होकर पिता के दर्शन के लिए त्वरा की (अर्थात् जल्दी ही मरणोन्मुख हुआ)। मेरे पिता अकेले स्वर्ग में कैसे रहें और बालक पृथ्वीराज की उपेक्षा भी कैसे की जावे, ऐसा विचार कर उसने उस (पृथ्वीराज) को राज्य सिंहासन पर विठलाया और अपनी व्रतचारिणी रानी पर उसकी रक्षा का भार छोड़ कर पितृभक्ति के कारण वह स्वर्ग को सिधारा[३६]। इससे भी निश्चित है कि सोमेश्वर के देहान्त के समय पृथ्वीराज बालक ही था। सोमेश्वर के राज्य समय के ५ शिलालेख मिले हैं जिनमें से बीजोल्यां का उपर्युक्त लेख वि० सं० १२२६ का, धौड़ गाँव के उक्त मंदिर के दो स्तंभों पर वि० सं० १२२८ ज्येष्ठ सुदि १०[३७] और १२२९ श्रावण सुदि १३

---

३६ मुक्त्वेति सुधवावंशं गलत्पुरुषमौक्तिकं।
देवं सोमेश्वरं द्रष्टुं राजश्रीरुदकण्ठत ॥ [५७ ॥]
आत्मजाभ्यामि वयशःप्रतापाभ्यामिवान्वितः।
सपादलक्षमानिन्ये महामात्यैर्महीपतिः ॥ [५८ ॥]
कर्पूरदेव्यथादाय दानभोगविवात्मजौ।
विवेशाजयराजस्य संपन्मूर्तिमती पुरीम् ॥ [५९ ॥]
ऋणशुद्धिं विनिर्माय निर्माणैरीदृशैः पितुः।
तत्वरे दर्शनं कर्तुं परलोकजयी नृपः ॥ [७१ ॥]
ए[काकिना हि] मत्पित्रा स्थीयते त्रिदिवे कथम्।
बालश्च पृथ्वीराजो मया कथमुपेक्ष्यते ॥ [७२ ॥]
[इतिबालस्याभिषिक्तस्य रक्षार्थं व्रतचारिणीम्।
स्थापयित्वा निजां देवीं पितृ] भक्त्या दिवं ययौ ॥] ७३ ॥
पृथ्वीराज विजय सर्ग ८।

३७ ओं ॥ स्वस्ति ॥ संवत् १२२८ जेष्ठ (ज्येष्ठ) सुदि १०..............समस्त राजावली-समलंकृतपरमभट्टारकः (क) महाराजाधिराजपरमेस्व(श्व)रपरममाहेस्व(श्व)रश्रीसोमेस्व-(श्व)रदेवकुस (श)ली कल्याणविजयराज्ये०
धौड़गांव का लेख (अप्रकाशित)।

के[३८],जयपुर राज्य के प्रसिद्ध जीणमाता के मंदिर के स्तभ पर वि०सं० १२३०का[३९] और मेवाड़ (उदयपुर) राज्य के जहाजपुर ज़िले के आंवलदा गाँव से मिले हुए सती के स्तंभ पर वि० सं० १२३४ भाद्रपद शुदि ४ शुक्रवार का [४०] है। सोमेश्वर के पुत्र पृथ्वीराज के समय के कई लेख मिले हैं। जिनमें से पहला उपर्युक्त भूतेश्वर महादेव के मदिर के बाहर के एक सती के स्तंभ पर वि० सं० १२३६ आषाढ़ वदि १२ का [४१] है। इन लेखों से स्पष्ट है वि० सं० १२३४ और १२३६ के बीच किसी समय सोमेश्वर का देहान्त और पृथ्वीराज का राज्याभिषेक हुआ। उस समय तक तो पृथ्वीराज बालक था। जैसा कि ऊपर लिखा गया है। पृथ्वीराज विजय में विग्रहराज (बीसलदेव) चौथे की मृत्यु के प्रसंग में यह भी लिखा है कि 'अपने भाई (सोमेश्वर) के दो पुत्रों से पृथ्वी को सनाथ जानने पर विग्रहराज ने अपने को कृतार्थ माना और वह शिव के सांनिध्य में पहुंचा[४२]। इसका तात्पर्य यही है कि विग्रहराज ने अपनी मृत्यु के पहले सोमेश्वर के दो पुत्र होने की खबर सुनली थी। उसका देहान्त चैत्रादि वि० सं० १२२१ और १२२४ के बीच किसी समय

---

३८ ओं ॥ संवत् १२२६ श्रावण सुदी १३ अद्येह श्रीमत् (द) अजय मेरुदुर्गे सपादलक्ष ग्रामस......॥समस्तराजावलिसमलंकृतः स परम भट्टारकः महाराजाधिराज परमेस्व (श्व) रपरम माहेस्वर (श्वरः) ॥ श्रीसोमेस्व (श्व) रदेव कुशलीकल्याण विजय राज्ये०

धौड़ गांव का लेख (अप्रकाशित)

३९ प्रॉग्रेस रिपोर्ट ऑफ् दी आर्किऑलाजिकलसर्वे ऑफइंडिआ, वेस्टर्न सर्कल, ई० स० १९०९-१०, पृ० ५२।

४० ओं ॥ स्वस्ति श्री महाराजाधिराज श्री सोमेस्व (श्व) रदेवमहाराये (ज्ये) डोडरा सिंघरा-सुत सिंदराउ.....संवत् १२३४ भाद्र [पद] शुदि ४ शुक्र, दिने०

आंवलदा गांव का लेख (अप्रकाशित)

४१ संवत् १२३६ आषाढ़ वदि १२ श्रीपृथ्वीराजराज्ये बागड़ी सलखण पुत्र जलसल। मातु- काल्ही०

लोहारीगांव का लेख (अप्रकाशित)

४२ अथ भ्रातुर पत्याभ्यां सनाथां जानता भुवम्।
जग्मे विग्रहराजेन कृतार्थेन शिवान्तिकम् ॥ ५३ ॥

पृथ्वीराज विजय, सर्ग ८.

होना ऊपर बतलाया जा चुका है इसलिये पृथ्वीराज का जन्म वि० सं० १२२१ के आसपास होना स्थिर होता है। "पृथ्वीराज रासे" में उक्त घटना का संवत् १११५ दिया है। यदि अनंद विक्रम संवत् की कल्पना के अनुसार उसमें ९०-९१ मिलावें तो भी पृथ्वीराज का जन्म वि० सं० १२०५-६ में आता है, जो सर्वथा असंभव है। यदि उक्त संवत् में पृथ्वीराज का जन्म होता तो सोमेश्वर के देहान्त के समय पृथ्वीराज की अवस्था लगभग ३० वर्ष की होती और सोमेश्वर को उसकी रक्षा का भार अपनी रानी को सौंपने की आवश्यकता न रहती।

पृथ्वीराज का देहली गोद जाना

'पृथ्वीराज रासे' में लिखा है कि "देहली के तंवर (तोमर) वंशी राजा अनंगपाल ने अपनी पुत्री कमला का विवाह सोमेश्वर के साथ किया, जिससे पृथ्वीराज का जन्म हुआ। अन्त में अनंगपाल देहली का राज्य अपने दौहित्र पृथ्वीराज को देकर बद्रिकाश्रम में तप करने को चला गया।" पंड्याजी ने अनंद विक्रम संवत् ११२२ और सनंद (प्रचलित) विक्रम संवत् १२१२-१३ में पृथ्वीराज का देहली गोद जाना और उस समय उसकी अवस्था ७ वर्ष की होना माना है, परन्तु उस समय तक तो पृथ्वीराज का जन्म भी नहीं हुआ था जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है। न तो सोमेश्वर के समय देहली में तंवर अनंगपाल का राज्य था और न उसकी पुत्री कमला का विवाह सोमेश्वर के साथ हुआ। इसलिये 'पृथ्वीराज रासे' का यह कथन माननीय नहीं; क्योंकि देहली का राज्य तो विग्रहराज (वीसलदेव) चौथे ने ही अजमेर के अधीन कर लिया था। बीजोल्या के उक्त वि० सं० १२२६ के लेख में विग्रहराज के विजय के वर्णन में लिखा है कि 'ढिल्ली (देहली) लेने से थके हुए और आशिका (हांसी) प्राप्त करने से स्थगित अपने यश को उसने प्रतोली (पोल) और वलभी (झरोखे) में विश्रांति दी'[४३] अर्थात् देहली और हांसी को जीत कर उसने अपना यश घर घर में फैलाया। देहली के शिवालिक स्तंभ पर के उसके लेख में हिमालय से विंध्य तक के देश को

४३ प्रतोल्यां च वलभ्यां च येन विश्रामितं यशः [।]
दिल्लिका ग्रहणश्रांतमाशिकालाभलंभितः (तं) ॥ २२ ॥
बीजोल्यां का लेख (छाप पर से)

विजय करना लिखा है [४४]। हांसी से मिले हुए पृथ्वीराज (पृथ्वीभट) दूसरे के वि० सं० १२२४ के शिलालेख से पाया जाता है कि उस समय वहाँ का प्रबन्धकर्त्ता उसका मामा गुहिल वंशी किल्हण था [४५]। ऐसे ही देहली का राज्य भी अजमेर के राजा के किसी रिश्तेदार या सामंत के अधिकार में होगा। 'तबकात्‌इ-नासिरी' में शहाबुद्दीन ग़ोरी के साथ की पहली लड़ाई में देहली के [राजा] गोविंदराज का पृथ्वीराज के साथ होना और उसी (गोविंदराज) के भाले से सुल्तान का घायल होकर लौटना तथा दूसरी लड़ाई में, जिसमें पृथ्वीराज की हार हुई, उस गोविंदराज का मारा जाना लिखा है [४६]। इससे निश्चित है कि पृ०वीराज (तीसरे) के समय देहली अजमेर के उक्त सामंत के अधिकार में थी। 'तारीख फरिश्ता' में भी वैसा ही लिखा है परन्तु उसमें गोविंदराज के स्थान पर खांडेराव नाम दिया है जो फ़ारसी अक्षरों के दोष से ही मूल से भिन्न हुआ है।

पृथ्वीराज की माता का नाम कमला नहीं किन्तु कर्पूरदेवी था और वह देहली के राजा अनंगपाल की पुत्री नहीं किन्तु त्रिपुरी (चेदि देश की राजधानी) के हैहय (कलचुरी) वंशी राजा तेजल या अचलराज की पुत्री थी (देखो ऊपर) नयचंद्र सूरि ने भी अपने 'हंमीर महाकाव्य' में पृथ्वीराज की माता का नाम कर्पूरदेवी [४७] ही किया है।

---

४४ आविंध्यादाहिमाद्रेर्वि रचितविजयस्तीर्थयात्रा प्रसंगात्

इंडि० एँटि०, जि० १९

४५ चाहमानान्वये जातः पृथ्वीराजो महीपतिः।
तन्मातुश्चाभवत्भ्राता किल्हणः कीर्त्तिवर्द्धनः ॥ २ ॥
गुहिलौतान्वयव्योममंडनैकशरच्छशी।

वही, जि० ४१, पृ० १९

४६ तबकात्-इ-नासिरी का अंग्रेज़ी अनुवाद (मेजर रावर्टी का किया हुआ), पृ०४५९-६८।

४७ इलाविलासी जयति स्म तस्मात् सोमेश्वरोऽनश्वरनीति रीतिः ॥ ६७ ॥
कर्पूरदेवीति बभूव तस्य प्रिया [प्रिया] राधन सावधाना।···॥ ७२ ॥

हंमीरमहाकाव्य, सर्ग २

जब विग्रहराज (वीसलदेव) चौथे के समय से ही देहली का राज्य अजमेर के चौहानों के अधीन हो गया था और पृथ्वीराज अनंगपाल तंवर का भानजा ही न था तो उसका अपने नाना के यहाँ देहली गोद जाना कैसे सभंव हो सकता है? यदि पृथ्वीराज का देहली गोद जाना हुआ होता तो फिर अजमेर के राज्य पर उसका अधिकार ही कैसे रहता ? पृथ्वीराज के राजत्वकाल के कई एक शिलालेख मिले हैं, जिनमें से महोवे की विजय के लेखों को छोड़ कर बाकी सबके सब अजमेर के राज्य में से ही मिले हैं। उनसे भी निश्चित है कि पृथ्वीराज की राजधानी अजमेर ही थी न कि देहली। देहली का गौरव मुसलमानी समय में ही बढ़ा है। उसके पहले विग्रहराज के समय से ही देहली चौहानों के महाराज्य का एक सूबा था। चौहानों की राजधानी अजमेर थी, प्रांत के नाम से वे सपादलक्षेश्वर कहलाते थे और पुरखाओं की राजधानी के नाम से शाकंभरीश्वर।

कैमास युद्ध

'पृथ्वीराजरासे' में लिखा है कि "शहाबुद्दीन गोरी देहली पर चढ़ाई करने के इरादे से चढ़ा और सिंधु नदी के इस किनारे संवत ११४० चैत्रवदि ११ को आ जमा इसकी खबर आने पर पृथ्वीराज ने अपने मन्त्री कैमास को बड़ी सेना और सामन्तों के साथ उससे लड़ने को भेजा। तीन दिन की लड़ाई के बाद कैमास शत्रु को पकड़ कर पृथ्वीराज के पास ले आया। पृथ्वीराज ने १२ हाथी और १०० घोड़े दंड लेकर उसे छोड़ दिया।" यह घटना भी कल्पित ही है, क्योंकि यदि उस संवत को अनंद विक्रम संवत माने तो प्रचलित विक्रम संवत (११४० + ९०-९१=) १२३०-३१ होता है। उस समय तक तो पृथ्वीराज राजा भी नहीं हुआ था और बालक था। शहाबुद्दीन गोरी उस समय तक हिंदुस्तान में आया भी नहीं था। गज़नी और हेरात के बीच गोर का एक छोटा सा राज्य था, जिसकी राजधानी फ़ीरोज कोह थी। हिजरी सन् ५५८ (वि० सं० १२२०-२१) में वहाँ के मालिक सैफुद्दीन के पीछे उसके चचेरे भाई गियासुद्दीन मुहम्मद गोरी ने, जो बहाउद्दीन सामका बेटा था, वहाँ का राज्य पाया। उसका छोटा भाई शहाबुद्दीन गोरी था, जिसको उसने अपना सेनापति बनाया। हि० स० ५६९ (वि० सं० १२३०-३१) में शहाबुद्दीन ने ग़ज़ों से ग़ज़नी छीनी जिससे उसके बड़े भाई ने उसको ग़ज़नी का हाकिम बनाया। हि० स० ५७१ (वि० सं० १२३२-३३ में हिंदुस्तान पर शहाबुद्दीन

ने चढ़ाई कर मुलतान लिया[४८]। इसके पहले उसकी कोई चढ़ाई हिंदुस्तान पर नहीं हुई थी। ऐसी दशा में वि० सं० १२३०-३१ में पृथ्वीराज के मंत्री कैमास से उसका हार कर क़ैद होना विश्वास योग्य नहीं है।

इसमें संदेह नहीं कि कैमास (कदंबवास) पृथ्वीराज का मंत्री था। राजपूताने में "कैमासबुद्धि" कहावत होगई है। 'पृथ्वीराजविजय' में उसकी बहुत प्रशंसा की है और लिखा है कि उसकी रक्षकता और सुप्रबन्ध से पृथ्वीराज बालक से युवा हुआ[४९]। उसी समय पृथ्वीराज के नाना का भाई भुवनैकमल्ल भी अजमेर में आगया और उसके आने पर हरिराज युवा हुआ[५०]। इन दोनों-कदंबवास और भुवनैकमल्ल-की बुद्धि तथा वीरता से राजकाज चलता था।

जैसे पितृ वैरि जगद्देव के पुत्र पृथ्वीभट ने विग्रहराज (वीसलदेव) के पीछे उसके पुत्र अपरगांगेय से राज छीन लिया, वैसे सुधवा के वंश ने फिर कांचनदेवी के वंश से राज छीनने का यत्न किया हो। मंत्री जब सोमेश्वर को ले आए, उस समय विग्रहराज का पुत्र नागार्जुन बहुत छोटा रहा हो, किंतु अब पृथ्वीराज की प्रबलता होने पर उसने विरोध का झंडा उठा कर गुडपुर का क़िला अपने हाथ कर लिया। यह गुडपुर संभव है कि दिल्ली के पास का गुडगांव हो और नागार्जुन पहले वहाँ का अजमेर की ओर से शासक हो, क्योंकि उसकी

---

४८ तबक़ात-इ-नासिरी, पृ० ४४८-४९।

४९ स कदम्बवास इति वासवादिभिः स्पृहणीयधीर्व्यसनमध्यपातिभिः।
अवगाहते सहचरसुमन्त्रिताम् परिरक्षितु क्षितिधरस्य सद्गुणान् ॥ (षड्गुणान्) ॥ [३७]
सचिवेन तेन सकलासु युक्तिषु प्रवणेन तत्क्रिमपि कर्म निर्ममे।
मुखपुष्करं शिशुतमस्य यत्प्रभोः परिचुम्ब्यते स्मनवयौवनश्रिया ॥ [४४]
पृथ्वीराजविजय, सर्ग ९।

५० स पुनर्मदग्रज सुतासुतो भवन्द्विभुजोपि रक्षति चराचरं जगत्।
इति वार्तया कृतकुतूहलः क्रमाद् भुवनैकमल्ल इति बन्धुरायगौ ॥ [६८]
प्राज्यप्रजाभ्युदयवर्धनदक्ष [चित्ते दैवातिशायिबलयुग्भुव] नैकमल्ले।
संकीर्णबाल्ययुवभावगुणानुभाव पस्पर्श नर्महरता हरि [राजदेवम्] ॥ [८५]
वही, सर्ग ९,

माता भी वहीं रहती थी। पृथ्वीराज ने कदंबवास और भुवनैकमल्ल को साथ न लेकर स्वयं ही उस पर आक्रमण किया, क़िला घिर जाने पर नागार्जुन भाग गया और पृथ्वीराज उसकी माता को बंदी करके ले आया[५१]।

गोरी ने, जिसने पश्चिमोत्तर दिशा के बलवान् हयपति का गर्जन छीन लिया था, पृथ्वीराज के पास भी दूत भेजा। यह गोरी, राजमंडल की श्री के लिये राहु बनकर आया हुआ कहा गया है। फिर दूत वर्णन देकर 'पृथ्वीराजविजय' में लिखा है कि गूर्जरों के नड्वल (नाडोल, मारवाड़ में) नामक दुर्ग पर गोरियों ने आक्रमण किया, जहाँ सब राज्यांग छिप गए थे। पृथ्वीराज को इस पर क्रोध आया, किंतु कदंबवास ने कहा कि आपके शत्रु सुंदोपसुंद न्याय से स्वयं नष्ट हो जायँगे, आप क्रोध न कीजिए। इतने ही में गूर्जर देश से पत्र लेकर दूत आया, जिससे जाना गया कि गोरी को गुर्जरों ने हरा कर भगा दिया है[५२]। बिजोलियाँ के लेख से पाया

---

५१ अथ कुविधियटच्छयेव नागार्जुन इति निन्दितमित्युयोग्यनामा।
निगडगृहपरिग्रहाय मातुर्गेह इव विग्रहराजवल्लभायाः ॥ [७]
पितुरखिलनृपाविलङ्घ्याभाग्यादभुतवलनिर्मथनैकवीरजन्मा।
गुडपुरमिति दुर्गमध्यरोहन्मधुररसाहृतिदोहृदेन वालः ॥[८]
गुडपुरमथ वेष्टयांचकार क्षितिपतिरुद्धतयुद्धतत्त्वदर्शी ॥[३०]
दयितमपि विमुच्य वीरधर्म क्वचिदपि विग्रहराजभूरयासीत् ॥[३२]
सममहितममहीपतेर्जनन्या सुभटघटाः प्रभुरानिनायबध्वा ॥[३६]

५२ मरुदिव दिशि पश्चिमोत्तरायाममतिबलवानधिपस्समस्त एव।
तदुपरि परमार्थपौरुष [ध्यो हय] पतिरेव तिरस्करोति सर्वान् ॥ [३९]
तमपि मुषितगर्जनाधिकारं विरसलघुं शारदभ्रवद्व्यधाद्यः।
कदशनकुशलो गवामरिस्त्वासमुदितगोरिपदापदेशमुद्रः ॥ [४०]
स किल सकलराजमण्ड [लश्री]व्ययवधिविधानविधुन्तुदत्वमैच्छत् ॥ [४१]
[व्यसृ]जदजयमेरुमेरुभूभृत्कुहरहरेरपि दूतमेकमग्रे ॥ [४२]

याजावद्राजाङ्गान्यपि दुर्गाणि मग्नानीत्यर्थः। भयात्सर्वे दुर्गं प्रविष्टा [इ]ति

जाता है कि वीसलदेव (विग्रहराज) ने (नड्डुल) पाली आदि को बर्बाद किया था,[५३]। इसलिये वहाँ वाले भी चौहानों के शत्रु थे। सुंदोपसुंद न्याय कहने का यही तात्पर्य है। गोरी का हमला गूर्जरों[५४] के अधिकार के नड्डूल पर भी हुआ हो। किंतु उसका पहला हमला हिन्दुस्तान की भूमि पर हि० स० ५६१[5] (वि० सं० १२३२-३) में हुआ और उसके पहले कैमास का उससे लड़ने जाकर उसे (अनंद संवत् ११४०=वि० सं० १२३०-३१) में हरा आना असंभव है।

पृथ्वीराज का कन्नोज जाना

'पृथ्वीराजरासे' में लिखा है कि 'कन्नौज के राजा विजयपाल ने देहली के

तात्पर्यम् (श्लोक ४८ पर जनराज की टीका, श्लोक नहीं रहा)।

पृथ्वीराजस्य तावन्निखिलदिगभयारम्भसंरम्भसीमा-
भीमा भ्रूभङ्गभङ्गी विरचनसमयं कार्मुकस्याचचक्षे ॥ [५०]

पृथ्वीराजविजय, सर्ग १०।

राजन्नवसरो नायं रुपां भाग्य निधे स्तव।...[४]
सुन्दोपसुन्दुमंज्ञया ते स्वयं नंक्ष्यंति शत्रवः ॥ [५]
लेखहस्तःपुमान्प्राप्तो देव गूर्जरमण्डलात् ॥ [७]
गूर्जरोपन्नमाचख्यौ घोरं गोरिपराभवम् ॥ [६]

वही, सर्ग ११।

५३ जावालिपुरं ज्वलापुरं कृता पल्लिकापि पल्लीव।
नड्वलतुल्यं रोषान्नड्ड (ड्डू) लं येन सौ (शौ) र्येण ॥ २१ ॥

(बीजोलियाँ का लेख)

५४ विग्रहराज से लेकर शहाबुद्दीन की चढ़ाई के समय तक नाडोल, पाली आदि पर नाडोल के चौहानों का अधिकार था। पृथ्वीराजविजय में उस प्रदेश को गूर्जरमंडल कहा है। हुएन्तसंग भी भीनमाल के इलाके को, जो नाडोल से बहुत दूर नहीं है, गूर्जर देश कहता है। नाडोल का प्रदेश इस गूर्जर प्रांत के अन्तर्गत होने से अथवा वर्तमान गुजरात देश के अधीन हो जाने से वहाँ वाले गुर्जर कहे गए हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि नाडोल उस समय गूर्जर जाति के अधिकार में था।

तंवर राजा अनंगपाल पर चढ़ाई की; परन्तु चौहान सोमेश्वर और अनंगपाल की सेना से वह पराजित हुआ, जिसके पीछे विजयपाल ने अनंगपाल की दूसरी कन्या सुन्दरी से विवाह किया। उसका पुत्र जयचंद हुआ। विजयपाल ने दिग्विजय करते हुए पूर्वी समुद्र तट पर कटक के सोमवंशी राजा मुकुन्ददेव पर चढ़ाई की। उसने उसका बड़ा स्वागत किया और बहुत से धन के साथ अपनी पुत्री भी उसके भेंट करदी। इसका विवाह विजयपाल ने अपने पुत्र जयचंद के साथ कर दिया और उसके संयोगता नामक कन्या हुई। विजयपाल वहाँ से आगे बढ़ कर सेतुबंध तक पहुंचा। वहाँ से लौटते हुए उसने तैलंग, कर्णाट, मिथिला, पुंगल, आसेर, गुंड, मगध, कलिंग आदि के राजाओं को जीतकर पट्टनपुर (अनहिलवाड़े) के राजा भोला भीम पर चढ़ाई की। भीम ने अपने पुत्र के साथ नजराना भेजकर उसे लौटा दिया। इस प्रकार सब राजाओं को उसने जीत लिया, परन्तु अजमेर के चौहान राजा ने उसकी अधीनता स्वीकार न की। विजयपाल के पीछे उसका पुत्र जयचंद कन्नौज का राजा हुआ। उसने राजसूय यज्ञ करना निश्चय कर सब राजाओं को उसमें उपस्थित होने के लिये बुलाया। उसने पृथ्वीराज को भी बुलावा भेजा; परन्तु उसने उसकी अधीनता न मान कर वहाँ जाना स्वीकार न किया, इतना ही नहीं; किन्तु जयचन्द की धृष्टता से क्रुद्ध होकर उसके भाई बालुकराय पर चढ़ाई कर दी। उसने बालुकराय के इलाके को उजाड़ कर उसके मुख्य नगर खोखंदपुर को लूटा और लड़ाई में उसको मार डाला। उसकी स्त्री रोती हुई कन्नौज में जयचन्द के पास पहुंची और उसने चौहान के द्वारा अपने सर्वनाश होने का हाल कहा। जयचन्द ने पृथ्वीराज पर चढ़ाई करने का विचार किया, परन्तु उसके सलाहकारों ने यह सलाह दी कि मेवाड़ के राजा समरसिंह को अपने पक्ष में लिए बिना पृथ्वीराज को जीतना कठिन है। इसपर उसने रावल समरसिंह को यज्ञ में बुलाने के लिये पत्र लिखा और बहुत कुछ लालच भी बतलाया, परन्तु उसने एक न मानी। इस पर जयचन्द ने समरसिंह और पृथ्वीराज दोनों पर चढ़ाई करना निश्चय किया और पृथ्वीराज से अपने नाना अनंगपाल का देहली का आधा राज्य भी लेना चाहा। फिर उसने अपनी सेना के दो विभाग कर एक को पृथ्वीराज पर देहली और दूसरे को समरसिंह पर चित्तौड़ भेजा। दोनों स्थानों से उसकी फौजे हार खाकर लौटी। पृथ्वीराज उसके यज्ञ में न गया, इसलिये उसने पृथ्वीराज की सोने की मूर्ति बनवा कर द्वारपाल की जगह खड़ी

करवाई। राजसूय के साथ जयचन्द की पुत्री संजोगता का स्वयंवर भी होने वाला था। उस राजकुमारी ने पृथ्वीराज की वीरता का हाल सुन रक्खा था जिससे उसी को अपना पति स्वीकार करने का दृढ़ निश्चय कर लिया था। स्वयंवर के समय उसने वरमाला पृथ्वीराज की उस मूर्ति के गले में डाली, जिस पर क्रुद्ध हो जयचन्द ने उसको गंगातट के एक महल में क़ैद कर लिया। इधर पृथ्वीराज ने अपनी मूर्ति द्वारपाल की जगह खड़ी किए जाने और संजोगता का अपने पर अनन्य प्रेम होने के समाचार पाकर कन्नौज पर चढ़ाई करदी। वहाँ पर भीषण युद्ध हुआ, जिसमें कन्नौज के राजा तथा उसके अनेक सामंतों आदि के दलबल का संहार कर पृथ्वीराज संजोगता को लेकर देहली लौटा। जयचंद, इससे बहुत ही लज्जित हुआ, किंतु पृथ्वीराज को देहली में आए दो दिन भी नहीं हुए थे कि जयचंद ने अपने पुरोहित श्रीकंठ को वहां भेज कर संजोगता के साथ पृथ्वीराज का विधि पूर्वक विवाह करा दिया।'

'रासे' में पृथ्वीराज के कन्नौज जाने का संवत् ११५१ दिया है जिसको अनंद विक्रम संवत् मान कर पंड्याजी ने सनंद (प्रचलित) विक्रम सं० (११५१ + ९०-९१=) १२४१-४१ में कन्नौज की लड़ाई होना माना है, परंतु कन्नौज की गद्दी पर विजयपाल (विजयचंद) के पुत्र जयचंद का बैठना, और उसका तथा पृथ्वीराज का उक्त संवत् में विद्यमान होना,-इन दो बातों को छोड़ कर ऊपर लिखा हुआ 'पृथ्वीराज रासे' का सारा कथन ही कल्पित है। सोमेश्वर के समय देहली पर अनंगपाल तंवर का राज्य ही न था क्योंकि विग्रहराज (वीसलदेव) चौथे के समय से ही देहली का राज्य तो अजमेर के चौहानों के अधिन होगया था (देखो ऊपर पृ० ४०५)। अतएव अनंगपाल की पुत्री सुन्दरी का विवाह विजयपाल के साथ होने का कथन वैसा ही कल्पित है, जैसा कि उसकी बड़ी पुत्री कमला का विवाह सोमेश्वर के साथ होने का। विजयपाल की अजमेर के चौहानों के सिवाय हिन्दुस्तान के सेतुबंध तक के सब राजाओं को जीतने की बात भी निमूल है। विजयपाल के समय कटक पर सोमवंशी मुकुन्ददेव का नहीं; किन्तु गंगावंशियों का राज्य था। ऐसे ही उसके समय पट्टनपुर (पाटन; अनहिलवाड़ा=गुजरात की राजधानी) का राजा भोला भीम नहीं; किन्तु कुमारपाल था; क्योंकि कन्नौज के विजयचन्द्र ने वि० सं० १२११

के अनंतर ही राज पाया, तथा ११२६ में उसका देहान्त हुआ[५५]। उधर गुजरात का राजा वि० सं० ११९९ से १२३० तक कुमारपाल था। भोला भीम तो वि० सं० १२३५ में बाल्यावस्था में राजा हुआ था। जयचन्द के समय मेवाड़ (चित्तौड़) का राजा रावल समरसी नहीं, किन्तु सामंतसिंह और उसका छोटा भाई कुमारसिंह थे[५६]। कुमारसिंह से पाँचवीं पुश्त में मेवाड़ का राजा समरसिंह हुआ[6], जो वि० सं० १३५८ तक तो जीवित था[५७]। ऐसे ही जयचन्द के राजसूय यज्ञ करने और संजोगता के स्वयंबर की कथा भी निरी कल्पित ही है। जयचन्द बड़ा ही दानी राजा था, उसके कई दान-पत्र अब तक मिल चुके हैं, जिनसे पाया जाता है कि वह प्रसंग प्रसंग पर भूमिदान किया करता था। यदि उसने राजसूय यज्ञ किया होता तो ऐसे महत्त्व के प्रसंग पर तो वह कितने ही गाँव दान करता, परन्तु उसके सम्बन्ध का न तो अब तक कोई दान पत्र मिला और न किसी शिलालेख या प्राचीन पुस्तक में उसका उल्लेख है। इसी तरह पृथ्वीराज और जयचन्द के बीच की कन्नौज की लड़ाई और संजोगता को लाने की कथा भी गढ़ंत ही है, क्योंकि उसका और कहीं उल्लेख नहीं मिलता। ग्वालियर के तोमर (तंवर) वंशी राजा वीरम के दरबार के प्रसिद्ध कवि नयचन्द्र सूरि ने वि० सं० १४४० के आस पास 'हंमीर महाकाव्य' रचा, जिसमें पृथ्वीराज का विस्तृत वृत्तांत दिया है। ऐसे ही उक्त कवि ने अपनी रची हुई, 'रंभामंजरी' नाटिका' का नायक जयचंद्र

---

५५ विजयचन्द्र के पिता गोविंदचन्द्र का अंतिम दान-पत्र वि०सं० १२११ का मिला है (एपि० इंडि० जिल्द ४, पृ० ११६) और विजयचन्द्र का सबसे पहला दान-पत्र वि०सं० १२२४ का है (एपि० इंडि०, जि० ४, पृ० ११८)। विजयचन्द्र का अंतिम दान-पत्र वि०सं० १२२५ का है, जिसमें जयचन्द्र को युवराज लिखा है (इंडि०एँटि०, जिल्द १५, पृष्ठ ९७) और जयचन्द्र का सबसे पहला दान-पत्र वि०सं० १२२६ का है, जिसमें उसके अभिषेक का उल्लेख है (एपि० इंडि०, जि० ४, पृ० १२१)।

५६ नागरीप्रचारिणी पत्रिका, नवीन संस्करण, भाग १, पृ० २५-२६।

५७ ओं ॥ संवत् १३५८ वर्षे माघ शुदि १० दशम्यां·········महाराजाधिराजश्रीसमरसिंह-[देवक]ल्याणविजयराज्ये। (चित्तौड़ के रामपोल दरवाजे के सामने नीम के पेड़वाले चबूतरे पर पड़ा हुआ शिलालेख, जो मुझे ता० १९-१२ १९२० को मिला, अप्रकाशित)।

को बनाया है और जयचन्द्र के विशेषणों से लगभग दो पत्रे भरे हैं; परन्तु उन दोनों काव्यों में कहीं भी पृथ्वीराज का और जयचन्द्र के बीच की लड़ाई, जयचन्द के राजसूय यज्ञ या संजोगता के स्वयंबर का उल्लेख नहीं किया। इससे यही पाया जाता है कि वि० सं० १४४० के आस-पास तक तो ये कथाएं गढ़ी नहीं गई थीं। ऐसी दशा में वि० सं० १२४१-४२ में पृथ्वीराज के कन्नौज जाकर जयचन्द से भीषण युद्ध करने का कथन भी मानने के योग्य नहीं।[7]

अंतिम लड़ाई

इस लड़ाई का संवत् 'पृथ्वीराजरासे' में ११५८ दिया है जिसको अनंद संवत् मानने से इस लड़ाई का वि० सं० (११५८+९०—९१=) १२४८-४९ में में होना निश्चित होता है। शहाबुद्दीन और पृथ्वीराज के बीच की दूसरी लड़ाई का इसी वर्ष होना फ़ारसी तवारीख़ों से भी सिद्ध है। इसी लड़ाई के बाद थोड़े ही दिनों में पृथ्वीराज मारा गया, परन्तु इस पर से यह नहीं माना जा सकता कि अनंद विक्रम संवत् की कल्पना ठीक है; क्योंकि पंड्याजी का सारा यत्न इसी एक संवत् को मिलाने के लिये ही हुआ है। 'पृथ्वीराजरासे' के अनुसार पृथ्वीराज का देहांत (१११५+४३=) ११५८ में होना पाया जाता है। यह संवत् उक्त घटना के शुद्ध संवत् से ९१ वर्ष पहले का होता है। इसी अन्तर को मिटाने के लिये पंड्याजी को पहले 'भटायत संवत्' खड़ा कर उसका प्रचलित विक्रम सं० से १०० वर्ष पीछे चलना मानना पड़ा। परंतु वैसा करने से पृथ्वीराज की मृत्यु वि० सं० १११५+४३+१००=) १२५८ में आती थी। यह संवत् शुद्ध संवत् से ९ वर्ष पीछे पड़ता था। जिससे पृथ्वीराज के जन्म संवत् संबंधी 'रासे' के दोहे के पद 'पंचदह' (पंचदश) का अर्थ पंड्याजी को 'पांच' कर पृथ्वीराज की मृत्यु वि० सं० १२४८ में बतलानी पड़ी। जब 'पंचदह' का अर्थ 'पांच' करना लोगों ने स्वीकार न किया, तब पंड्याजी ने उक्त दोहे के 'विक्रम शाक अनंद' से 'अनंद' का अर्थ 'नवरहित' और उस पर से 'नवरहित सौ' अर्थात् ९१ करके अनंद विक्रम संवत् का सनंद विक्रम संवत् से ९०। ९१ वर्ष पीछे प्रारंभ होना मान लिया, इतना ही नहीं परंतु 'पृथ्वीराजरासे' तथा चौहानों की ख्यातों आदि में दिए हुए जिन भिन्न-भिन्न घटनाओं के संवतों में १०० वर्ष मिलाने से उनका शुद्ध संवतों से मिल जाना पहले बतलाया था, उन्हीं का फिर ९१ वर्ष मिलाने से शुद्ध संवतों से मिल जाना बतलाना पड़ा।

परंतु एक ही अशुद्ध संवत् एक बार सौ वर्ष मिलाने और दूसरी बार ९०-९१ वर्ष मिलाने से शुद्ध संवत् बन जाय इस कथन को इतिहास स्वीकार नहीं कर सकता। इससे संवत् के सर्वथा अशुद्ध होने तथा ऐसा कहने वाले की विलक्षण बुद्धि का ही प्रमाण मिलता है। 'पृथ्वीराजरासे' के अनुसार वि० सं० ११५८ पृथ्वीराज की मृत्यु का संवत् नहीं, किंतु लड़ाई का संवत है। मृत्यु के विषय में तो यह लिखा है कि "सुल्तान पृथ्वीराज को कैद कर ग़ज़नी लेगया। वहाँ उसने उसकी आँखें निकलवा डाली। फिर चंद योगी का भेष धारण कर ग़ज़नी पहुंचा और उसने सुल्तान से मिल कर उसको पृथ्वीराज की तीरंदाजी देखने को उत्सुक किया। पृथ्वीराज ने चंद के संकेत के अनुसार बाण चलाकर सुल्तान का काम तमाम किया। फिर चंद ने अपने जुड़े में से छुरी निकालकर उससे अपना पेट चाक किया और उसे राजा को देदिया। पृथ्वीराज ने भी वही छुरी अपने कलेजे में भोंकली। इस प्रकार शहाबुद्दीन, पृथ्वीराज और चंद की मृत्यु हुई। पृथ्वीराज के पीछे उसका पुत्र रेणसी दिल्ली की गद्दी पर बैठा"। यह सारा कथन भी कल्पित है; क्योंकि शहाबुद्दीन की मृत्यु पृथ्वीराज के हाथ से नहीं, किंतु हिजरी सन् ६०२ तारीख २ शाबान (वि० सं० १२६३ चैत्र सुदि ३) को गक्खरों के हाथ से हुई थी। वह जब गक्खरों को परास्त कर लाहौर से ग़ज़नी को जा रहा था। उस समय धमेक के पास नदी के किनारे बाग़ में नमाज़ पढ़ता हुआ मारा गया। इसी तरह पृथ्वीराज के पीछे उसका पुत्र रेणसी देहली की गद्दी पर नहीं बैठा। किंतु उसके पुत्र गोविंदराज को शहाबुद्दीन ने अजमेर का राजा बनाया था। उसने शहाबुद्दीन की अधीनता स्वीकार की, इसको न सह कर पृथ्वीराज के भाई हरिराज ने उससे अजमेर छीन लिया और गोविंदराज रणथंभोर में जा बसा।

यहां तक तो पंड्याजी के दिए हुए पृथ्वीराजरासे के संवतों क च हुई। अब उनके मिलाए हुए चौहानों के ख्यातो के संवतों की जांच की जाती है।

अस्थिपाल का आसेर प्राप्त करना

पंड्याजी कर्नल टॉड के कथनानुसार अस्थिपाल के आसेर प्राप्त करने का संवत् ९८१ बतलाते हैं। वे उसको भटायत संवत् मान कर उसका शुद्ध संवत् १०८१ मानते हैं। चौहानों की ख्यातों के आधार पर मिश्रण सूर्यमल्ल के 'वंश-

भास्कर' तथा उसी के सारांश रूप 'वंशप्रकाश' में चौहानों की वंशावली दी गई हैं। उनसे पाया जाता है कि 'चाहमान (चौहान) से १४२ वीं पुश्त में ईश्वर हुआ, उसके ८ पुत्रों में से सब से बड़ा उमादत्त तो अपने पिता के पीछे सांभर का राजा हुआ और आठवें पुत्र चित्रराज के चौथे बेटे मौरिक से मोरी (मौर्य) वंश चला। चित्रांग नामक मोरी ने चित्तौड़ का किला बनवाया। ईश्वर के पीछे उमादत्त, चतुर और सोमेश्वर क्रमशः सांभर के राजा हुए। सोमेश्वर के दो पुत्र भरथ और उरथ हुए। भरत से २१ वीं पुश्त में सोमेश्वर हुआ, जिसने देहली के राजा अनंगपाल की पुत्री से विवाह किया, जिससे संवत् १११५ में पृथ्वीराज का जन्म हुआ। उधर उरथ से १० वीं पुश्त में भौमचंद्र हुआ जिसको चन्द्रसेन भी कहते थे। चंद्रसेन (भौमचंद्र) का पुत्र भानुराज हुआ, *जिसका जन्म सं० ४८१ में हुआ*[५८]। वह अपने साथियों के साथ जंगल में खेल रहा था, उस समय गंभीरारंभ राक्षस उसको खा गया; परन्तु उसकी कुलदेवी आशापुरा ने उसकी अस्थियाँ एकत्र कर उसे फिर जीवित कर दिया, जिससे उसका दूसरा नाम अस्थिपाल हुआ। उसके वंशज अस्थि अर्थात् हड्डियों पर से हाडा कहलाए। गुजरात की राजधानी अनहिलपुर पाटण (अनहिलवाडे) के राजा गहिलकर्ण (कर्ण घेला, गहिल=पागल; गुजराती में पागल को 'घेला', राजस्थानी में 'गहला' कहते हैं) के पुत्र जयसिंह का जन्म वि० सं० ४४१ में हुआ[५९]। गहिलकर्ण के पीछे वह गुजरात का राजा हुआ। उसने अपने

---

५८ वंशप्रकाश में १४८१ छपा है (पृ० ५३), जो अशुद्ध है। वंशभास्कर में ४८१ ही है (सक जँहँ विक्रमराज को, वसुधा वारन वेद ४८१। भौमचन्द सुत तँहँ भयो, अरिन करन उच्छेद—वंश भास्कर,-पृ० १४३६)।

५९ अनिहलपट्टन नैर इत, जनपद गुज्जरजत्थ।
गहिलकर्ण चालुक्यके, सुत जो कहिय समत्थ ॥ ६ ॥
सोहु जनक जब स्वर्ग गो, भो तब पट्टनि भूप।
जास नाम जयसिंह जिहिं, राज्य करिय अनुरूप ॥ ७ ॥
क्रम पढि मात्र कलंदिका, जोग रीति सब जानि।
सिद्धराज यह नाम जिहिं, पायो उचित प्रमानि ॥ ८ ॥
जहँ सक विक्रमराज को, ससि चउवेद ४४१ समत्त।

पूर्वज कुमारपाल की तरह जैनधर्म स्वीकार किया और व्याकरण (अष्टाध्यायी), अनेकार्थ नाममाला, परिशिष्टपद्धति (परिशिष्टपर्व), योगसार आदि अनेक ग्रंथों के कर्त्ता श्वेतांबर जैन सूरि हेमचंद्र को अपना गुरु माना। जयसिंह के गोभिलराज आदि ८ पुत्र हुए। गोभिलराज जयसिंह के पीछे गुजरात का राजा हुआ। चौहान -अस्थिपाल ने गोभिलराज पर चढ़ाई की, गोभिलराज की हार हुई और अंत में दो करोड़ द्रम्म देकर उसने अस्थिपाल से सुलह करली। फिर अस्थिपाल ने मोरवी (काठिआवाड़ में) के झाला कुबेर की पुत्री उमा के साथ विवाह किया, भुज (कच्छ की राजधानी) के यादव राजा भीम को दंड दिया और वह अनेक देशों को विजय कर अपने पिता के पास आया। अपने पिता (भौमचंद्र) के पीछे वह आसेर का राजा हुआ।"

चौहानों की ख्यातों के आधार पर लिखा हुआ ऊपर का सारा वृत्तांत कल्पित है; क्योंकि उसके अनुसार मोरी या मौर्य वश के प्रवर्तक का चाहमान (चौहान) से १४३ वीं पुश्त में होना मानना पड़ता है, जो असम्भव है। मौर्य वंश को उन्नति देने वाला चन्द्रगुप्त ई० सं० पूर्व की चौथी शताब्दी में हुआ तो चाहमान को उससे अनुमान ३००० वर्ष पूर्व मानना पड़ेगा। यदि चाहमान इतना पुराना होता तो पुराणों में उसकी वंशावली अवश्य मिलती। चाहमान का अस्तित्व ई० स० की सातवीं शताब्दी के आसपास माना जाता है। चौहानों के प्राचीन शिलालेखों, दानपत्रों, एवं पृथ्वीराजविजय, हंमीरमहाकाव्य, सुर्जनचरित आदि ऐतिहासिक पुस्तकों में कहीं भी भरथ और उरथ के नाम नहीं मिलते। गुजरात के सोलंकियों में कर्ण नाम के दो राजा हुए। एक तो जयसिंह (सिद्धराज) का पिता, जिसने वि० सं० ११२० से ११५० तक राज्य किया और दूसरा बाघेला (व्याघ्रपल्लीय सोलंकियों की एक शाखा) कर्ण हुआ, जो मारंगदेव का पुत्र था और जिसको गुजरात के इतिहास-लेखक कर्ण घेला (पागल) कहते हैं। उसने वि० सं० १३५२ से १३५६ से कुछ पीछे तक राज्य किया और उसी से गुजरात का राज्य मुसलमानों ने छीना। जयसिंह (सिद्धराज) का पिता कभी 'घेला' नहीं कहलाया; परंतु भाटों को अंतिम कर्ण का स्मरण था, जिससे जयसिंह के पिता को

जनम तत्थ जयसिंह को, नृप जानहु अनुरत्त ॥ ६ ॥

वंशभास्कर, पृ० १४२४।

भी गहल (घेला) लिख दिया। जयसिंह का जन्म वि० सं० ४४१ में नहीं हुआ, किंतु उसने वि० सं० ११५० से ११६६ तक राज्य किया था। जयसिंह के गोभिलराज आदि आठ पुत्रों का होना तो दूर रहा, उसके एक भी पुत्र नहीं हुआ। कुमारपाल जयसिंह का पूर्व पुरुष नहीं; किंतु कुटुंब में भतीजा था और जयसिंह के पुत्र न होने के कारण वह उसका उत्तराधिकारी हुआ। ऐसी दशा में अस्थिपाल का वि० सं० ४८१ (वंशभास्कर के अनुसार) या ६८१ (कर्नल टॉड और पंड्याजी के अनुसार) में होना सर्वथा असंभव है। भाटों की वंशावलियां देखने से अनुमान होता है कि ई० स० की १५ वीं शताब्दी के आस-पास उन्होंने उसका लिखना शुरु किया और प्राचीन इतिहास का उनको ज्ञान न होने के कारण उन्होंने पहले के सैंकड़ों नाम उनमें कल्पित धरे। ऐसे ही उनके पुराने साल संवत् भी कल्पित ही सिद्ध होते हैं। चौहानों में अस्थिपाल नामका कोई राजा ही नहीं हुआ। हाड़ा नाम की उत्पत्ति तक से परिचित न होने के कारण भाटों ने अस्थिपाल नाम घढंत किया है। उनको इस बात का भी पता न था कि चौहानों की हाड़ा शाखा किस पुरुष से चली। मूंहणोत नैणसी ने अपनी ख्यात में लिखा है कि "नाडोल के राजा राव लाखण (लक्ष्मण) के वंश में आसराज (अश्वराज) हुआ, जिसका पुत्र माणवराव हुआ। उसके पीछे क्रमशः सभराण, जैतराव, अनंगराव, कुंतसीह (कुंतसिंह), विजैपाल, हाडो (हरराज) बांगो (बंगदेव) और देवो (देवीसिंह) हुए। देवो ने मीणों से बूंदी छीन ली[६०]।" नैणसी का लेख भाटों की ख्यातों से अधिक विश्वास योग्य है। उक्त हाड़ा (हरराज) के वंशज हाड़ा कहलाए हैं। नाडोल के आसराज (अश्वराज) के समय का एक शिलालेख वि० सं० ११६७ का मिल चुका है[६१]। अतएव उसके सातवें वंशधर हाड़ा का वि० सं० १३०० के आसपास विद्यमान होना अनुमान किया जा सकता है। उसी हाड़ा (हरराज) के लिये भाटों ने अनेक कृत्रिम नामों के साथ अस्थिपाल नाम भी कल्पित किया है।

वीसलदेव का अनहिलपुर प्राप्त करना।

कर्नल टॉड और पंड्याजी ने वीसलदेव के अनहिलपुर प्राप्त (विजय) करने

६० मूंहणोत नैंणसी की ख्यात (हस्तलिखित), पत्र २०, पृ० २।

६१ एपि० इंडि० जि० ११, पृ० २६।

का संवत् ६८६ लिखा है, उसको भटायत संवत् मानने से प्रचलित वि० सं० १०८६ और अनंद विक्रम संवत् मानने से वि० सं० १०७६=७७ होता है। चौहानों के बोजोल्यां आदि के शिलालेखों तथा 'पृथ्वीराजविजय' आदि ऐतिहासिक पुस्तकों से सांभर तथा अजमेर के चौहानों में विग्रहराज या वीसलदेव नाम के चार राजाओं का होना पाया जाता है; परन्तु भाटों की वंशावलियों में केवल एक ही वीसलदेव नाम मिलता है। जिस विग्रहराज (वीसलदेव) ने गुजरात पर चढ़ाई की, वह विग्रहराज (वीसलदेव) दूसरा था; जिसके समय का हर्षनाथ (शेखावाटी में) का वि० सं० १०३० का शिलालेख भी मिल चुका है। 'पृथ्वीराजविजय' में उक्त चढ़ाई के संबंध में लिखा है कि "विग्रहराज की सेना ने बड़ी भक्ति के कारण बाणलिंग ले लेकर नर्मदा नदी को अनर्मदा (बाणलिंगरहित) बना दिया। गुर्जर (गुजरात के राजा) मूलराज ने तपस्वी की नांई यशरूपी वस्त्र को छोड़कर कंथा दुर्ग (कंथकोट का किला, कच्छ में,तपस्वी के पक्ष में कंथा अर्थात गुदड़ी) में प्रवेश किया। विग्रहराज ने भृगु कच्छ (भड़ौंच) में आशापुरी देवी का मंदिर बनवाया[६२]"। इस से पाया जाता है कि विग्रहराज (वीसलदेव) क चढ़ाई गुजरात के राजा मूलराज पर हुई थी। मूलराज भाग कर कच्छ के कंथकोट के किले में जा रहा और विग्रहराज (वीसलदेव) आगे बढ़ता हुआ भड़ौंच तक पहुंच गया। मेरुतुंग ने अपने 'प्रबन्धचिंतामणि' में इस चढ़ाई का जो वृत्तांत दिया है, उसका

---

६२ सूनुर्विग्रहराजोऽस्य सापराधानपि द्विषः।
दुर्बला इत्यानुध्यायन्नक्षत्रिय इवाभवत् ॥ [४७॥]

ग्रहणद्भिः परया भक्त्या बाणलिङ्ग परंपराः।
अनर्मदेव यत्सैन्यैर्निरमीयत नर्मदा ॥ [५०॥]

त्यक्तं तपस्विना [स्वच्छं] यशोंशुक मितीवयः।
गूर्जरं मूलराजाख्यं कंथादुर्गमवीविशत् ॥ [५१॥]

व्यधादाशापुरीदेव्या भृगुकच्छे सधाम तत्।
यद्रेवास्पृष्ट सोपानं चन्द्रश्चु'वति मूर्धनी ॥ [५३॥]

पृथ्वीराजविजय, सर्ग ५।

सारांश यह है कि "एक समय सपादलक्षीय[६३] (चौहान) राजा युद्ध करने की इच्छा से गुजरात की सीमा पर चढ़ आया। उसी समय तैलंग देश के राजा सेनापति बारप ने भी मूलराज पर चढ़ाई करदी। मूलराज अपने मंत्रियों की इस सलाह से कि जब नवरात्र आते ही सपादलक्षीय राजा अपनी कुलदेवी का पूजन करने के लिये अपनी राजधानी शाकंभरी (सांभर) को चला जायगा, तब बारप को जीत लेंगे, कंथादुर्ग (कंथकोट में) में जा रहा; परंतु चौहान ने गुजरात में ही चातुर्मास व्यतीत किया और नवरात्र आने पर वहीं शाकंभरी नामक नगर बसा, अपनी कुलदेवी की मूर्ति मँगवा कर वहीं नवरात्र उत्सव किया। इस पर मूलराज अचानक चौहान राजा के सैन्य में पहुंचा और हाथ में खड्ग लिए अकेला उसके तंबू के द्वार पर जा खड़ा हुआ। उसने द्वारपाल से कहा कि अपने राजा को खबर दो कि मूलराज आता है। मूलराज भीतर गया तो राजा ने पूछा कि, 'आप ही मूलराज हैं? मूलराज ने उत्तर दिया कि 'हां'। इतने में पहले से संकेत पर तय्यार रक्खे हुए ४००० पैदलों ने राजा के तंबू को घेर लिया और मूलराज ने चौहान राजा से कहा कि "इस भूमंडल में मेरे साथ लड़ने वाला कोई वीर पुरुष है या नहीं, इसका मैं विचार कर रहा था। इतने में तो आप मेरी इच्छा के अनुसार आमिले, परंतु भोजन में जैसे मक्खी गिर जाय वैसे तैलंग देश के राजा तैलप का सेनापति मुझ पर चढ़ाई कर इस युद्ध के बीच विघ्न सा होगया है, इसलिये जब तक मैं उसको शिक्षा न दे लूं, तब तक आप ठहर जावें; पीछे से हमला करने की चेष्टा न करें। मैं इससे निपट कर आप से लड़ने को तय्यार हूँ।" इस पर चौहान राजा ने कहा कि आप राजा होने पर भी एक सामान्य पैदल की नांई अपने प्राण की पर्वाह न कर शत्रु के घर में अकेले चले आते हो; इसलिये मैं जीवन पर्यंत आप से मैत्री करता हूं।" मूलराज वहाँ से चला और बारप की सेना पर टूट पड़ा। बारप मारा गया और उसके घोड़े और हाथी मूलराज के हाथ लगे। दूतों के द्वारा मूलराज की इस विजय की खबर सुन कर चौहान राजा भाग गया[६४]।"

---

६३ सांभर तथा अजमेर के चौहानों के अधीन का देश 'सपाद लक्ष' कहलाता था। मेरुतुंग ने चौहान राजा का नाम नहीं दिया, परन्तु उसको 'सपादलक्षीय नृपति' (सपादलक्ष का राजा) ही कहा है; जो 'चौहान राजा' का सूचक है।

६४ प्रबन्धचिंतामणि, पृ० ४०-४२।

'प्रबंधचिंतामणि' का कर्ता चौहान राजा का भाग जाना लिखता है, वह विश्वास के योग्य नहीं है, क्योंकि उसी के लेख से यही पाया जाता है कि मूलराज ने उससे डर कर ही कंथकोट के क़िले में शरण ली थी। संभव तो यही है कि मूलराज ने हार कर अंत में उससे संधि कर उसे लौटाया हो।

नयचंन्द्र सूरि अपने 'हंमीरमहाकाव्य' में लिखता है कि "विग्रहराज (वीसलदेव) ने युद्ध में मूलराज को मारा और गुर्जरदेश (गुजरात) को जर्जरित कर दिया[६५]"। नयचंद्र सूरि भी मेरुतुंग की नांई पिछला लेखक है, इसलिये उसके मूलराज के मारे जाने का कथन यदि हम स्वीकार न करें तो भी मूलराज का हारना और गुजरात का बर्बाद होना निश्चित है। हेमचंद्र सूरि ने अपने 'द्वयाश्रयकाव्य' में विग्रहराज और मूलराज के बीच की लड़ाई का उल्लेख भी नहीं किया, जिसका कारण भी अनुमान से यही होता है कि इस लड़ाई में मूलराज की हार हुई हो। 'द्वयाश्रयकाव्य' में गुजरात के राजाओं की विजय का वर्णन विस्तार से लिखा गया है और उनकी हार का उल्लेख तक पाया नहीं जाता। यदि विग्रहराज हार कर भागा होता तो 'द्वयाश्रय' में उसका वर्णन विस्तार से मिलता।

भाटों की ख्यातों और वंशभास्कर में एक ही वीसलदेव का नाम मिलता है और उसको गुजरात के राजा बालुकराय से लड़नेवाला अजमेर के पास के वीसलसागर (वीसल्या) तालाब का बनानेवाला, अजमेर का राजा तथा आनोजी (अर्णोराज) का दादा माना है; जो विश्वास के योग्य नहीं। बालुकराय पाठ भी अशुद्ध है। शुद्ध पाठ 'चालुक (चौलुक्य) राय' होना चाहिए। जैसे 'प्रबंधचिंतामणि में विग्रहराज (वीसलदेव) के नाम का उल्लेख न कर उसको 'सपादलक्षीय नृपति' अर्थात् सपादलक्ष देश का राजा कहा है, वैसे ही भाटों आदि ने गुजरात के राजा का नाम नहीं दिया; परंतु उसके वंश 'चालुक' के नाम से

---

६५ अथोद्दिदीपेऽतयनिग्रहाय बद्धाग्रहो विग्रहराजभूपः।
द्विधापि यो विग्रहमाजिभूमावभंजयद्वैरिमहिपतीनाम् ॥ ६ ॥······॥
अप्युग्रवीरव्रत वीरवीरसंसेव्यमानक्रमपद्मयुग्मं।
श्रीमूलराजं समरे निहत्य यो गुर्जरं जर्जरता मनैषीत् ॥ ६ ॥
हंमीरमहाकाव्य, सर्ग २।

उसका परिचय दिया है। उसका नाम ऊपर के अवतरणों से मूलराज होना निश्चित है।

मूलराज के अब तक तीन ताम्रपत्र मिले हैं जिनमें से पहला वि० सं० १०३० भाद्रपद शुदि ५ का[६६], दूसरा वि० सं० १०४३ माघ बदि १५ (अमावास्या का[६७] और तीसरा वि०सं० १०५१ माघसुदि १५ का[६८] है। विग्रहराज (विसलदेव) दूसरे का उपर्युक्त हर्ष नाथ का शिलालेख वि० सं० १०३० का है, जिसमें मूलराज के साथ की लड़ाई का उल्लेख नहीं है[६९]। अतएव यह लड़ाई उक्त संवत के पीछे हुई होगी। मूलराज की मृत्यु वि० सं० १०५२ में हुई, इसलिये विग्रहराज (वीसलदेव) दूसरे की गुजरात पर की चढ़ाई वि० सं० १०५२ के बीच किसी वर्ष में होनी चाहिए। पंड्याजी का भटायत या अनंद विक्रम संवत ६८६ क्रमशः प्रचलित वि० सं० १०८६ और १०७६-७७ होता है। उक्त संवतों में गुजरात का राजा मूलराज नहीं किंतु; भीमदेव पहला था। ऐसे ही उस समय सांभर का राजा विग्रह-राज (वीसलदेव) दूसरा भी नहीं था; क्योंकि उसके पुत्र दुर्ल्लभराज (दूसरे) का शिलालेख वि० सं० १०५६ का मिल चुका है। इसलिये भटायत वा अनंद विक्रम संवत् का हिसाब यहाँ पर भी किसी प्रकार बंध नहीं वैठता।

जोधपुर के राजाओं के संवत्।

पंड्याजी ने 'पृथ्वीराज रासे' की टिप्पणी में लिखा है कि जोधपुर राज्य के काल-निरूपक-राजा जयचंदजी को सं० ११३२ और शिवजी और सैतरामजी को सं०११६८ में ''होना आज तक निःसंदेह मानते हैं और यह संवत् भी हमारे अन्वेषण किए हुए ६१ वर्ष के अन्तर के जोड़ने से सनंद विक्रमी होकर सांप्रतकाल के शोधे हुए समय से मिल जाते हैं, इसकी जाँच के लिये जोधपुर की भाटों की ख्यात के अनुसार जैचन्द से लगा कर राव मालदेव तक के प्रत्येक राजा की गद्दीनशीनी के संवत नीचे लिखे जाते हैं–

---

६६ विएना ओरिएंटल जर्नल, जि० ५, पृ० ३०० ।

६७ इंडि० एंटि०, जि० ६, पृ० १९१ ।

६८ विएना ओरिएंटल जर्नल, जि० ५, पृ० ३०० ।

६९ वही, जि० २, पृ० ११९ ।
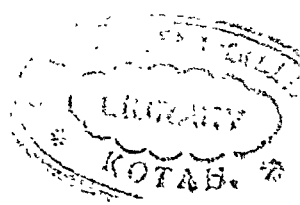
राजा का नाम			गद्दीनशीनी का संवत्
जयचन्द (कन्नौज का)	...	...	११३२
बरदाई सेन	...	...	११६५
सेतराम	...	...	११८३
सीहा (शिवा)	...	...	१२०५
आस्थान (मारवाड़ में आया)	...	...	१२३३
धूहड	...	...	१२४८
रायपाल	...	...	१२८५
कन्नपाल	...	...	१३०१
जालणसी	...	...	१३१५
छाडा	...	...	१३३६
तीडा (टीडा)	...	...	१३५२
सलखा	...	...	१३६६
वीरम	...	...	१४२४
चूँडा	...	...	१४४०
कान्ह	...	...	१४६५
सत्ता	...	...	१४७०
रणमल	...	...	१४७४
जोधा	...	...	१५१०
सातल	...	...	१५४५
सूजा	...	...	१५४८
गांगा	...	...	१५७२
मालदेव	...	...	१५८८–१६०६

इन संवतों को देखने से पाया जाता है कि उनमें से किसी दो के बीच ९० या ९१ वर्ष का कहीं अन्तर नहीं है, जिससे यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें से यहाँ तक तो अनंद विक्रम संवत् और आगे सनंद (प्रचलित) विक्रम संवत् है। अतएव ये सब संवत् एक ही संवत् में होने चाहिए, चाहे वह अनंद हो चाहे सनंद। परन्तु राव जोधा ने राजा होने के बाद वि० सं० १५१५ में जोधपुर बसाया यह सर्व मान्य है। इसलिये जोधा की गद्दीनशीनी का संवत १५१० प्रचलित विक्रम

संवत् ही है। यदि उसको अनंद विक्रम संवत मानें तो उसके राज पाने का ठीक संवत १६००-१ मानना पड़ेगा, जो असंभव है। इसी तरह राव मालदेव की शेरशाह सूर से वि०सं० १६०० में लड़ाई होना भी निश्चित है इसलिये मालदेव के राज पाने का संवत् १५८८ भी प्रचलित विक्रमी संवत् है। अतएव ऊपर लिखे हुए जोधपुर के राजाओं के सब संवत भी अनंद नहीं, किंतु सनंद (प्रचलित) विक्रम संवत् ही है और चूँडा के पहले के बहुधा सब संवत भाटों ने इतिहास के अज्ञान की दशा में कल्पित धर दिए हैं। बीठू (जोधपुर राज्य में पाली से १४ मील पर) के लेख से पाया जाता है कि जोधपुर के राठौड़ राज्य के संस्थापक सीहा की मृत्यु सं० १३३० कार्तिक वदि १२ को हुई[७०] और तिरसिंघड़ी (तिंगड़ी-जोधपुर राज्य के पचपद्रा ज़िले में) के लेख से आसथामा (अश्वत्थामा,आसथान) के पुत्र धूहड़ का देहांत वि०सं०१३६३ में होना पाया जाता है[७१]। इसलिये भाटों की ख्यातों में जोधपुर के शुरु के कितने एक राजाओं के जो संवत मिलते हैं वे अशुद्ध ही हैं। कन्नौज के राजा जयचंद की गद्दीनशीनी का संवत् ११३२ भी अशुद्ध है। यदि इसे अनंद संवत् मानें तो प्रचलित विक्रम संवत् १२२२-३ होता है। ऊपर हम दिखा चुके हैं कि जयचंद्र की गद्दीनशीनी प्रचलित विक्रम संवत् १२२६ में हुई थी (देखो ऊपर)। भाटों के संवत अशुद्ध हों या शुद्ध, प्रचलित विक्रम संवत् के हैं, न कि 'अनंद' विक्रम संवत के; क्योंकि मालदेव और जोधा के निश्चित संवत् भाटों के संवतों से 'सनंद' मानने से ही मिलते हैं।

जयपुर के राजाओं के संवत्।

पंड्याजी का मानना है कि 'जयपुर राज्य वाले पज्जूनजो का [गद्दीनशीनी] संवत ११२७ में होना मानते हैं और यह संवत् भी हमारे अन्वेषण किए हुए ६१ वर्ष के अन्तर के जोड़ने से सनन्द विक्रमी होकर सांप्रतकाल के शोधे हुए समय से मिल जाता है।

पज्जून की गद्दीनशीनी का उपर्युक्त संवत् अनंद विक्रम है, वा सनंद(प्रचलित)। इसका निर्णय करने से पहले हम जयपुर की भाटों की ख्यात से राजा ईशासिंह से

७० इंडि०एं०टि०, जि०४०, पृ०१४१।

७१ वही, पृ०२०१।

लगाकर भगवानदास तक के राजाओं के पाट-संवत् नीचे लिखते हैं—

नाम			पाट संवत्
१ ईशासिंह	...	...	(अज्ञात)
२ सोढदेव	...	...	१०२३
३ दूलेराय	...	...	१०६३
४ काकिल	...	...	१०९३
५ हणू	...	...	१०९६
६ जान्हडदेव	...	...	११९०
७ पज्जून	...	...	११९०
८ मलेसी	...	...	११५१
९ वीजलदेव	...	...	१२०३
१० राजदेव	...	...	१२३६
११ कील्हण	...	...	१२७३
१२ कुंतल	...	...	१३३३
१३ झोणसी	...	...	१३७४
१४ उदयकरण	...	...	१४२३
१५ नृसिंह	...	...	१४४५
१६ वनबीर	...	...	१४८५
१७ उद्धरण	......	......	१४९६
१८ चन्द्रसेन	......	......	१५२४
१९ पृथ्वीराज	......	......	१५५९
२० पूर्णमल्ल	......	......	१५८४
२१ भीमसिंह	......	......	१५९०
२२ रत्नसिंह	......	......	१५९३
२३ भारमल्ल	......	......	१६०४
२४ भगवानदास	......	......	१६३०

इन संवतों में भी कहीं दो संवतों के बीच ९० या ९१ वर्ष का अंतर नहीं है, जिससे यह नहीं माना जा सकता कि अमुक राजा तक के संवत् तो अनंद

विक्रमी है और अमुक से सनंद (प्रचलित) विक्रमी दिए हैं अर्थात् ये सब संवत् स एक ही विक्रमी गणना के अनुसार हैं।

बादशाह क़बर हिजरी सन् ६६३ तारीख २ रबिउस्सानी (वि० सं० १६१२ फाल्गुन बदी ४) को कलानूर में गद्दीनशीन हुआ। उस समय राज्य में बखेड़ा मचा हुआ था, जिससे सूर सुलतान सिकंदर के सेवक हाजीखां पठान ने आंबेर के राजा भारमल कछवाहे की सहायता से नारनौल को घेरा, जो मजनूखाँ काकशाल के अधीन था। राजा भारमल ने बुद्धिमानी और दूरदर्शिता से मज़नूख़ाँ को उसके बाल बच्चों तथा मालताल के साथ वहाँ से बचा कर निकाल दिया। जब बादशाह अकबर ने हेमू दूसर आदि को नष्ट कर देहली पर अधिकार किया। उस समय मजनूख़ाँ ने ऊपर किए हुए उपकार का बदला देने के लिये बादशाह से राजा भारमल की सिफारिश की। राजा देहली बुलाया गया और बादशाह ने उसको तथा उसके साथ के राजपूतों को खिलअतें देकर विदा किया। वि० सं० १६६८ में बादशाह अक़बर आगरे से राजपूताने को चला। बादशाह की तरफ़ से बुलाए जाने पर राजा भारमल साँगानेर में बादशाह की सेवा में उपस्थित हुआ और उसने उसकी अधीनता स्वीकार की। राजपूताने के राजाओं में से भारमल[१] ने ही सब से पहले बादशाही सेवा स्वीकार की। वि० सं० १६२४ में बादशाह अकबर ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की। उस समय राजा भारमल भी उसके साथ था और वि० सं० १६२५ में बादशाह ने रणथंभोर के क़िले को घेरा, तब वहां के किलेदार बूँदी के राव सुर्जन हाड़ा ने इसी राजा की सलाह से बादशाही सेवा स्वीकार की।

ऊपर दिए हुए संवतों में भारमल का वि० सं० १६०४ से १६३० तक राज करना निर्विवाद है और उन संवतों को प्रचलित (सनंद) विक्रम संवत् मानने से ही राजा भारमल अक़बर का समकालीन सिद्ध होता है, न कि अनंद विक्रम संवत् से।

ऊपर दिए हुए संवतों में से राजा पूर्णमल्ल की गद्दीनशीनी से लगा कर पिछले राजाओं के संवत् शुद्ध हैं, परन्तु पूर्णमल्ल से पहले के राजाओं के संवत् इतिहास के अंधकार की दशा में बहुधा सबके सब भाटों ने कल्पित कर के धरे हैं; क्योंकि उनमें सोढदेव से लगा कर पृथ्वीराज तक के १८ राजाओं का राज्य समय

५६१ वर्ष दिया है, जिससे औसत हिसाब से प्रत्येक राजा का राजत्वकाल ३१ वर्ष से कुछ अधिक आता है, जो सर्वथा स्वीकर नहीं किया जा सकता। जयपुर की ख्यात में जैसे संवत् कल्पित धर दिए हैं, वैसे ही सुमित्र (पुराणों का) के बाद के कूरम से लगा कर ग्यानपाल तक के १३८ नाम भी बहुधा कल्पित ही हैं; क्योंकि ग्वालिअर के शिलालेखों में वहाँ के जिन कछवाहे राजाओं के नाम मिलते हैं, उनमें से एक भी ख्यात में नहीं है। मूंहणोत नैणसी ने भी अपनी ख्यात में कछवाहों की दो वंशावलियाँ दी हैं। उनमें से जो भाट राजपाण ने लिखवाई, वह तो वैसी ही रही है जैसी कि ख्यात की, परन्तु जो दूसरी वंशावली उसने दी है, उसमें पिछले नाम ठीक हैं और वे शिलालेखों के नामों से भी मिलते हैं। ग्वालिअर के शिलालेखों तथा उक्त वंशावली के नामों का मिलान नीचे किया जाता है:—

ग्वालिअर के कछवाहे (शिला-लेखों से)[७२]	जयपुर के कछवाहे (नैणसी की ख्यात से)[७३]
१ लक्ष्मण (वि० सं० १०३४)	१ लक्ष्मण
२ वज्रदामा	२ वज्रदीप
३ मंगलराज	३ मांगल
४ कीर्तिराज	४ सुमित्र
५ मूलदेव	५ मुधिब्रह्म
६ देवपाल	६ कहानी
७ पद्मपाल	७ देवानी
८ महीपाल (वि० सं० ११५०)	८ ईशो (ईशासिंह)
९ त्रिभुवनपाल (वि० सं० ११६१)	९ सोढ (सोढदेव)
	१० दूलराज
	११ काकिल

७२ गौरीशंकर हीराचन्द ओझा की विस्तृत टिप्पणी सहित खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर का छपा हुआ हिंदी टॉड राजस्थान, खंड १, पृ० ३७२–३७३। इस वंशावली के नामों के साथ जो संवत् दिए हैं, वे ग्वालिअर के कछवाहों के शिलालेखों से हैं।

७३ मूंहणोत नैणसी की ख्यात, पृ० ६३–६४।

१२ हणू
१३ जानड
१४ पजून

इन दोनों वंशावलियों में पहले तीन समान हैं। दोनों के मिलान से पाया जाता है कि मंगलराज के दो पुत्र कीर्तिराज और सुमित्र हुए हों। कीर्तिराज के वंशज तो शहाबुद्दीन गोरी के समय तक ग्वालिअर के राजा बने रहे[७४] और सुमित्र के वंशजों, अर्थात् ग्वालिअर की छोटी शाखा, के वंशधर सोढ (सोढदेव) ने राजपूताने में आकर बड़गूजरों से द्यौसा छीन लिया और वहाँ पर अपना अधिकार जमाया। वहाँ से फिर आँबेर उनकी राजधानी हुई और सवाई जयसिंह ने जयपुर बसा कर उसको अपनी राजधानी बनाया। फीरोज़शाह तुग़लक के समय में तंवर वीरसिंह ग्वालिअर का क़िलेदार नियत हुआ; परंतु वहाँ के सय्यद क़िलेदार ने उसको क़िला सौंप देने से इनकार किया, जिस पर वीरसिंह ने उससे मित्रता बढ़ाने का उद्योग किया। एक दिन उसको अपने यहाँ मिहमान किया और भोजन में नशीली चीज़े मिला कर उसको भोजन कराया। फिर उसके बेहोश हो जाने पर उसे क़ैद कर क़िले पर अपना अधिकार जमा लिया। यह घटना वि० सं० १४३२ के आस-पास हुई। तब से लगा कर वि० सं० १५६६ के आस पास तक ग्वालिअर क क़िला तंवरों (तोमरों) के अधीन रहा[७५]।

कछवाहों की ख्यात लिखने वाले भाटों को यह ज्ञात नहीं था कि ग्वालिअर पर कछवाहों का अधिकार कब तक रहा और वह तंवरों के अधीन किस तरह हुआ, इसलिये उन्होंने यह कथा गढंत की कि ग्वालिअर के कछवाहा राजा ईशासिंह ने अपनी वृद्धावस्था में अपना राज्य अपने भानजे जैसा (जयसिंह) तंवर को दान कर दिया; जिससे ईशा के पुत्र सोढ़देव ने ग्वालिअर से द्यौसा में आकर अपने बाहुबल से वहाँ का राज्य छीना। भाटों की ख्यातों में सोढदेव का वि० सं० १०३३ में गद्दी बैठना लिखा है; परंतु ये बातें मनगढंत ही हैं, क्योंकि शहाबुद्दीन गोरी तक ग्वालिअर पर कछवाहों की बड़ी शाखा का राज्य रहा और सोढदेव से नौ पुश्त पहले होने वाला राजा लक्ष्मण वि० सं० १०३४ में विद्यमान था। ऐसा

---

७४ खड्ग-विलास प्रेस का छपा हुआ हिंदी टॉड राजस्थान, खंड १, पृ० ३७३।

उसी के समय के ग्वालिअर के शिलालेख से निश्चित है।

अब हमें जयपुर के कछवाहों के पूर्वज पज्जून का समय निर्णय करने की आवश्यकता है। ग्वालिअर का राजा लक्ष्मण वि० सं० १०२४ में विद्यमान था और पज्जून उसका १४ वाँ वंशधर था। यदि प्रत्येक राजा के राज्य समय की औसत २० वर्ष मानी जावे तो पज्जून का वि० सं० १२६४ में विद्यमान होना स्थिर होता है, जो असंभव नहीं। इसी तरह पज्जून से लगा कर उसके १७ वें वंशधर भारमल्ल तक के राजाओं में से प्रत्येक का राज्य समय औसत से २० वर्ष माना जावे तो भारमल्ल का वि० सं० १६१४ में विद्यमान होना स्थिर होता है जो शुद्ध है; क्योंकि उसका वि० सं० १६०४ से १६३० तक राज्य करना निश्चित है।

ऐसीदशा में पज्जून पृथ्वीराज का समकालीन नहीं, किंतु उसे उससे लगभग आधी शताब्दी पीछे होना चाहिए।

पट्टे परवाने

पंड्याजी ने लिखा है कि "चंद के प्रयोग किए हुए विक्रम के अनंद संवत् का प्रचार बारहवें शतक तक की राजकीय व्यवहार की लिखावटों में भी हमको प्राप्त हुआ है अर्थात् हमको शोध करते करते हमारे स्वदेशी अंतिम बादशाह पृथ्वी-राजजी और रावल समरसीजी और महाराणी पृथाबाईजी के कुछ पट्टे परवाने मिले हैं उनके संवत् भी इस महाकाव्य में लिखे संवतों से ठीक ठीक मिलते हैं और पृथ्वीराजजी के परवानों में जो मुहर अर्थात् छाप है उसमें उनके राज्याभिषेक का संवत् ११२२ लिखा है।"

ये पट्टे परवाने नौ हैं। इनके फोटोग्राफ, प्रतिलिपि और अँगरेजी अनुवाद हिन्दी हस्तलिखित पुस्तकों की खोज की सन् १६०० ई० की रिपोर्ट में छपे हैं। हम विचार करने के लिये इन्हें इस क्रम से रखते हैं:—

(क) पृथ्वीराज के परवाने।

(१) संवत् ११४३ का पट्टा आचारज रुषीकेश के नाम कि तुम्हें पृथाबाई के दहेज में दिया गया है, मुहर का संवत् ११२२ (प्लेट ३)।

(२) संवत् ११४३ का पट्टा, उसी के नाम 'आगना' (आज्ञा) कि काकाजी बीमार हैं यहाँ आओ, मुहर का संवत् वही (प्लेट ४)।

(३) संवत् ११४५ का पट्टा, उसी के नाम कि काकाजी को आराम होने से तुम्हें रीझ (प्रसन्नता) में पाँच हजार रुपए दिए जाते हैं, मुहर का संवत वही (प्लेट ६)।

(ख) पृथाबाई के पत्र।

(४) संवत् ११ [४५] का, उसी के नाम, कि काकाजी बीमार हैं, मैं दिल्ली जाती हूँ. तुम्हें चलना होगा चले आओ (प्लेट ५)।

(५) संवत ११५७ का, अपने पुत्र के नाम, कि समरसी झगड़े में मारे गए हैं. मैं सती होती हूँ, तुम मेरे चार दहेजवालों की, विशेषतः रुषीकेश के वंश की, सम्हाल रखना (प्लेट ८)।

(ग) रावल समरसी का पट्टा।

(६) संवत् ११३९ का आचारज रुषीकेश के नाम, कि तुम दिल्ली से दहेज में आए हो, तुम्हारा संमान और अधिकार नियत किया जाता है (प्लेट १)।

(७) संवत् ११४५ का, उसी के नाम, कि तुम्हें मोई का ग्राम दिया जाता है।

(घ) महाराणा जयसिंह का परवाना।

(८) संवत् १७५१ का, आचारज अषेराम रगुनाथ के नाम, कि पृथाबाई का पत्र (देखो ऊपर नं० ५) देख कर नया किया गया कि तुम 'श्याम खोर' अर्थात् नमक हलाल हो। (प्लेट ९)।

(ङ) महाराणा भीमसिंह का पट्टा।

(९) संवत् १८५८ का, आचारज संभुसीव सदासीव के नाम कि समरसी का पट्टा (ऊपर नं० ६ देखो) जीर्ण हो जाने के कारण नया किया गया।

इन पट्टों परवानों में नं० ८ और ९ का विचार करने की आवश्यकता नहीं। नं० ८ तो सं० १७२१ में नं० ५ की पुष्टि करता है और नं० ९ सं० १८५८ में नं० ६ की। पुराने पट्टे को देखकर नया लिखने के समय ऐतिहासिक प्रश्नों की जाँच

नहीं होती जैसा आगे दिखाया जायगा। पट्टे लिखने, सही करने, भाला और अंकुश बनाने का कार्य एक ही मनुष्य के हाथ में रहने से किसी राजस्थान में क्या क्या हो सकता है, यह समझाने की हमें कोई आवश्यकता नहीं। हमें आचारज रुषीकेश के वंशजों के पास इन पट्टों तथा भूमि के होने से भी कोई सन्बन्ध नहीं। सं० १८५८ में या सं० १७५१ में समरसी और पृथाबाई के विवाह की कथा मानी जाती थी यह कथन भी हमारे विवेचन में बाधा नहीं डालता। हमें यही देखना है कि बाकी सात पट्टे परवाने स्वतंत्र रूप से अनंद संवत् के सिद्धांत को पुष्ट करते हैं, या केवल 'रासे' की संवत् और घटनाओं की ढीलाई को दृढ़ करने के लिये उपस्थित किये गये हैं -

(क) पृथ्वीराज के पट्टे परवाने—

(१)

॥ श्री ॥

॥ श्री ॥
पूर्व देश महीपति
प्रथीराज दली न
रेस संवत् ११२२
वेशाख सुदि ३

(सही)

श्री श्री दलीनं मंहनं राजानं धीराजनं हदुसथानं राजधानं संभ
री नरेस पुरव दली तषत श्री श्री महानं राजं धीराजनं श्री
पृथी राजी सुसथानं आचारजरुषीकेस धनंत्रितं अप्रन तमको बाई
श्री प्रथु कवरन की साथ हतलेवे चीत्र
कोट का दीया तुमार हक चहुवान के रज में साबित है तुमारी
ओलाद का सपुत कपुत होगा जो चहान की पोल आ
वेगा जीनं को भाई सी तरे समंजेगा तुमारा कारंन
नहीं गटेगा तुम जम पात्रि से बाई

के आ तुमरी जो हुवे श्रीमुष
दुवे पंचोली हडमंराअ के संमत ११४२ ०
वर्षे आसाड सुद १३

(२)

श्री रामहरी

|| श्री ||
पूर्व देश महीपति
प्रथीराज दली न
रेस संवत् ११२२
वैशाख सुदि ३

सही

श्री श्री दलीन महाराजनं धीराजं श्री श्री
प्रथीराजनं की आगना पोछे आचार
ज भ० रपीकेस ने चत्रकोट पोछे
आहा श्री काकाजी नं महा''' '''हुई
छै सो षास रुको बांचने अहां हाजर वीजे संमत
११४५ चेत वदि ७

(३)

श्री रामहरी

|| श्री ||
पूर्व देश महीपति
प्रथीराज दली न
रेस संवत ११२२
वैशाख सुदि ३

सही
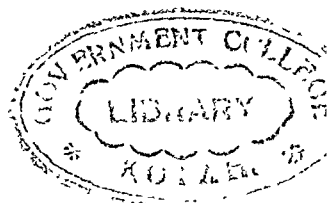
श्री श्री दलीन महाराजं धीराजंनं हिदुसथा
नं राजं धानं संभरी नरेस पुरब दली तपत
श्री श्री माहानं राजं धीराजंनं श्री प्रथीराजी
सुसाथनं आचारज रुषीकेस धनंत्रि अप्रन तमने का
काजी नं के दुवा की आरामं चश्री जीन
के रीजं में राकड़ रुपीआ ५०००) तुमरे आ
हाती गोडे का षरचा सीवाअ आवेंगे षजानं
से इनको कोई माफ करेंगे जीनको नेरकों
के अधंकारी होवेगे सई दुवे हुकम के हडमंत राअ
संमत ११४५ वर्ष आसाड सुदी १३

ये तीनों दस्तावेज़ जाली हैं, जिसके प्रमाण ये हैं:—

(१) इन तीनों के ऊपर जो मुहर लगी है, वह संवत् ११२२ की है। इस सम्वत् को अनंद विक्रम संवत् मान कर पंड्याजी पृथ्वीराज की गद्दीनशीनी का संवत् बतलाते हैं। अनंद विक्रम सम्वत् ११२२ सनंद (प्रचलित) विक्रम सम्वत् (१२२२+९०-९१=) १२१२-१३ होता है। उक्त सम्वत् में तो पृथ्वीराज का जन्म भी नहीं हुआ था, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है।

(२) मेवाड़ के रावल समरसिंह का समय वि० स० १३३० से १३१८ तक का है, जैसा कि पहले सिद्ध किया गया है, उसके साथ पृथाबाई का विवाह होना और सम्वत् ११४३ अनंद अर्थात् १२३३-४ सनंद में उसे दहेज में दिए हुए आचारज रुषीकेश को पट्टा देना और सम्वत् ११४५ अनंद अर्थात् १२३५-६ सनंद में उसे बीमारी पर बुलाना या बीमारी हट जाने पर इनाम देना सब असम्भव है।

(३) इन पट्टों परवानों की लिखावट वर्तमान समय की राजपूताने की लिखावट है, बारहवीं शताब्दी की वर्णमाला में नहीं है। ध्यान देने से जान पड़ता है कि महाजनी हिन्दी के वर्तमान मोड़ इसमें जगह जगह पर है। जिन्होंने बारहवीं शताब्दी के शिलालेख या हस्तलिखित पुस्तकें देखी हैं, उन्हें इस विषय में अधिक विचार करने की आवश्यकता नहीं। एक ही बात देखली जाय कि इनमें 'ए' या 'ओ' की पृष्ठ मात्रा (पडी मात्रा, अक्षर की बाईं ओर) कहीं नहीं है। राजकीय लिखावट सदा सुन्दर अक्षरों में लिखी जाती थी ऐसी भद्दी घसीट में नहीं।

(४) इनकी भाषा तथा परिभाषिक शब्दों के व्यवहार को देखिए। पृथ्वीराज के समय के लेखों में कभी उसे 'पूर्वदेश महीपति, नहीं कहा गया है। मेवाड़ में बैकर पट्टे गढने वाले आदमी को चाहे दिल्ली पूर्व जान पड़े; किन्तु संकेत के व्यवहार में पूरब का अर्थ काशी अवध आदि देश होते हैं, दिल्ली नहीं। पूरब का अर्थ काशी अवध आदि देश होते हैं, 'पूरब दिल्ली नहीं तखत' कहना भी वैसा ही असंगत है। उस समय 'हदुसथानं राजधानं' की कल्पना नहीं हुई थी। मेरुतंत्र के 'हिंदू' पद की दुहाई देने से यहां काम न चलेगा। 'रासे' के अनुस्वार तो छंदों की लघु मात्राओं को गुरु करने के लिये लगाए गए हैं, या शब्दों को संस्कृत सा बनाने के लिये या उन स्वयं सिद्ध टीकाकारों को बहकाने के लिये जो यह नहीं जानते कि अपभ्रंश अर्थात पिछले प्राकृत में नपुंसक लिंग का चिह्न 'उ' है और 'वानीयवंदेपयं' के 'अम्' को कह बैठते हैं कि यह द्वितीया विभक्ति नहीं, नपुंसक की प्रथमा है, किंतु इन पदों में स्थान कुस्थान पर अनुस्वार रासे की संरक्षा के लिये लगाये गए हैं। भाषा बड़ी अद्भुत है। मेवाड़ के रहने वाले अपनी मातृभाषा से गढ़ कर जैसी "पक्की हिंदी" बोलने का उद्योग करते हैं वैसी हिंदी बनाई गई है, 'तमकोह तलेवे चीत्रकोट को दीया,' तुमार हक साबित है', 'जो चहान की पोल आवेगा जीन को भाई सीतरे समजेगा,' किंतु यह खड़ी बोली ज्यादा देर न न चली। दूसरे पट्टे में लिखने वाला फिर वर्तमान मेवाड़ी पर उतर आया 'पास रुको वांचने अहां हाजर वीजे'। मानों महाराणा उदयपुर का कोई हाज़िर बाश पृथ्वीराज के यहाँ बैठा बोल रहा हो! रासे की भाषा पर फ़ारसी शब्दों की अधिकता का आक्षेप होता था। उसके लिये फ़रमान का स्फुरमाणः बनाया गया। 'रासे' तथा इन पट्टों की फ़ारसी की पुष्टि में कहा जाता है कि पृथाबाई दिल्ली से आई थी, वहाँ मुसलमानों का लश्कर रहता था, सौ वर्ष पहले से लाहोर में मुसलमानों का राज्य था, वहाँ से दूत आदि आया जाया करते थे, इत्यादि। इन तीन पट्टों में हदुसथानं राजधानं, तखत, हक, साबित, ओलाद जमा खातिर, हाजिर, दवा, आराम, रोकड़, खरचा, सिवा, खजाना, माफ, सही, इतने विदेशी शब्द शुद्ध या भ्रष्ट रूप में विद्यमान हैं। पृथाबाई के पत्र (नं० ४, ५) में साहब, हजूर, खास, रुक्का, कागज, डाक बैठना, हुकम, ताकीद, खातरी, हरामखोर, दस्तखत, पासवान के तत्सम या तद्भव रूप हैं। नं० ६-७ समरसी के पत्रों में बराबर, आबादान, जमाखातिरी, मालकी, जनाना, परवाना शब्द हैं। यह बात

इन पट्टों की वास्तविकता में सन्देह उत्पन्न करती है, इतना ही नहीं, बिलकुल इन्हें प्रमाण कोटि से बाहर डाल देती हैं। राज्यों की लिखावट में पुरानी रीति चलती है। अँगरेज़ी राज्य को डेढ़ सौ वर्ष से ऊपर हो जाने पर भी वायसराय और देशी राज्यों के मुरासिले फ़ारसी उर्दू में होते हैं, कचहरी की भाषा घनी फ़ारसी की उर्दू है। सिक्के पर 'यक रुपया' फ़ारसी में है। पृथ्वीराज के समय में यदि विदेशी शब्द व्यवहार में आ भी गए हों तो रायकीय लेखों में पुराने 'मुन्शी' लकीर के फकीर इतनी जल्दी परिवर्त्तन नहीं कर सकते। समरसी तो दिल्ली से दूर थे, भी जनाना और परवाना जानने लग गए थे। इन पट्टों की पृथाबाई तो गज़बवे करती है, स्त्रियाँ सदा पुरानी चालों की आश्रय होती है; किन्तु वह पति और भाई दोनों को 'हजूर' कहती है! इन पट्टों में खास रुक्का, परवाना, तख्त, हक, खजाना, औलाद, जमाखातिर, सही, दस्तखत, पासवान (=रक्षिता स्त्री, भोग पत्नी) जनाना, आदि पद ऐसे रूढ़ संकेतों में आए हैं, जिन्हें स्थिर करने में हिन्दू मुसलमानों के सहवास को तीन चार सौ वर्ष लगे होंगे। समरसी के पट्टे (नं० ६) में, प्रधान के बराबर बैठक होना केवल वर्तमान उदयपुर राज्य का संकेत है, दिल्ली में 'प्रधान' होता हो तथा 'बैठकें होती हों यह निरी पिछली कल्पना है। खास रुक्का अर्थात् राजा की दस्तखती चिट्ठी भी वर्तमान रजवाड़ों की रूढ़ि है। पत्र के अर्थ में 'कागज' 'कागद' की रूढ़ि भी वर्तमान राजपूताने की है, जब कि चिट्ठी, शब्द अशुभ सूचक पत्र या आटे दाल के पेटिए के अर्थ में रूढ़ हो गया है। यदि समरसी और पृथ्वीराज के समय में इतने विदेशी शब्द रात दिन के व्यवहार में आने लग गए थे तो राणा कुम्भा का शिलालेख, जिसकी चर्चा आगे की जायगी, बिलकुलफ़ारसी ही सा होना चाहिए था। पृथाबाई के पत्रों में यह और चमत्कार है कि वह अपने लिये 'पधारना' लिखती है जैसे कि गँवार कहा करते है कि तुमने जब अर्ज़ करी तब मैंने फरमाया! पंड्याजी कहते हैं वह दिल्ली से आई थी, अपने दहेज में फ़ारसी के शब्द भी समरसी के यहाँ लाई थी; किन्तु उसके पत्र शुद्ध वर्तमान मेवाड़ी में है, 'सबेरे दिन अठे आंघसी', 'थाने माँ आगे जाणो पड़ेगा', थारे मंदर को ब्याव का मारथ दली तु आआ पाछे करोगा' इत्यादि।

(५) पृथ्वीराज के समय में यहाँ के हिन्दू राजाओं के दरबारों की लिखावट हिन्दी भाषा में नहीं; किन्तु संस्कृत मे थी। अजमेर और नाडौल आदि के चौहानों, मेवाड़ (उदेपुर) और डूंगरपुर के गुहिलोतों (सीसोदियों), आबू और

मालवे के परमारों, गुजरात के सोलंकियों, कन्नौज के गाहड़वालों (गहरवालों) आदि की भूमि-दान की राजकीय सनदें (ताम्रपत्र) संस्कृत में ही मिलती हैं। पृथ्वीराज के वंशज महाकुमार चाहडदेव (बाहडदेव) के दान-पत्र के प्रारम्भ का टूटा हुआ टुकड़ा मिला है, जिसकी नक़ल नीचे दी जाती है। उससे मालूम हो जायगा कि पृथ्वीराज के पीछे भी उसके वंशजों की सनदें भाषा में नहीं, किन्तु संस्कृत में लिख कर दी जाती थीं—

[म]हाकुमार श्री चाहडदेवः ॥

······ कीर्तिरनंता द्यौः परत्र दातुः प्रतिग्रहीतुश्च। आच्छेत्तुर्विपरीता भूर्व्रा(ब्रा)ह्मण शा(सा)त्कृता ························ विक्रमः। चाहमानकुलेके(कें)दुर्विभुः शाकंभरीभुवः ॥ २ [॥] व(ब)भूव भुवनाभोग········ ······················धिपः ॥ ३ [॥] ततोऽर्णोराजनृपतिर्व्र(र्ब)भार जगतीभरं। स्वामि। [स्वास्मि ?] न्नालानितो ये [न] ······························ तनूजोस्य च स्वावासैकनिवासीनीः समकरोज्जित्वा दिगंतश्रियः······················· ·····स्य दासवदमी चेरुश्चिरं निर्मदाः ॥ ५ [॥] पृथ्वीराज [स्य] ······[७६]

इस ताम्रपत्र के टुकड़े में अर्णोराज (आना) से लगा कर पृथ्वीराज तक की अजमेर के चौहानों की वंशावली बची है, जिससे निश्चित है कि महाकुमार चाहडदेव पृथ्वीराज ही का कोई वंशधर था। यदि पृथ्वीराज के समय में चौहानों की राजकीय लिखावटें भाषा में होने लग गई होतीं तो चाहडदेव फिर संस्कृत का ढर्रा नए सिरे से कभी न चलाता। पृथ्वीराज के पीछे भी राजपूताने के जो राज्य मुसलमानों की अधीनता से बचे, उनकी राजकीय लिखावटें संस्कृत में होती रहीं। मेवाड़ के महाराणा हंमीर के संस्कृत के दानपत्र की नकल, वि० सं० १४०० से कुछ पीछे की, एक मुकद्दमें की मिसल में देखीगई (मूल देखने को नहीं मिला) और वागड (डूँगरपुर) के राजा वीरसिंघदेव का वि० सं० १३४३ का संस्कृत ताम्रपत्र राजपूताना म्यूजिअम में सुरक्षित है।

(६) इन तीनों पट्टों में मुहर के पास 'सही' लिखा है। राजकीय लिखावट के ऊपर सही करने की प्रथा हिन्दू राज्यों में मुसलमानों के समय उनकी

७६ एपि० इन्डि०, जिल्द १२, पृ० २२४।

देखा देखी चली है। पृथ्वीराज तक किसी राजा के दानपत्र में 'सही' नहीं मिलती। प्राचीन काल में दानपत्रों पर बहुधा राजा के हस्ताक्षर इबारत के अन्त में 'स्वहस्तोऽयं मम' या 'स्वहस्तः' पहले लिख कर किए हुए मिलते हैं। लेख की इबारत दूसरे अक्षरों में तथा यह हस्ताक्षर बहुधा दूसरे अक्षरों में मिलते हैं, जिससे पाया जाता है कि ताम्रपत्र पर राजा स्याही से अपने हस्ताक्षर कर देता था, जो वैसे ही खोद दिए जाते थे। बंसखेड़ा के ताम्रपत्र का 'स्वहस्तोयं मम महाराजाधिराजश्रीहर्षस्य' अपनी सुन्दर अलंकृत लिपि के लिये प्रसिद्ध हो चुका है। ऊपर वर्णन किए हुए महाकुमार चाहड़देव के दानपत्र के ऊपर उसके हस्ताक्षर भी दानपत्र की लिपि से भिन्न लिपि में है। यदि पृथ्वीराज के समय 'सही' करने का प्रचार चौहानों के यहाँ हो गया होता तो उसका वंशधर भी वैसा ही करता, न कि पुरानी रीति पर हस्ताक्षर।

प्राचीन राजाओं के यहाँ कई प्रकार की राज मुद्राएँ होती थी; जिनका यथा स्थान लगाना किसी विशेष कर्मचारी के हाथ में रहता था। उनमें एक 'श्री' की मुद्रा भी होती थी। वह सब में मुख्य गिनी जाती थी। कई ताम्रपत्र आदि में किसी महन्तम (महता) या मन्त्री के नाम के साथ 'श्रीकरणादिसमस्तमुद्राव्यापारान् परिपन्थयति इत्येवं काले प्रवर्तमाने' लिखा मिलता है। यह 'श्रीकरण व्यापार' या 'श्री' की छाप लगाने का काम बड़े ही विश्वासपात्र अर्थात् मुख्य मन्त्री का होता था, जैसे कि गुजरात के सोलंकी राजा वीसलदेव के राजकवि नानाक के लेख में श्रीकरण से प्रसन्न होकर उक्त चालुक्य राजा का अपने वैजपावगोत्री मन्त्रियों को गुन्जा ग्राम देने का उल्लेख है (इंडि० एंटि०, जि० ११, पृ० १०२)। जैसे राजपूताने की रियासतों में आजकल 'श्री करना', 'मिती करना'' 'सिरिमिती करना,' 'सही करना' आदि वाक्य लेख की प्रामाणिकता कर देने के अर्थ में आते हैं, वैसे ही यह 'श्री करणव्यापार' था। मेवाड़ में और मुहरें तो मन्त्री आदि लगा देते हैं; किन्तु रुपए लेने देने की आज्ञाओं पर जो मुहर लगाई जाती है, उसमें 'श्री' लिखा हुआ है और उसे अब तक महाराणा स्वयं अपने हाथ से लगाते हैं। इस 'श्री' करने के स्थान में पीछे 'सही' करना चल गया; किन्तु यह पृथ्वीराज के समय में चला हुआ नहीं माना जा सकता। हिन्दू राज्य इतनी जल्दी अपनी प्राचीन प्रथा को बदल डालें इसकी साक्षी इतिहास नहीं देता।

पृथाबाई के पत्र ।

नीचे उक्त पत्रों की नक़ल दी जाती है। उनमें संवत् ११ [४५] और ११५७ हैं। अनंद या सनंद उन संवतों में पत्र लिखने वाली पृथाबाई वि०सं० १३५८ तक जीवित रहने वाले चितौड़ के राजा समरसिंह की रानी किसी प्रकार नहीं हो सकती। इसलिये ये पत्र भी जाली हैं।

(४)

श्री हरी एकलिंगो जयति।

श्री श्री चीत्रकोट बाई साहब श्री पृथुकुंवरबाई का वारणा गाम
मोई आचारज भाई रुसीकेसजी बांच जो अप्रन श्री दलीसूं भाई श्री लंगरी रा
जी आया है जो श्री दली सूं वी हजूर को वी खास रुका आयो है जो मारी वी पदारवाकी
सीखवी है ने दली ककाजी रे षेद है जो का[गद वाच]त चला आवजो थाने मा आगे जाणो
पडेगा थांके वास्ते डाक बैठी है श्री हजूर···बी हुकम वे गीयो है जो थे ताकीद सूं आव
जो थारे मंदर को ब्याव का मारथ अबार···करांगा दली सु आआ पाछे करोंगा ओ
र थे सवेरे दन अठे आघसी संवत् ११ [४५] चेत सुदी १३

(५)

चीत्रकोट माहा सुभ सुथाने श्री·········सी वास
तीरे मासाव चवाण श्री परथु·······की आसीस
वाच जो श्री दली का······सु अप्रन अठे श्री हजुर
माहा सुद १२ क······ जगडा में वेकु पदारीआ
नो आचारज·····सीकेस वी श्री हजूर की
लार काम आआ··········श्री हजूर के लारे
जावागा वेकुट पछे·······सीकेसरा मनषा
की षात्री राषजो ई मारा चारी·······नष मारा
जीव का चाकर हे ही थासु राज·····हरामषोर

नी वेगा ढुवे नडुर राञ के………११५७ माहा
सुद १२ दसगत पासवान वेव…………रकाभं……
मा साव श्री…………थुबाई का वेकुटप……

(यह हमने उक्त रिपोर्ट में से ज्यों का त्यों नकल कर दिया है; किंतु प्लेट से मिलान करने पर देखा जाता है कि जहाँ इस प्रतिलिपि में पंक्तियों का आदि अंत बताया गया है वहाँ प्लेट में नहीं है। जहाँ बीच में टूटक के संकेत हैं, वहाँ पंक्तियों का अंत है।)

इन पंक्तियों की भी भाषा वर्तमान मेवाड़ी है। इनकी भाषा का महाराणा कुंभकर्ण के आबू के लेख की भाषा के साथ मिलान करने से स्पष्ट हो जायगा कि उस लेख की भाषा इनसे कितनी पुरानी है, भाषा विषयक और विवेचन ऊपर हो चुका है।

मेवाड़ में यह प्रसिद्ध है कि रावल समरसिंह का विवाह पृथ्वीराज की बहन पृथाबाई के साथ हुआ था। यदि इस प्रसिद्धि का 'पृथ्वीराजरासे' की कथा के अतिरिक्त कोई आधार हो और उसमें कुछ सत्यता हो तो उसका समाधान ऐसा मानने से हो सकता है कि चौहान राजा पृथ्वीराज (दूसरे) की, जिसको 'पृथ्वीराजविजय' में पृथ्वीभट कहा है, बहिन का विवाह मेवाड़ के राजा समतसी (सामंतसिंह) के साथ हुआ हो। मेवाड़ की ख्यातों में समंतसिंह को समतसी और समरसिंह को समरसी लिखा है। समरसी नाम प्रसिद्ध भी रहा, जिससे समतसी के स्थान में समरसी लिख दिया हो। पृथ्वीराज (दूसरे) के शिलालेख वि०सं० १२२४, १२२५ और १२२६ के मिले हैं और समतसी का वि०सं० १२२८ और १२३६ में विद्यमान होना उसके शिलालेखों से ही निश्चित है, तथा वि०सं० १२२८ से कुछ पहले उसका मेवाड़ का राज जालौर के चौहान कीतू ने छीना था। अतएव चौहान पृथ्वीराज (पृथ्वीभट) दूसरे और मेवाड़ के समतसी (सामंतसिंह) का समकालीन होना निश्चित है। संभव है कि उन दोनों का संबंध भी रहा हो।

रावल समरसिंह के परवाने।

'पृथ्वीराजरासे' में मेवाड़ के रावल समरसिंह का विवाह पृथ्वीराज की बहिन पृथाबाई से होना लिखा है। पंड्याजी इस कथन की पुष्टि में रावल समर-

सिंह के दो परवाने प्रसिद्धि में लाए हैं, जिनके संवत ११३६ और ११४५ को वे अनंद विक्रम संवत् मानकर रावल समरसिंह का सनंद (प्रचलित) वि०सं० १२२६-३० और १२३५-३६ में विद्यमान होना मानते हैं। उक्त परवानों की नक़लें नीचे दी जाती हैं—

(६)

सही

स्वस्ति श्री श्री चीत्रकोट महाराजाधीराज तपेराज श्री श्री
रावलजी श्री समरसीजी बचनातु दाअमा आचारज ठाक
र रषीकेष कस्य थाने दलीसु डायजे लाया अणी राज में ओ
षद थारी लेवेगा ओषद ऊपरे मालकी थाकी है ओ जनाना में
थारा वंस रा टाल ओ दूजो जावेगा नहीं ओर थारी बेठक दली
में ही जी प्रमाणे परधान बरोबर कारण देवेगा ओर थारा वंस
क सपूत कपूत वेगा जी ने गाम गोणो अणी राज में पाय्या पाय्या
जायगा ओर थारा चाकर घोड़ा कोनामो कोठार सूं मला जायेगा
और थूं जमाखातरी रीजो मोई में रायथान बादजो अणी परवाना री
कोई उलंगण जी ने श्री एकलिंग जी की आण दुवे पंचो-
ली जानकीदास सं० ११३६ काती बीद ३

(७)

सही

श्री श्री चीत्रकोट महाराजधीराज तपेराज श्री
रावरजी श्री श्री समरसीजी वचनातु दाअमा आचा
रज ठाकुर रुसीकेस कस्य गाम मोई रो पेडो थाने
मआ की दो लोग भोग सु दीया आवादान करजो जमा षा
त्री सो आवादान करजे थारे हे दुवे घत्रा मुकनानाथ
समत ११४५ जेठ सुद १३

ये दोनों पत्र भी जाली हैं क्योंकि—

(१) रावल समरसिंह का अनंद वि०सं०११३६ या सनंद वि०सं०१२२६-३० या अनंद वि.सं.११४५ अर्थात् सनंद वि.सं.१२३५-६ में विद्यमान होना किसी प्रकार से संभव

नहीं हो सकता। शिलालेखादि से निश्चित है कि समरसिंह का ७ वां पूर्व पुरुष सामंतसिंह वि० सं १२२८ से १२३६ तक विद्यमान था। वि० सं० १२२८ से कुछ पहले जालौर के चौहान कीतू (कीर्तिपाल) ने मेवाड़ का राज्य उससे छीन लिया, जिससेउसने वागड़ (डूँगरपुर-बांसवाड़ा) में जाकर वहाँ पर नया राज्य स्थापित किया[10]। उसके छोटे भाई कुमारसिंह ने वि० सं० १२३९ के पहले गुजरात के राजा की सहायता से मेवाड़ का राज्य कीतू से छीन लिया और वह वहाँ का राजा बन बैठा। उसके पीछे क्रमशः मथनसिंह और पद्मसिंह मेवाड़के राजा हुए, जिनके समय का अब तक कोई शिलालेख नहीं मिला[11]। पद्मसिंह का उत्तराधिकारी जैत्रसिंह हुआ जिसके समय के शिलालेखादि वि० सं० १२७१ से १३०९[12] तक के और उसके पुत्र तेजसिंह के समय के वि० सं० १३१७ से १३२४ तक के मिलते हैं। तेजसिंह का पुत्र समरसिंह हुआ। उसके समय के वि० सं० १३३०, १३३५, १३४२ और १३४४ के लेख पहले मिल चुके थे। उसका समकालीन जैन विद्वान् जिनप्रभ सूरि अपने 'तीर्थकल्प' में उसका वि० सं० १३५६ में विद्यमान होना बतलाता है और अब चित्तौड़ के किले पर रामपोल दरवाजे के आगे के नीम के दरख्त वाले चबूतरे पर वि० सं० १३५८ माघ शुदि १० का रावल समरसिंह का एक और शिलालेख मिला है (देखो ऊपर टिप्पण ५७), जिससे निश्चित है कि वि० सं० १३५८ के अन्त के आसपास तक तो रावल समरसिंह विद्यमान था।

(२) उक्त परवाने में 'सही' के ऊपर भाला बना हुआ है, जो पुरानी शैली से नहीं है। मेवाड़ के राजा विजयसिंह के कदमाल गाँव से मिले हुए संस्कृत दान-पत्र के अन्त में उक्त राजा के हस्ताक्षरों के साथ भाले का चिह्न देखने में आया, जो कटार से अधिक मिलता है[13]। वैसा ही चिह्न डूँगरपुर के रावल वीरसिंह के वि० सं० १३४३ के संस्कृत दान-पत्र के अन्त में खुदा है और महाराणा उदयपुर के झंडे पर भी वैसा ही कटार का चिह्न रहता है। महाराणा कुम्भकर्ण (कुम्भा) के वि० सं० १५०५ के दान-पत्र में भाला ताम्रपत्र के ऊपर बना है, जो छोटा है और पिछले पट्टे परवानों के ऊपर होने वाले भाले के चिह्न से उसमें भिन्नता है[14]। ठीक वैसा ही भाला आबू पर के देलवाड़ा के मन्दिर के चौक के बीच के चबूतरे पर खड़े हुए उसी राणा के शिलालेख के ऊपर भी बना है। राणा कुंभकर्ण के समय तक भाला छोटा बनता था, पीछे लम्बा बनने लगा। पहले भाले का चिह्न

महाराणा के हाथ से किया जाता था, ऐसा माना जाता है[७७]। महाराणा लाखा (लक्षसिंह) का ज्येष्ठ पुत्र चूँडा था, जिसकी सगाई के लिये मंडोर (मारवाड़) से नारियल लेकर राजसेवक आए। महाराणा लाखा ने हँसी में यह कहा कि जवानों के लिये नारियल आते हैं, हमारे जैसे बूढ़ों के लिये नहीं। जब पितृभक्त चूँडा ने यह सुना तो उसको यह अनुमान हुआ कि मेरे पिता की इच्छा नई शादी करने की है। इसपर उसने मंडोर वालों से कहा कि यह नारियल मेरे पिता को दिला दीजिए। इसके उत्तर में उन्होंने यह कहा कि महाराणा के ज्येष्ठ पुत्र आप विद्यमान हैं, अतएव हमारी बाई के यदि पुत्र हो तो भी वह चित्तौड़ का राजा तो हो नहीं सकता। इस पर चूँडा ने आग्रह कर यही कहा कि मैं लिखित प्रतिज्ञा करता हूँ कि इस राजकन्या से मेरा भाई उत्पन्न हुआ तो चित्तौड़ का स्वामी वही होगा और मैं उसका सेवक होकर रहूँगा। इस पर मारवाड़ की राजकन्या का विवाह महाराणा लाखा के साथ हुआ और उसी से मोकल का जन्म हुआ। अपने पिता के पीछे सत्यव्रत चूँडा ने उसी बालक को मेवाड़ के राज्य सिंहासन पर बिठलाया और सच्ची स्वामिभक्ति के साथ उसने उसके राज्य का उत्तम प्रबन्ध किया। तब से राजकीय लिखावटों पर राजा के किए हुए लेख के समर्थन के लिये भाले का चिह्न चूँडा और उसके बंशज (चूँडावत) करते रहे। पीछे से चूंडावतों ने अपनी ओर का भाला करने का अधिकार 'सहीवालों' को दे दिया जो राजकीय पट्टे. परवानों और ताम्रपत्र लिखते हैं।[७८] भाले

---

७७ "पटे परवानों पर पहिले श्रीदर्बार भाला बनाया करते थे।......अपने [मोकल के] ज़माने में पट्टे व पर्वानों पर भाले के निशान बनाने का काम चूँडाजी के सुपुर्द करके खुद दस्तख़त करने लगे।" सहीवाला अर्जुनसिंहजी का जीवनचरित्र, पृष्ठ १२।

७८ "चूँडाजी की औलाद में से जगावत आमेट रावतजी और साँगावत देवगढ़ रावतजी ने उज्र किया कि सलूँबर वाले [चूँडावतों के मुखिआ] भाला करते हैं तो हम भी चूँडाजी की औलाद में हैं, इसलिये हमारी निशानी भी पट्टे परवानों पर होनी चाहिए। तब महाराणाजी श्री कर्णसिंहजी [जिनकी गद्दीनशीनी वि०सं० १६७६ माघशुक्ला ५ को हुई थी] ने हुक्म फर्माया कि सलूँबर व आपकी तरफ़ से एक आदमी मुकर्रर करदो, वह भाला बना दिया करेगा। तब उन्होंने श्री दर्बार से अर्ज़ की कि श्री दर्बार जिसको मुनासिब समझें हुक्म बख़शें। श्री जी हुजूर ने मेरे बुजुर्गों के वास्ते फ़रमाया कि यह मेरी तरफ़ से

की आकृति में कुछ परिवर्त्तन महाराणा स्वरूपसिंह ने किया७९ महाराणा अमरसिंह (दूसरे) के जिसने वि०सं० १७५५[15] तक राज्य किया, समय में शक्तावत शाखा के सर्दारों ने महाराणा से यह निवेदन किया कि चूँडावतों की ओर से सनदों पर भाला होता है तो हमारी तरफ़ से भी कोई निशान होना चाहिए। इस पर महाराणा ने आज्ञा दी कि सहीवालों को अपनी तरफ़ से भी कोई निशान बता दो कि वह भी बना दिया करें। इस पर शक्तावतों ने अंकुश का चिह्न बनाने को कहा। उस दिन से भाले के प्रारम्भ का कुछ अंश छोड़ कर भाले की छड़ से सटा हुआ नीचे की ओर दाहिनी तरफ झुका हुआ अंकुश का चिह्न भी होने लगा ८०। ऊपर लिखे हुए रावल समरसिंह के परवाने में भी शक्तावतों का अंकुश का वही चिह्न विद्यमान है, जो महाराणा कुंभकर्ण के ताम्रपत्र और आबू के शिलालेख के भाले में नहीं है। अतएव वह परवाना वि० सं० १७५५ के पीछे का जाली बना हुआ है।

(३) परवाने पर 'सही' लिखा हुआ है। ऊपर कह चुके हैं कि संस्कृत की प्राचीन राजकीय लिखावटों में 'सही' लिखने की प्रथा न थी। वह तो पीछे से मुसलमानों की देखा देखी राजपूताने में चली। मेवाड़ में 'सही' लिखना कब चला, इस विषय में निश्चत् के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता८१, परन्तु महाराणा हंमीर के बाद जब संस्कृत लिखावट बन्द होकर राजकीय सनदें भाषा में लिखी

लिखा करते हैं और मेरे भरोसे के हैं, इनसे कहदो कि आपकी तरफ़ से भी भाला बनाया करें। उसी दिन से भाला भी मेरे बुजुर्ग करते आये हैं"। (वही, पृष्ठ० १३[16])

७९ वही, पृष्ठ० १३–१४।

८० वही, पृ० १४।

८१ "विक्रमी संवत् १५६६ में महाराणाजी श्री संग्रामसिंह जी (सांगाजी) गद्दीनशीन हुए; इन्होंने ताम्रपत्र, पट्टे तथा पर्वानों पर सही करना शुरु किया और उनको 'सही' मेरे बुजुर्ग कराते, इससे 'सहीवाला' खिताब इनायत हुआ, तभी से सहीवाले मशहूर हैं" (वही पृष्ट १३)। किंतु हम देख चुके हैं कि महाराणा कुंभा के ताम्रपत्र और शिलालेख (आबू का) दोनों पर 'सही' खुदा हुआ है। महाराणा कुंभा, सांगा के दादा थे, इसलिये सहीवालों का यह कथन प्रामाणिक नहीं।

जाने लगीं, तब किसी समय उसका प्रचार हुआ होगा[८२]। सम्भव है कि जब से महाराणा कुंभकर्ण (कुंभा) ने 'हिंदुसुरत्राण' (हिंदुओं के सुल्तान) विरुद धारण किया[८३] तब से 'सही' लिखने का प्रचार मेवाड़ में हुआ हो। महाराणा कुंभकर्ण (कुंभा) के उपर्युक्त वि०सं० १५०५ के ताम्रपत्र और वि०सं० १५०६ के आबू के प्राचीन मेवाड़ी भाषा के शिलालेख में 'सही' खुदा हुआ है।

(४) महाराणा हंमीर तक मेवाड़ की राजकीय लिखावट संस्कृत में लिखी जाती थी। अतएव रावल समरसिंह के समय मेवाड़ी भाषा की लिखावट का होना संभव नहीं।

(५) भाषा, लिपि आदि के विषय में पृथ्वीराज के पट्टों पर विचार करते समय इन पर भी ऊपर विचार किया जा चुका है।

(६) अब इन पट्टों की मेवाड़ी भाषा और लिपि का इनसे लगभग २७० वर्ष पीछे को मेवाड़ी भाषा और लिपि के लेख से कितना अन्तर है, यह दिखाने के लिये महाराणा कुंभकर्ण (कुंभा) के आबू के वि० सं० १५०६ के लिखालेख की नकल यहाँ दी जाती है। यदि समरसी के समय में वैसी भाषा मानी जाय तो राणा कुंभा को समरसी से तीन सौ वर्ष पूर्व का मानना पड़ेगा; क्योंकि इस लेख की भाषा उन पट्टों की भाषा से बहुत पुरानी है और उसमें कोई फ़ारसी शब्द नहीं है। केवल सुरिहि फ़ारसी 'शरह' का तद्भव माना जा सकता है, जैसा कि टिप्पणी में

---

८२ 'पहले लिखावट बिल्कुल संस्कृत में होती थी, लेकिन सं० १३५९ में रावल श्री रत्नसिंहजी के जमाने में पद्मनी की बाबत दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन ने चित्तौड़ का मुहासरा किया और चित्तौड़ पर बादशाही कब्जह होगया, इस गर्दिश परेशानी के जमाने में लिखावट में भाषा के शब्द मिलने लगे और फिर महाराणाजी श्री हंमीरसिंहजी के चित्तोड़ वापस लेलेने के बाद से महाराणा श्रीरायमल्लजी के अखीर वक्त तक लिखावट में बहुत भाषा मिल गई, लेकिन ढंग अब तक संस्कृत का ही चला आता है"। (वही, पृ० १४)।

हमीर का दान-पत्र संस्कृत में है और कुंभा का दान-पत्र पुरानी मेवाड़ी में है, जैसे कि उसका आबू का लेख।

८३ प्रबलपराक्रमाक्रांतढिल्लीमंडलगुर्जरत्रासुरत्राणदत्तातपत्रप्रथितहिंदुसुरत्राण विरुदस्य.........
(सं० १४९६ राणपुर के जैन मंदिर का शिलालेख, भावनगर इंस्क्रिपशंस, पृ० ११४)।

वतलाया है। इस लेख की भाषा सं० १५०६ की मेवाड़ी निर्विवाद है तो समरसी के इन पट्टों की भाषा कभी उससे पुरानी नहीं हो सकती। इस शिलालेख (का) फोटो भी दिया जाता है[८४]।

श्री गणेशाय: ॥ सही ॥
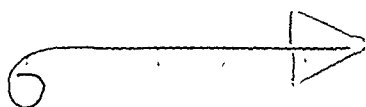
॥ संवत् १५०६ वर्षे आषाढ सुदि २
महाराणा श्री कुम्भकर्ण विजय-
राज्ये श्री अर्बुदाचले देलवाड़ा ग्रामे विम-
लवसही श्री आदिनाथ तेजलवसही श्री नेमिनाथ

---

८४ यहाँ टिप्पणियों के लिये अधिक अंक न लगा कर इस लेख पर जो वक्तव्य है, वह एक ही टिप्पणी में दे दिया जाता है।

विमलवसी-वसही (प्राकृत) वसहिका (प्राकृत से बना संस्कृत) वसति (संस्कृत, मंदिर) विमलशाह का स्थापित किया हुआ (वसाया हुआ) श्री आदिनाथ का मन्दिर। तेजलवसही प्रसिद्ध मन्त्री वस्तुपाल के भाई तेजपाल की स्थापित श्री नेमनाथ की वसहिका। बीजे-दूसरे। श्रावक-जैन धर्मानुयायी संघ के चार अंग हैं, साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका। श्रावक-धर्म को सुनने वाले (साधुओं के उपदेश के अनुयायी) अर्थात् गृहस्थ। इसी से 'सरावगी' शब्द निकला है। देहर-देवघर; देवकुल, देवल, मंदिर। बीजे श्रावके देहरे-अन्यान्य जैन मन्दिरों में (अधिकरण की विभक्ति विशेषण तथा विशेष्य दोनों में है। दाण-संस्कृत दण्ड, राजकीयकर; दण्ड दाण जुर्माने के लिये भी आता है और राहदारी जगात आदि के लिये भी। मुंडिकं- मूंडकी, प्रतियात्री या प्रतिमुंड पर कर। वलात्री-मार्ग में रक्षा के लिये साथ के सिपाही का कर। रखवाली-चौकीदारी का कर। गोडा-घोड़ा। पोठ्या-पृष्ठ्य (संस्कृत) पीठ पर भार लादने वाले बैल। रूं-का। राणि कुंमकर्णि-तृतीया विभक्ति का चिह्न है, राणा कुंभकर्ण ने, हिन्दी 'में'=मइ (स० मया) भी तृतीया विभक्ति है। उसके आगे फिर 'ने' लगाकर 'मैंने' यह दुहरा विभक्ति चिह्न भूल से चल पड़ा है। महं-महंत्तम, महत्तम, उच्चराज्याधिकारी या मन्त्री। मिलाओ, महता या महत्तर। जोग्य-योग्य, डूंगर भोजा नामक अधिकारी के कहने से उस पर कृपा या उपकार करके। जिको-जो। तिहिरुं-उसका। मुकावुं-छुड़ाया (पंजाबी मुक=समाप्त करना, गुजराती-मूक=छोड़ना, भेजना या रखना)। पले-पालित हो, पाला जाय।

तथा बीजे श्रावके देहरे दाण मुंडिकं वलावी रषवाली
गोडा पोठ्यारुं राणि श्री कुम्भकर्णि महं डूंगर भोजा जो
ग्यंमया उधारा जिको ज्यात्रि आवि तिहिरुं सर्वसु-
कावुं ज्यात्रा संमंधि आचर्यंद्रार्क लगि पले कुई कोई
मांगवा न लहि राणि श्री कुम्भकर्णि म० डूंगर भो
जा ऊपरि मया उधारी यात्रा मुगती कीधी आ
घाट थापु सुरिहि रोपावी जिको आ विधि लो
पिसि ति इहि सुरिहि भांगीरुं पाप लागिसि
अनि संह जिको जात्रि आविसई स फदयुं १ एक देव

मांगवा न लहि—मांग न सके। ऊपरि—ऊपर जोग्यं की व्याख्या देखो। मयाउधारा—मया धारण करके, 'दया मया कर' के कृपा करके। मुगति—मुक्ति, छूट। कीधी—की, कृता। थापु—थापा स्थापित किया। आघाट—नियम। सुरिहि—फारसी शरह ?, नियम का लेख (देखो पत्रिका, अंक ३, पृ० २५३-४)। रोपावी—रोपी, खड़ी की (संस्कृत, रोपिता, प्राकृत-संस्कृत, रोपापिता)। आ विधि—यह विधि (कर्मकारक)। लोपिसि—(मारवाड़ी लोपसी, सं० लोपयिष्यति) लोपेगा, नष्ट करेगा। ति—(कर्मकारक उसे। भांगीरूं—तोड़ने का। लागिसि—लगेगा। अनि—और (सं० अन्यत्)। संह—संघ, यात्रियों का समूह। अविसइं—आवेगा, संस्कृत सम आविष्यति (!) स—वह। फधुं (संस्कृत पदिक) फदैया, दो आने के लगभग मूल्य का चाँदी का सिक्का। अचलेश्वरि-भंडारि, संनिधानि, अधिक-रण कारक। दुगाड़ी (सं० द्विकाकिणी एक पदिक में पाँच (रुपये के ४०) एक तांबे का सिक्का। मुकिस्यइं—देवेगा, (मिलाओ मुकावुं, अविसइ)। दुए—दूतक। शिलालेख और ताम्रपत्रों में जिस अधिकारी के द्वारा राजाज्ञादी हो उसका नाम दूतकोऽत्र कह कर लिखा जाता था। उसी का अपभ्रंश दुए, दुवे या दुवे प्रत पीछे के लेखों, पट्टों आदि में आता है। ऊपर के जाली पट्टों में भी दुवे' आया है। इस लेख के दुए या दूतक स्वयं राणा कुंभा ही हैं। दोसी रामण इस लेख का लेखक होगा।

इस लेख के अन्त में पत्थर पर स्थान खाली रहने से सं० १५०६ में किसी दूसरे ने सवा दो पंक्ति लिख कर जोड़ दी है। उस लेख का इससे कोई सम्बन्ध न होने से हमने उसे यहाँ उद्धृत नहीं किया।

श्री अचलेश्वरि अन दुगाणि ४ च्या देवि श्री विशिष्ट
भंडारि मुकिस्यइ । अचलगढ ऊपरि देवी ॥
श्री सरस्वती सन्निधानि बइठां लिखितं । दुए ॥
श्री स्वयं ॥ श्री रामप्रसादातु ॥ शुभंभवतु ॥
दोसी रामण नित्यं प्रणमति ॥

उपसंहार

इस सारे लेख का निष्कर्ष यही है कि पृथ्वीराजरासे में कोई ऐसा उल्लेख नहीं है, जिससे किसी नए संवत् या विक्रम संवत् को "अनंद" रूपान्तर का होना संभव माना जाय। अनंद विक्रम संवत नाम का कोई संवत् कभी प्रचलित नहीं था। रासे के संवत् तथा भाटों की ख्यातों के संवत् अशुद्ध भलेही हों, किंतु हैं सब प्रचलित विक्रम संवत् ही। रासे के अशुद्ध संवतों तथा मनमानी ऐतिहासिक कल्पनाओं को सत्य ठहराने की खींचतान में जब भटायत संवत से काम न निकला, तब पंड्याजी ने इस अनंद विक्रम संवत् की सृष्टि की। जिन दूसरे विद्वानों ने इसे स्वीकार कर अपने नाम का महत्व इसे दिया है, उन्होंने स्वयं कभी इसकी जाँच न की, केवल गतानुगतिक न्याय से पंड्याजी का कथन मानलिया। इस संवत् की कल्पना से भी रासे या भाटों की ख्यातों के संवत् जाँच की कसौटी पर शुद्ध नहीं उतरते। जिन जिन घटनाओं के संवत् दूसरे ऐतिहासिक प्रमाणों से जाँचे गए हैं, उन सबमें यही पाया गया कि संवत् अशुद्ध और मन माने हैं, किसी 'अनंद' या दूसरे संवत्सर के नहीं। रासे की घटनाओं और इस कल्पित संवत् की पुष्टि में जो पट्टे-परवाने लाए गए वे भी सिखाए हुए गवाह की तरह उल्टा मामला बिगाड़ गए।

पृथ्वीराजरासे में एक दोहा यह भी है—

एकादस सै पंचदह, विक्रम जिमध्रमसुत्त।
त्रितिय साक प्रथिराज को, लिख्यो विप्र गुन गुज (प्त) ॥

इसका अर्थ यह दिया गया है कि जैसे युधिष्ठिर के ११९५ वर्ष पीछे विक्रम का संवत चला, वैसे विक्रम से ११९५ वर्ष पीछे कवि ने गुप्त रीति से पृथ्वीराज का तीसरा शक लिखा। यदि इस दोहे का यही अर्थ माना जाय तो जिस कवि को यह ज्ञान हो कि युधिष्ठिर और विक्रम संवत् का अन्तर ११९५ वर्ष है, वह जो

न कहे सो थोड़ा है। युधिष्ठिर संवत् तो प्रत्येक वर्ष के पंचांग में लिखा रहता है और साधारण से साधारण ज्योतिषी भी उसे जानता है। यही दोहा सिद्ध किए देता है. कि जैसे युधिष्ठिर और विक्रम के बीच ११११५ वर्ष कल्पित हैं, वैसे ही पृथ्वीराज का जन्म ११११५ में होना भी कल्पित हैं।

भाटों की ख्यातें विक्रम संवत् की १५ वीं शताब्दी के पूर्व की घटनाओं और संवतों के लिये किसी महत्त्व की नहीं है। मुसलमानों के यहाँ इतिहास लिखने का नियमित प्रचार था; चाहे वे हिंदुओं की पराजय और अपनी विजय का वर्णन कितने ही पक्षपात से लिखते थे; किन्तु संवत् और मुख्य घटनाएँ वे प्रामाणिक रीति पर लिखते थे। जब दिल्ली में मुगल दरबार में हिन्दू राजाओं का जमघट होने लगा, तब इनके इतिहास की भी पूछ हुई, मुसलमान तवारीख़ नवीसों को देख कर उन्होंने भी लिखा इतिहास चाहा और भाटों ने मनमाना इतिहास गढ़ना आरम्भ कर अपने स्वामियों को रिझाना आरम्भ किया। 'पृथ्वीराजरासे' की सब घटनाओं के मूल में एक बड़ी भारी कल्पना है कि जैसे दिल्ली के मुग़लिया दरबार में सब प्रधान राजा अधीनरूप से संमिलित थे, वैसे ही पृथ्वीराज का कल्पित दिल्ली दरबार गढ़ा गया है, जिसमें प्रधान राजाओं के कल्पित प्रतिनिधि, चाहे वे समरसी और पज्जून आदि मित्र संबंधी रूप से हों और चाहे जयचन्द आदि शत्रु रूप से हों, खड़े करके वर्णन किए गए। पीछे इतिहास के अंधकार में यही 'रासा' सब राजस्थानों की ख्यातों का उपजीव्य होगया।

'पृथ्वीराजरासे' की क्या भाषा, क्या एतिहासिक घटनाएँ औरक्या संवत, जिस जिस बात की जाँच की जाती है, उसी से यह सिद्ध होता है कि वह पुस्तक वर्तमान रूप में न पृथ्वीराज की समकालीन है और न चंद जैसे समकालीन कवि की कृति [17]।

ना० प्र० प० (त्रै० न०), काशी,
भाग १, सं० १९७७, ई० सं० १९२०।

सम्पादकीय टिप्पण

1. पृ० १६ पंक्ति २, 'अनंद विक्रम सम्वत' नाम की कल्पित सृष्टि केवल पंड्याजी ने ही खड़ी की हैं। 'पृथ्वीराजरासो में दिये हुए सम्वतों पर श्री ओझाजी के आक्षेप युक्ति पूर्ण हैं, किन्तु जिस घटना क्रम और काल क्रम का ज्ञान अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के भाटों तथा चारणों को किसी अंशतक रहा है, उसके विषय में रासोकार चन्द को सर्वथा अनभिज्ञ मानना सम्मभवतः ठीक न होगा। रासो के क्षेपक भागों को दूरकर हम घटना संगति को बैठाना आरम्भ करें तो 'रासो' की बहुत सी गुत्थियां सुलझ जायगी। अनन्द सम्वत को सामान्य विक्रम-सम्वत से सौ वर्ष बाद का मानना भी सर्वथा नवीन कल्पना नहीं है। औरंगजेब के पुत्र शाहजादे मुअज्जम के दर्बारी कवि महापात्र जैत्रसिंह ने इन शब्दों में शाहजहाँ की मृत्यु का वर्णन किया है—

> सोरहसय बाईस हते, संवत् अनंद तब ।
> माघ मास बदि तिथिय, भएउ त्रोदसी सोम जब ॥
> दिएउ पुत्र सिर छत्र, साहिजहान तजेउ वपु ।
> चढि विमान सुरलोक गएउ, भिस्ती निवास तपु ॥
> (आर्य भापा पुस्तकालय, ना० प्र० सभा, काशी संग्रहित
> हस्तलेख संख्या ६२)।

यह सम्वत शाहजहाँ की मृत्यु के विक्रम सम्वत् से ठीक सौ वर्ष कम है। क्या, यह सम्भव नहीं कि रासोकार ने किसी ऐसे सम्वत का प्रयोग किया हो, विषय कम से कम गवेपणीय है।

'रासौ' में दी हुई बहुतसी घटनाएं भी इतिहास सम्मत हैं। इस विपय में कविराव मोहनसिंहजी के लेख पठनीय हैं। हमने भी राजस्थान-भारती, साहित्य-

सन्देश और वीणा में इस विषय पर कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। इस सम्बन्ध में विचार और विमर्ष अब तक उस स्थिति पर न पहुंचा है कि हम 'रासो' के किसी भी भाग को सर्वथा प्रमाणिक या अप्रमाणिक कह सकें। 'रासो' को अपने वर्तमान रूप में ऐतिहासिक ग्रन्थ मानना एक महान् भूल थी। गुरुवर श्री ओझाजी का हम पर यही महान् ऋण है कि उन्होंने इस भूल की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया किन्तु; वे समन्वय-दृष्टि से विषय का अध्ययन करते तो संभवतः 'रासो' इतना अधिक अप्रमाणिक न पाते।

2. पृ० १६, पंक्ति १३, 'विग्रहराज (वीसलदेव) चौथे के राजत्वकाल के सम्वत् वाले शिलालेख अब तक ४ मिले हैं।' ओझाजी के इस लेख के प्रकाशित होने बाद विग्रहराज (बीसलदेव) चौथे के दो लेखों का और पता मिला है, जिनमें से एक अजमेर के समीपवर्ती बघेरा गाँव की बावड़ी से निकला है; जो वि० सं० १२०७ का है और वह श्री ओझाजी के यहाँ पर है। दूसरा लेख नरहड़ (शेखावाटी) में मिला है, और 'ऐनल्स ऑव दी भण्डार कर रिसर्च इंस्टीटयूट' के रजतोत्सव ग्रन्थ में प्रकाशित हुआ है। यह लेख वि० स० १२१५ मार्ग वदि १५ अमावास्या) का है और बिड़ला कॉलेज पिलानी के संग्रहालय में सुरक्षित है।

3. पृ० २५, पंक्ति ४, 'महाराजा सोमेश्वर चौहान के पुत्र पृथ्वीराज (तृतीय) के समय के कई लेख मिले हैं।' अजमेर से कुछ मील दूर बर्ला नामक गाँव से महाराजा पृथ्वीराज चौहान (तृतीय) का शिलालेख वि० सं० १२३४ चैत्र सुदि का मिला है, जिसमें वहाँ पर उस (पृथ्वीराज) के समय में वापिका बनाने का उल्लेख है। यह प्रस्तर लेख राजपूताना म्युजिअम में श्री यु० सी० भट्टाचार्य (अध्यक्ष रा० म्यु० अजमेर) द्वारा सुरक्षित किया गया है। इस लेख में उल्लिखित सम्वत् चैत्रादि नहीं प्रतीत होता; क्योंकि वि० सं० १२३४ भाद्रपद मास का महाराजा पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर के समय का प्रस्तराङ्कित लेख मिल गया है। अतएव बर्ला का लेख वि० सं० १२३५ (ई० सं० ११७८) के प्रारम्भ का होना सम्भव है। एवं उससे यह निश्चय होता है कि वि० सं० १२३४ (ई० स० ११७७) में सोमेश्वर का परलोकवास होकर पृथ्वीराज का राज्यभिषेक हो गया हो। तथा ई० स० ११७८ में जब सुलतान शहाबुद्दीन मुहम्मदगोरी ने गुजरात पर आक्रमण

किया, उस समय पृथ्वीराज को अजमेर में राज्य करते हुए कम से कम एक वर्ष व्यतीत हो गया होगा (देखो, पृथ्वीराजविजय महाकाव्य, सर्ग १०-११)।

4. पृ० २६, पंक्ति १-२, 'पृथ्वीराज का जन्म वि०सं० १२२१ के आस-पास होना स्थिर होता है।' महाराजा पृथ्वीराज चौहान (तृतीय) के जन्म सम्वत् के निर्णय के लिए राजस्थानी निबन्ध माला, भाग २ में हमारा लेख देखें।

5. पृ० ३१, पंक्ति ४, हि० स० ५६१ के स्थान पर ५७१ होना चाहिये।

6. पृ० ३४, पंक्ति ६, 'कुमारसिंह से पाँचवीं पीढ़ी में मेवाड़ का राजा समरसिंह हुआ।' उदयपुर के राजवंश के सम्बन्ध में मिलने वाले वंशावली वाले लेखों में समरसिंह का कुमारसिंह से पाँचवीं पीढ़ी में नाम है। यथा-कुमारसिंह,मथनसिंह, पद्मसिंह, जैत्रसिंह, तेजसिंह और समरसिंह। परन्तु कुम्भलगढ़ के मामादेव की वि० सं० १५१७ (ई० स० १४६०) की प्रशस्ति से स्पष्ट होता है कि समरसिंह, पद्मसिंह के पुत्र जैत्रसिंह का पौत्र था, एवं पद्मसिंह, कुमारसिंह और सामन्तसिंह के पिता क्षेमसिंह का भाई था।

7. पृ० ३५, पंक्ति ६, 'जयचन्द के राजसूय यज्ञ या संजोगता के स्वयंवर का उल्लेख नहीं किया।' संयोगिता के स्वयंवर की प्रमाणिकता के लिये 'राजस्थान-भारती' में प्रकाशित हमारा लेख देखें।

8. पृ० ४३. पंक्ति ४, 'मूलराज (प्रथम) के अब तक तीन ताम्रपत्र मिले हैं, जिन में से पहला वि०सं० १०३० का है।' सांभर से ऊमरशाह के कुए से प्राप्त लेख में अनहिलवाड़ा के सोलंकी राजा मूलराज (प्रथम) के लिये उल्लेख है। यह लेख वि०सं० ६६८ (ई० स० ६४१) का है; जिससे प्रायः निश्चित है कि वह वि०सं० ६६८ के लगभग अनहिलवाड़ा का राज्य हस्तगत कर चुका था।

9. पृ० ४७, पंक्ति १४, 'राजपूताने के राजाओं में से भारमल ने सबसे पहले बादशाही सेवा स्वीकार की।' वि०सं० १६१८ (ई०स० १५६१) में आमेर के राजा भारमल ने बादशाह अकबर की अधीनता स्वीकार की थी। नागरी प्रचारिणी पत्रिका में छापे की भूल से वि०सं० १६६८ छपा है।

10. पृ०६२, पंक्ति ५, समरसिंह का ७ वां पूर्व पुरुष सामंतसिंह वि०सं० १२२८-३६ तक विद्यमान था। सामंतसिंह का वि०सं० १२३६ (ई०स०११७६) के

पीछे क्या हुआ, इसका पता नहीं चलता। यह अवश्य लिखा मिलता है कि मेवाड़ पर चौहानों की नाडोल की शाखा के कीतू (कीर्त्तिपाल) का कुछ समय के लिए अधिकार हो गया था, जिसको सामन्तसिंह के छोटे भाई कुमारसिंह ने गुजरात के सोलंकी नरेश (भीमदेव दूसरा, भोलाभीम) की कृपा सम्पादन कर उठाया। कीर्त्तिपाल के उत्तराधिकारी समरसिंह (सौनगरा चौहान) का वि०सं० १२३६ (ई० स० ११८२) और मेवाड़ के गुहिलवंशी राजा कुमारसिंह के उत्तराधिकारी मथनसिंह का आट गाँव (मेवाड़ में कुरावड़ के निकटवर्ती) से वि० सं० १२४३ (ई० स० ११८६) का प्रस्तर लेख मिल चुका है, जिससे अनुमान होता है कि वि० सं० १२३६ के पूर्व ही कुमारसिंह ने सोलंकी राजा भीमदेव की सहायता प्राप्त कर सोनगरा चौहानों का मेवाड़ से अधिकार उठा दिया और कुमारसिंह, अधिक वर्ष तक जीवित नहीं रहा। इस समय सामन्तसिंह के अधिकृत वागड़ प्रदेश पर गुजरात के सोलंकी नरशों का पूर्ण प्रभुत्व था और वहां उनकी अधीनता में कई वर्ष तक वहाँ के प्राचीन भटेवरा गुहिलवंशी नरेश पुनः शासन करते रहे, ऐसा उदयपुर से दक्षिण में ४० मील दूर जयसमुद्र (ढेबर) झील के निकटवर्ती वीरपुर गाँव से प्राप्त भटेवरा शाखा के गुहिलवंशी नरेश अमृतपाल के वि० सं० १२४२ (ई० स० ११८५) के दानपत्र से ज्ञात होता है। उदयपुर की वादी में स्थित आहाड़ गाँव (प्राचीन नाम आघाटपुर) से वि० सं० १२६३ (ई० स० १२०६) का गुजरात के सोलंकी नरेश भीमदेव (दूसरा, भोला भीम) का दानपत्र मिल गया है, जिससे मथनसिंह के उत्तराधिकारी पद्मसिंह के समय तक तो मेवाड़ के गुहिलवंशी राज्य पर भी गुजरात के सोलंकी नरेशों का प्रभाव होना मानना पड़ेगा।

11. पृ० ६२, पंक्ति ८, 'मथनसिंह और पद्मसिंह क्रमशः मेवाड़ के राजा हुए, जिनके समय का अब तक कोई शिलालेख नहीं मिला'। ऊपर बतलाया जा चुका है कि मेवाड़ के आट गाँव के शिव मन्दिर से मेवाड़ के गुहिलवंशी नरेश मथनसिंह (जिसको कुम्भलगढ़ के लेख में महणसिंह लिखा है) का वि० सं० १२४३ (ई० स० ११८६) का शिलालेख मिल गया है। इस लेख में मथनसिंह की उपाधि 'महाराजाधिराज' और राजधानी 'नागहृद (नागदा)' होने का उल्लेख है। मेवाड़ के तथा वागड़ के प्राप्त शिलालेखों से प्रकट है कि सामन्तसिंह कुमारसिंह और मथनसिंह प्रसिद्ध महाराजा पृथ्वीराज चौहान के समकालीन थे। पद्मसिंह का

हुआ। ना०प्र०प्रत्रिका में प्रकाशित इस लेख में वि०सं०१७५५ तक महाराणा अमरसिंह (दूसरे) का राज्य करना भूल अथवा लेखक तथा छापे का दोष ही समझना चाहिये। उक्त महाराणा का वि०सं० १७६८ में देहान्त हुआ।

16. पृ० ६४, पंक्ति १६, टिप्पण ७८, 'उसी दिन से भाला भी मेरे बुजुर्ग करते आये हैं।' मेवाड़ में पट्टे पर्वाने लिखने वाले कर्मचारी भट्टनागर कायस्थ हैं, जो पंचोली कहलाते हैं, और 'सहीवाला' इनकी उपाधि है। यह निश्चित है कि महाराणा अमरसिंह (दूसरा, वि०सं० १७५५–६८) के समय से तो मेवाड़ में सहीवालों का वंश ही राजकीय पट्टे-परवाने, ताम्रपत्र, हिन्दी भाषा के खरीते, खास रुक्के आदि को लिखता रहा है। उक्त महाराणा के पूर्व की मेवाड़ के नरेशों की तरफ से होने वाली सनद आदि, इस वंश वालों के हाथ की लिखी हुई उपलब्ध नहीं होती। 'सहीवालों' के लिखे हुए पट्टे, परवानों, दानपत्रों आदि की शैली तो वही है; परन्तु लिपि महाराणा अमरसिंह (दूसरे) की निर्दिष्ट लिपि के अनुसार एक ही प्रकार की है। समयान्तर से लिपि में और शैली में भी कुछ-कुछ परिवर्त्तन अवश्य हुआ है, जो स्वाभाविक है।

17. पृ० ६६, पंक्ति २२, 'वह पुस्तक [रासो] वर्तमान रूप में न पृथ्वीराज की समकालीन है और न चन्द जैसे समकालीन कवि की कृति', विक्रमाङ्कदेवचरित, नवसाहसाङ्क चरित आदि के भाँति पृथ्वीराजरासो काव्य ग्रन्थ है। उसमें इतिहास केवल आधार मात्र है। शेष कथा काव्य के ढङ्ग पर ही है, जिसमें अतिशयोक्ति होना स्वाभाविक है। अब तक जितनी रासो की प्रतियाँ मिली है, वे पन्द्रहवीं या सौलहवीं शताब्दी के पूर्व की नहीं मिली है, किन्तु रासो का अस्तित्व उससे पुराना है, ऐसा जैन विद्वानों के संगृहीत पुस्तकों से प्रतीत होता है (मुनि जिनविजयजी द्वारा सम्पादित, पुरातन प्रबन्ध संग्रह की भूमिका)। 'पृथ्वीराजविजय' महाकाव्य से भी प्रकट होता है कि महाराजा पृथ्वीराज चौहान (तृतीय) का बंदीजन पृथ्वीभट्ट था ऐसी अवस्था में जिस प्रकार कि जयानक ने अपने आश्रयदाता नरेश की कीर्ति को चिरजीवित रखने के लिये संस्कृत भाषा में 'पृथ्वीराजविजय' महाकाव्य की रचना की। उस ही प्रकार पृथ्वीराज के बंदीजन पृथ्वीभट्ट ने भी उस समय के प्रबल पराक्रमी दिल्ली पति महाराजा पृथ्वीराज की कीर्ति गाथा को अमर करने के लिए अपनी भाषा

में वीरकाव्य 'पृथ्वीराजरासो का' निर्माण किया हो, यह असम्भव नहीं है। जैसा कि कविगण काव्य रचना में अपना 'उपनाम' भी प्रयोग करते हैं, उसही प्रकार बहुत सम्भव है कि पृथ्वीभट्ट का उपनाम चन्द भी रहा हो, अथवा पृथ्वी का पर्यायवाची शब्द 'चन्द', कवि ने जान बूझ कर प्रयोग किया हो। 'वरदाई' शब्द 'विरुद् वर्णन करने वाला' अर्थात् 'यश का बखान करने वाला, होगा, जो पृथ्वीभट्ट या चन्द के नाम के साथ रहना सार्थक ही है।

भी यह कहीं नहीं लिखा कि पृथ्वीराज दिल्ली में राज्य करता था। वे उसे अजमेर का राजा बतलाते हैं; उनका कहना है कि वह राजद्रोह के कारण विजेताओं (मुसलमानों) के हाथ से, जिन्होंने उसे उसके राज्य में कुछ अधिकार दे रखे थे, अजमेर में मारा गया।

"मुझे इस काल के इतिहास के संशोधन की बड़ी आवश्यकता जान पड़ती है और मैं समझता हूँ कि चन्द के रासो का प्रकाशन बंद कर दिया जाय, तो अच्छा होगा। वह ग्रंथ जाली है, जैसा कि जोधपुर के मुरारिदान और उदयपुर के श्यामलदास ने बहुत काल पहले प्रकट किया था। 'पृथ्वीराज विजय' के अनुसार पृथ्वीराज के वंदीराज अर्थात मुख्य भाट का नाम पृथ्वीभट था न कि चन्द बरदाई।"*

यह तो प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डाक्टर वूलर का मत है। हिंदी भाषा के इतिहास-लेखक मिश्र-बंधुओं ने अपनी 'हिंदी नवरत्न' नामक पुस्तक में चंदबरदाई का जन्म संवत् ११८३ और मृत्यु संवत् ११५० बतलाया है। और लिखा है—"रासो जाली नहीं है। पृथ्वीराज के समय में ही चंद ने इसे बनाया था। इसके अकृत्रिम होने का एक यह भी कारण समझ पड़ता है कि यदि कोई मनुष्य सोलहवीं शताब्दी के आदि में इसे बनाता, तो वह स्वयं अपना नाम न लिखकर ऐसा भारी (२५०० पृष्ठों का) बढ़िया महाकाव्य चंद को क्यों समर्पित कर देता।"‡

बाबू श्यामसुन्दरदास तथा पंडित रामचन्द्रजी शुक्ल पृथ्वीराज रासो की घटनाओं तथा संवतों को अशुद्ध स्वीकार करते हुए उसके कर्त्ता का समय १२२५ और १२४८ के बीच में मानते हैं और 'पृथ्वीराज-विजय' में जिन जिन घटनाओं तथा नामों का उल्लेख है, उन्हें ठीक समझते हैं।

---

* यह पत्र एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल की प्रोसीडिंग्ज़ संख्या ४ और ५ (अप्रेल और मई) सन् १८९३ पृ० ९४-९५ में प्रकाशित हुआ है*।

‡ हिंदी नवरत्न; तृतीय संस्करण; पृष्ठ ५५।

‡ वही; पृष्ठ ५९१।

* नागरीप्रचारिणी पत्रिका; भाग ६, पृष्ठ २८।

† [illegible]

यदि 'पृथ्वीराज-विजय' और 'पृथ्वीराज रासो' दोनों ग्रंथ पृथ्वीराज के समय में लिखे गए होते, तो एक ग्रंथ में पृथ्वीराज की वंशोत्पत्ति, उसके पूर्व-पुरुषों की नामावली, उसके माता पिता, भाई, बहिन तथा रानियों के नाम और युद्धों आदि के जो वर्णन दिए हुए हैं, वे ही दूसरे में भी होते, परंतु पृथ्वीराजरासो की मुख्य मुख्य बातें पृथ्वीराज-विजय से बहुधा भिन्न हैं और विजय के कथन तो शिलालेख आदि से मिलते हैं, पर रासो के नहीं। ऐसी दशा में दोनों ग्रंथों का निर्माण-काल पृथ्वीराज के समय में मानना किसी प्रकार युक्तिसंगत नहीं।

अब हम पृथ्वीराज रासो का समय निर्णय करने के लिये उसमें दी हुई मुख्य मुख्य घटनाओं की जांच करते हैं—

पृथ्वीराज रासो और अग्निवंशी क्षत्रिय

पृथ्वीराज रासो में लिखा है—"आबू पर्वत पर एक बार ऋषि लोग यज्ञ करने लगे तो राक्षसों का समूह यज्ञ-विध्वंस की चेष्टा करने लगा। इस महान उपद्रव से अत्यन्त दुःखी हो सब ऋषियों ने वशिष्ठ के पास जाकर अपना समस्त दुःख निवेदन किया। तब वशिष्ठ ने स्वयं अग्निकुंड के पास आकर उसमें से परिहार, चालुक्य और परमार ये तीन क्षत्रिय उत्पन्न किए और उन्हें राक्षसों को मारने के लिये आज्ञा दी, किंतु जब यथासाध्य चेष्टा करने पर भी इन तीनों क्षत्रियों द्वारा अपेक्षित कार्य का संतोषप्रद साधन न हो सका तब वशिष्ठ स्वयं एक नवीन यज्ञकुंड की रचना कर श्री चतुरानन ब्रह्मा का ध्यान करते हुए आहुति देने लगे, जिससे तुरंत ही चार बाहुवाला एक दीर्घकाय महान् तेजस्वी पुरुष उत्पन्न हुआ। ....वेदी से निकले हुए उस पुरुष को देखकर वशिष्ठ ने उसे चहुवान नाम से संबोधन किया"। *

इस समय उक्त चारों क्षत्रियों के वंशज अपने को अग्निवंशीय मानते हैं, पर उनमें से केवल परमार की उत्पत्ति के संबंध में परमारों के शिलालेखों तथा उनके

* नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित पृथ्वीराजरासो, आदि पर्व; पृथ्वीराजरासो सार; पहिला समय, पृष्ठ ७-८।

† अस्त्युच्चैर्गगनावलंबशिखरः क्षोणीभृदस्यां भुवि-
ख्यातो मेरुमुखोच्छ्रुतादिषु परां कोटिं गतोप्यब्बुर्द (बुर्दः)
.........[२] ॥

ऐतिहासिक ग्रंथों * में लिखा है—'एक बार विश्वामित्र' आबू पर्वत पर रहनेवाले वशिष्ठ ऋषि की गाय नंदिनी को हर ले गए। इस पर वशिष्ठ ने क्रुद्ध होकर अपने

तस्मिंस्त्यक्तभवश्चरित्रविभवस्तथ्यं तपो तप्यत
ब्रह्मज्ञाननिधिगु णैर्निरवधिः श्रेष्ठो वसिष्ठो मुनिः ।
········[४] ॥
मुनेस्तस्यांतिके रेजे निर्मला देव्यरुंधती ।
स्थिरवश्यें द्रियग्रामा तपः श्रीरव जंगमा ॥ [५] ॥
अनन्यसुलभा धेनुः कामपूर्वास्य सन्निधौ ।
ददती वांछितान्कामांस्तपः सिद्धिरिव स्थिता ॥ [६] ॥
ततः क्षत्रमदोद्वृत्तो गाधिराजसुतश्छलात् ।
धेनुं जह्रे स्य दुष्प्रापां विघ्न सिद्धिमिवोद्यतां ॥ [७] ॥
अथ परामवसंभवमन्युना ज्वलनचंडरुचा मुनिनामुना ।
रिपुवधं प्रतिवीरविधित्सया हुतभुजि स्फुटमंत्रयुतं हुतं ॥ [८] ॥
पृष्ठे तोणीरयुग्मं दधदथ च करे चंडकोदण्डदण्डं ।
बध्नन्जुटं जटानामतिनिविडतरं पाणिना दक्षिणेन ।
क्रुद्धो यज्ञोपवीती निजविषमदशा भाययञ्जीवलोकं ।
तस्मादुद्दामधामा प्रतिबलदलनो निर्गतः केपि वीरः ॥ [९] ॥
आदिष्टस्तेन यातो रणममरगणैर्मंगले गीयमाने ।
बाढं व्याप्तान्तरालैर्दिनकरकिरणच्छादकैर्बाणवर्षैः ॥
कृत्वा भंगं रिपूणां प्रबलभुजबलः कामधेनुं गृहीत्वा ।
भक्त्या तस्यांह्रिपद्मद्वयलुलितशिराः सोवतस्थौ पुरस्तात् ॥ [१०] ॥
आनतस्य जयिनः परितुष्टो वाञ्छिताशिषमसौ विधाय ।
तस्य नाम परमार इतीत्यं तथ्यमेव मुनिराशु (शु) चकार ॥ [११]

बांसवाड़ा राज्य के अर्थु णा ग्राम के मंडलीश्वर महादेव के मन्दिर में लगा हुआ परमार वंश के राजा मंडनदेव के समय में वि० सं० ११३६ का शिलालेख ।

इस प्रकार की उत्पत्ति अन्य शिलालेखों में भी मिलती है।

* ब्रह्माण्डमण्डमस्तम्भः श्रीमानस्त्यर्बुदो गिरिः ॥·····॥ ४६ ॥
अतिस्वाधीननीवारफलमूलसमित्कुशम् ।

अग्निकुंड में आहुति दी, जिससे उस कुंड में से एक वीर पुरुष प्रकट हुआ, जो शत्रु से लड़कर गाय छीन लाया। उसकी वीरता से प्रसन्न होकर ऋषि ने उसका नाम 'परमार' अर्थात् शत्रु के मारनेवाला रखा। पृथ्वीराज रासो का परमारों की उत्पत्ति का कथन ऊपर उद्धृत किए हुए उन्हीं के शिलालेखों और पुस्तकों से भी नहीं मिलता।

प्रतिहार, चालुक्य (सोलंकी) और चौहानों के १६ वीं शताब्दी के पूर्व के शिलालेखों और पुस्तकों में भी कहीं अग्निवंश या वशिष्ठ के यज्ञ के संबंध की कोई बात नहीं मिलती [२]। उनसे उनका वंश-परिचय नीचे लिखे अनुसार मिलता है।

प्रतिहार वंश की उत्पत्ति

ग्वालियर से वि० सं० ६०० (ई० स० ८४३) के आसपास की प्रतिहार राजा भोजदेव की एक बड़ी प्रशस्ति मिली है। उसमें प्रतिहार सूर्यवंशीय बतलाए गए हैं*। इसी प्रकार सुप्रसिद्ध कवि राजशेखर, जिसने वि० सं० की दसवीं शताब्दी में कई नाटक रचे, अपने नाट-

---

मुनिस्तपोवनं चक्रे तत्रेक्ष्वाकुपुरोहितः ॥ ६४ ॥
हृता तस्यैकदा धेनुः कामसूर्गाधिसूनुना।
कार्तवीर्यार्जुनेनेव जमदग्नेरनीयत ॥ ६५ ॥
स्थूलाश्रुधारसन्तानस्नपितस्तनवल्कला।
अमर्षपावककस्याभूद्भर्तुस्समिदरुन्धती ॥ ६६ ॥
अथाथर्वविदामाद्यस्समंत्रामाहुतिं ददौ।
विकसद्विकटज्वालाजटिले जातवेदसि ॥ ६७ ॥
ततः क्षणात् सकोदण्डः किरीटी काञ्चनाङ्गदः।
उज्जगामाग्नितः कोऽपि सहेमकवचः पुमान् ॥ ६८ ॥
दूरं संतमसेनेव विश्वामित्रेण सा हृता।
तेनानिन्ये मुनेर्धेनुर्दिनश्रीरिव भानुना ॥ ६९ ॥
परमार इति प्रापत् स मुनेर्नाम चार्थवत्। ...॥ ७१ ॥

पद्मगुप्त (परिमल) रचित 'नवसाहसाङ्कचरित'; सर्ग ११।

* मन्विक्ष्वाकुककुस्थ(त्स्थ) मूलपृथवः क्ष्मापालकल्पद्रुमाः ॥ २ ॥
तेषां वंशे सुजन्मा क्रमनिहितपदे धाम्नि वज्रेषु घोरं।

कों में उक्त भोजदेव के पुत्र महेंद्रपाल को, जो उसका शिष्य था, रघुकुल तिलक* और उसके पुत्र महीपाल को 'रघुवंशमुक्तामणि' लिखता है। शेखावाटी के प्रसिद्ध हर्षनाथ के मंदिर की चौहान राजा विग्रहराज की वि० सं० १०३० की प्रशस्ति से भी कन्नौज के प्रतिहारों का रघुवंशी होना ज्ञात होता है†। इन प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतिहार पहले अपने को अग्निवंशीय नहीं; किंतु सूर्यवंशीय (रघुवंशी) मानते थे।

चालुक्यवंश की उत्पत्ति

चालुक्य (सोलंकी) राजा विमलादित्य के ८ वें राज्यवर्ष अर्थात् वि० सं० १०७५ (ई०स०१०१८) के दानपत्र में सोलंकियों को चंद्रवंशी लिखा है। इसके सिवा उसमें ब्रह्मा से अत्रि, अत्रिसे सोम, सोम से लगा कर विचित्रवीर्य तथा उसके पुत्र पांडुराज तक की पूरी नामावली, पांडु के पाँचों पुत्रों युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, आदि के नाम और अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु से लगाकर विमलादित्य तक की वंशावली भी दी हुई है§। इससे स्पष्ट है कि उक्त संवत् में सोलंकी अपने को चंद्रवंशांतर्गत पांडवों के वंशज मानते थे।

रामः पौलस्त्यहिन्श्र (हिंस्रं) क्षत विहतिसमित्कर्म्म चक्रे पलाशैः ।
श्लाघ्यस्तस्यानुजोसौ मघवमदमुषो मेघनादस्य संख्ये ।
सौमित्रिस्तीव्रदंडः प्रतिहरणविधेर्यः प्रतीहार आसीत् ॥ ३ ॥
तद्वंशे प्रतिहारकेतनभृति त्रैलोक्यरक्षास्पदे ।
देवो नागभटः पुरातनमुनेर्मूर्तिर्ब्बभूवाद्भुतम् ।''''''॥ ४ ॥

आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इन्डिया; वार्षिक रिपोर्ट, ई० सन् १९०३-४, पृ० २८०।

*रघुकुलतिलको महेंद्रपालः (विद्धशालभंजिका) ।
देवो यस्य महेंद्रपालनृपतिः शिष्यो रघुग्रामणिः ।
बालभारत; १ । ११ ।
तेन (महीपालदेवेन) च रघुवंशमुक्तामणिना ।
बालभार ।

† इन्डियन् एंटिक्वेरी; जिल्द ४२, पृष्ठ ५८–५९ ।

§ श्रीधाम्नः पुरुषोत्तमस्य महतो नारायणस्य प्रभो-
र्न्नाभीपंकरुहाद् बभूव जगतस्स्रष्टा स्वयं भूस्ततः [।]

सोलंकी राजा कुलोत्तुंग चोड़देव (दूसरे) के सामंत बुद्धराज के शक संवत् १०६३ (वि० सं० १२२८ के दानपत्र) में कुलोत्तुंग चोड़देव के प्रसिद्ध पूर्वज कुब्ज-विष्णु* को 'चंद्रवंश-तिलक' कहा है! सुप्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचंद्र ने, जो गुजरात के सोलंकी राजा जयसिंह (सिद्धराज, वि० सं० ११५०–११९९) तथा उसके उत्तराधिकारी कुमारपाल (वि० सं० ११९९-१२३०) से सम्मानित हुआ था, अपने 'द्वयाश्रय महाकाव्य' के ९ वें सर्ग में गुजरात के सोलंकी राजा भीमदेव के दूत और चेदि देश के राजा कर्ण के वार्तालाप का सविस्तर वर्णन किया है। उसका सारांश यह है—

"दूत ने राजा कर्ण से पूछा कि भीम आप से यह जानना चाहते हैं कि आप उनके मित्र हैं वा शत्रु। इसके उत्तर में कर्ण ने कहा कि कभी निर्मूल न होने वाला सोम (चंद्र) वंश विजयी है। इसी वंश में जन्म लेकर पुरूरवा ने पृथ्वी का पालन किया। इंद्र के अभाव में डरे हुए स्वर्ग का रक्षण करनेवाला मूर्तिमान् क्षात्रधर्म नहुप इसी कुल में उत्पन्न हुआ। इसी वंश के राजा भरत ने निरंतर

जज्ञे मानससूनुरत्रिरिति यस्तस्मान्मुनेरत्रित-
स्सोमो वंश[क]रस्सुधाशुरुदित [:] श्रीकंठचूडामणिः ॥ १ ॥
तस्मादासीत्सु[धा]सूतेर्बु धोबु[ध]नुतस्ततः । [।]
ज[।]तः पुरु(रू)रवानाम चक्रव[र्ती स] विक्रमः । [२]
ततोर्जु नादभिमन्युरभिमन्योः परिक्षि[त् परिक्षि] तो जनमेजयः जनमेजया-
त्क्षेमुकः क्षेमुकान्नरवाहनः नरवा[हन] । [च्छ]तानीकः शतानीकादुदयनः
.... । तस्यैव दाननृपतेरसाध्व्याश्चार्य्य [।] महादेव्याः [।]
सूनुर्व्विमलादित्यस्सत्याश्रयवंशवर्द्धनो देवः [१२]
अनलानलरंध्रगते शकवर्षे वृषभमासि सितपक्षे ।
यष्पष्ठ्यां गुरुपुष्ये सिंहे लग्ने प्रसिद्धमभिषिक्तः । [१३]
एपिग्राफीआ इन्डिका; जिल्द ६ पृ० ३५१–५८ ।

* ओं [॥] अस्ति श्रीस्तनकुंकुमांकितविराज [व्यू]ढ वक्षस्थलो
देवश्शीतमयूखवंशतिलक [:] श्री [कु]ब्जविष्णुर्नृपः ।.....१
वही; जिल्द ६, पृ० २६६ ।

संग्राम करने और अनीति के मार्ग पर चलनेवाले दैत्यों का संहार कर अतुल यश प्राप्त किया। इसी कुल में जन्म लेकर धर्मराज युधिष्ठिर ने उद्धत शत्रुओं का नाश किया। जनमेजय तथा अन्य अक्षय यश वाले तेजस्वी राजा इसी वंश में हुए और इन सब पूर्ववर्ती राजाओं की समानता करनेवाला भीम (भीमदेव) इस समय विजयी है। सत्पुरुषों में परस्पर मैत्री होना स्वाभाविक है, अतएव हमारी मैत्री के विरुद्ध कौन क्या कह सकता है"।*

ऊपर उद्धृत किए हुए प्रमाणों से निश्चित है कि पृथ्वीराज के समय तथा उससे पूर्व भी सोलंकी अपने को अग्निवंशी नहीं, किंतु चंद्रवंशी और पांडवों की संतान मानते थे[3]।

चौहान वंश की उत्पत्ति

पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर का बड़ा भाई विग्रहराज (वीसलदेव चतुर्थ) बड़ा विद्वान् राजा था। उसने अजमेर में अपनी बनवाई हुई संस्कृत पाठशाला (सरस्वती मंदिर) में अपना बनाया हुआ 'हरकेलि नाटक', अपने राजकवि सोमेश्वर रचित 'ललित विग्रहराज' नामक नाटक तथा चौहानों के इतिहास का एक काव्य शिलाओं पर खुदवाए। मुसलमानों ने उस मंदिर को तोड़कर वहाँ पर 'ढाई दिन का झोंपड़ा' नाम की मसजिद बनवाई। वहीं से उक्त काव्य की प्रथम शिला मिली है, जिसमें चौहानों को सूर्यवंशी कहा है।†

---

* द्व्याश्रय महाकाव्य; सर्ग ६, श्लोक ५०–५६ (सोलंकियों का प्राचीन इतिहास; प्रथम भाग, पृष्ठ ६ और १० के टिप्पण में प्रकाशित)

† ....देवोः रवि पातु वः ।

तस्मात्समालंव(ब)नदंडयोनिरभुञ्जनस्य स्खलतः स्वमार्गे ।

वंशा स दैवोदरसो नृपाणानतुद्रतैनोवुणकीटरन्ध्रः ॥ ३४ ॥

समुत्थितोर्कदनरण्ययोनिरुत्पन्नपुन्नागकदंव(ब) शाखः ।

आश्चर्यमंतः प्रसरत्कुशोयं वंशोर्थिनां श्रीफलतां प्रयाति ॥ ३५ ॥

आधिव्याधिकुवृत्तदुर्गतिपरित्यक्ताप्रजास्तत्र ते

सप्तद्वीपभुजो नृपाः समभवन्निक्ष्वाकुरामादयः । ....३६ ॥

'पृथ्वीराज विजय' में भी चौहानों को जगह जगह सूर्यवंशी लिखा है*, अग्निवंशी कहीं भी नहीं। ग्वालियर के तोमर (तँवर) वंशी राजा वीरम के दरबार के जैन कवि नयचंद्र सूरि ने वि० सं० १४६० के आसपास 'हम्मीरमहाकाव्य' बनाया। उसको भी चौहानों का अग्निवंशी होना मालूम नहीं था। उसने लिखा है—"ब्रह्माजी यज्ञ करने के निमित्त पवित्र भूमि की शोध में फिरते थे। उस समय उनके हाथ में से पुष्कर (कमल का फूल) गिर गया। जहाँ पर कमल गिरा, उस भूमि को पवित्र मान वहीं यज्ञ आरंभ किया, परंतु राक्षसों का भय होने से उन्होंने सूर्य का ध्यान किया, जिस पर सूर्यमंडल से एक दिव्य पुरुष उतर आया। उसने यज्ञ की रक्षा की और यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हुआ। जिस स्थान पर ब्रह्माजी के हाथ से पुष्कर (कमल) गिरा था, वह स्थान पुष्कर तीर्थ के नाम से प्रसिद्ध हुआ और सूर्यमंडल से बुलाया हुआ जो वीर पुरुष आया था, वह चाहमान (चौहान) कहलाया और ब्रह्माजी की कृपा से महाराजा बनकर राजाओं पर राज्य करने लगा"। †

तस्मिन्नथारित्रिजयेन विराजमानो

राजानुरंजितजनोजनि चाहमानः ।..................॥ ३७ ॥

चौहानों के ऐतिहासिक काव्य की राजपूताना म्यूजियम (अजमेर) में रखी हुई पहली शिला।

* काकुत्स्थमिक्ष्वाकुरघू च यद्दधत्

पुराभवत्त्रिप्रवरं रघोः कुलम्।

कलावपि प्राप्य स चाहमानतां

प्ररूढतुर्यप्रवरं बभूव तत् ॥ २ । ७१ ॥

...........भानोः प्रतापोन्नतिं ।

तन्वन् गोत्रगुरोर्निजेन नृपतेर्जज्ञे सुतो जन्मना ॥ ७ । ५० ॥

सुतोप्यपरगांगेयो निन्येस्य रविसूनुना।

उन्नतिं रविवंशस्य पृथ्वीराजेन पश्यता ॥ ८ । ५४ ॥

पृथ्वीराजविजय महाकाव्य।

† यज्ञाय पुण्यं क्वचन प्रदेशं द्रष्टुं विधातुर्भ्रमतः किलादौ।

प्रपेतिवत् पुष्करमाशुपाणिपद्मात्पराभूतमिवास्य भासा ॥ १४ ॥

इस प्रकार पृथ्वीराज के पूर्व से लगाकर वि० सं० १४६० के आस पास तक चौहान अपने को सूर्यवंशी मानते थे[5]। यदि पृथ्वीराज रासो पृथ्वीराज के समय का बना हुआ होता, तो वह चौहानों को अग्निवंशी न कहता।

पृथ्वीराज-रासो और चौहानों की वंशावली

पृथ्वीराज रासो में पृथ्वीराज तक की जो वंशावली दी है, वह अधिकांश में कृत्रिम है। हम वि० सं० १०३० से लगाकर वि० सं० १६३५ के आस पास तक के चौहानों के शिलालेखों और संस्कृत-पुस्तकों में मिलने वाली भिन्न भिन्न वंशावलियों का एक नक्शा यहाँ देते हैं, जिसमें पृथ्वीराज रासो की भी वंशावली उद्धृत की गई है। उनके परस्पर के मिलान से ज्ञात हो जायगा कि रासो का कर्त्ता पृथ्वीराज का समकालीन नहीं हो सकता, क्योंकि रासो की वंशावली कुछ इधर उधर के नामों को छोड़कर सारी कृत्रिम है। किसी भी प्राचीन शिलालेख या ग्रन्थ से नहीं मिलती।

उक्त नक्शे को देखने से ज्ञात हो जायगा कि चौहानों के सबसे पुराने वि० सं० १०३० के लेख में दिए हुए आठों नाम बिजोलियाँ के लेख से और पृथ्वीराज विजय से ठीक मिल जाते हैं। तनिक अंतर के विषय में यही कहना आवश्यक होगा कि गूवक (प्रथम) के स्थान पर गोविंदराज लिखा है, जो उक्त प्राकृत नाम का संस्कृत रूप है। शशि नृप और चन्द्रराज भी एक दूसरे के पर्यायवाची हैं। इसी तरह प्राकृत 'वप्पराज' का संस्कृत रूप वाक्पतिराज है।

बिजोलियाँ के लेख और पृथ्वीराज विजय की वंशावली भी पूर्णतः परस्पर मिलती है। बिजोलियाँ के लेख का लौकिक नाम 'गण्डू' संस्कृत में गोविंदराज में,

---

ततः शुभं स्थानमिदं विभाव्य प्रारब्धयज्ञो यमपास्तदैन्यः।
विशंक्य भीतिं दनुजव्रजेभ्यः स्मेरस्य सस्मार सहस्ररश्मेः॥ १५॥
अवातरन्मंडलतोथभासां पत्युः पुमानुद्यतमंडलाग्रः।
तं चाभिषिच्याश्वदसीयरक्षाविधौ व्यधादेष मखं सुखेन॥ १६॥
पपात यत् पुष्करमत्रपाणेः ख्यातं ततः पुष्करतीर्थमेतत्।
यच्चायमागादथ चाहमानः पुमानतोऽख्यायि स चाहमानः॥ १७॥

हम्मीर महाकाव्य; सर्ग १।

'इसल' दुर्लभ में और 'वीसल*' विग्रहराज में बदल गए हैं। बिजोलियाँ के लेख का सिंहट नाम पृथ्वीराज-विजय में नहीं है और पृथ्वीराजविजय का अपरगांगेय (अमरगंगू)† उक्त शिलालेख में नहीं है। प्रबन्धकोष के अन्त में दी हुई चौहानों की वंशावली भी बीजोल्याँ के लेख और पृथ्वीराजविजय से अधिकतर मिलती है, क्योंकि उसमें दिए हुए ३१ नामों में से २२ नाम ठीक मिल जाते हैं। हम्मीर महाकाव्य में दिए हुए ३१ नामों में से २१ नाम पृथ्वीराजविजय से और उनके अतिरिक्त ३ नाम प्रबन्धकोष से मिलते हैं। 'सुर्जनचरित' महाकाव्य बूँदी के चौहान राव सुर्जन के समय में वि० सं० १६३५ के आसपास बना, इसलिये उसमें प्राचीन ग्रंथों से बहुत अधिक समानता नहीं पाई जाती, तो भी २७ नामों में से १३ नाम मिल जाते हैं। उसमें और हम्मीर महाकाव्य तथा प्रबन्धकोप में अधिक समानता है। उपर्युक्त नामों के अतिरिक्त सुर्जनचरित के ७ नाम प्रबन्धकोष या हम्मीर महाकाव्य से मिलते हैं, परन्तु पृथ्वीराजरासो के ४४ नामों में से केवल कहीं कहीं के ७ नाम ही बिजोलियाँ के लेख और पृथ्वीराजविजय के नामों से मिलते हैं, अन्य सब कृत्रिम और कल्पित हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि पृथ्वीराजरासो बहुत अधिक अर्वाचीन है। यदि रासो पृथ्वीराज के समय ही बना होता तो उसकी वंशावली में और पृथ्वीराजविजय की वंशावली में इतना अधिक अन्तर न होता। पृथ्वीराजरासो १७ वीं सदी के पूर्वार्ध में बने हुए सुर्जनचरित से भी पीछे प्रसिद्धि में आया, ऐसा ज्ञात होता है। राजपूताने में चौहानों का मुख्य और पुराना राज्य बूँदी है। यदि सुर्जन के समय पृथ्वीराजरासो वहाँ प्रसिद्धि में आगया होता, तो उसी के आधार पर सुर्जनचरित में वंशावली लिखी जाती, परंतु ऐसा न होना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि उस समय तक बूँदी में उसकी प्रसिद्धि नहीं हुई थी। उस समय पृथ्वीराजरासो की कुछ कथाएँ जनश्रुति से लोगों में कुछ कुछ अवश्य प्रचलित थी।

---

* अशोक के लेखवाले दिल्ली के सवालक स्तंभ पर के चौहान राजा विग्रहराज (वीसलदेव) के वि० सं० १२२० वैशाख सुति (सुदि) १५ के लेखों में वीसल और विग्रहराज दोनों एक ही राजा के नाम दिए हैं। इन्डियन ऐंटिक्वेरी जिल्द १९ पृष्ठ २१८ और प्लेट।

† अबुलफ़ज़ल ने अमर गंगू नाम दिया है। वह थोड़े ही दिन राज्य कर बचपन में मर गया था, जिससे उसका नाम छोड़ दिया गया हो।

पृथ्वीराजरासो और पृथ्वीराज की माता

पृथ्वीराजरासो में लिखा है—दिल्ली के तँवर राजा अनंगपाल ने अपनी छोटी कुँवरी कमला का विवाह सोमेश्वर के साथ किया*, जिससे पृथ्वीराज का जन्म हुआ था। अंत में अनंगपाल देहली का राज्य अपने दौहित्र पृथ्वीराज को देकर बदरिकाश्रम में तप करने को चला गया†।" यह सारी कथा कल्पित है, क्योंकि उस समय न तो अनंगपाल दिल्ली का राजा था और न उसकी पुत्री कमला का विवाह सोमेश्वर के साथ हुआ था। दिल्ली का राज्य तो पहले ही सोमेश्वर के बड़े भाई विग्रहराज (चतुर्थ) ने ही अपने राज्य (अजमेर) के अधीन कर लिया था। बिजोलियाँ के उक्त लेख में विग्रहराज का दिल्ली और हाँसी को लेना लिखा है‡। तबक़ाते नासिरी में शहाबुद्दीन ग़ोरी के साथ की पहली लड़ाई में दिल्ली के राजा गोविंदराज का पृथ्वीराज के साथ होना और उसी (गोविंदराज) के भाले से सुलतान का घायल होकर लौटना तथा दूसरी लड़ाई में, जिसमें पृथ्वीराज की हार हुई, उस (गोविंदराज) का मारा जाना लिखा है§। इससे निश्चित है कि पृथ्वीराज (तीसरे) के समय दिल्ली अजमेर के उक्त सामंत के अधिकार में थी।

पृथ्वीराज की माता का नाम भी कमला नहीं, किंतु कर्पूरदेवी था और वह दिल्ली के राजा अनंगपाल की पुत्री नहीं, किंतु त्रिपुरी (चेदि अर्थात् जबलपुर के आसपास के प्रदेश की राजधानी) के हैहय (कलचुरि) वंशी राजा तेजल (अचलराज) की पुत्री थी‖।

---

* पृथ्वीराजरासो; आदि पर्व, रासोसार, पृ० १५।

† वही; दिल्ली-दान-प्रस्ताव, अट्ठारहवाँ समय, रासोसार, पृ० ६२।

‡ प्रतोल्यां च वलभ्यां च येन विश्रामितं यशः [।]
ढिल्लिकाग्रहणश्रांतमाशिकालाभलंभितः (तं) ॥ २२ ॥

बिजोलियाँ का लेख (छाप पर से)।

§ तबक़ातेनासिरी का अँगरेजी अनुवाद (मेजर रावर्टी का किया हुआ); पृ० ४५९-६८।

‖ इति साहससाहचर्यचर्यस्समयज्ञैः प्र[तिपादि]त प्रभावाम्।
तनयां स सपादलक्षपुण्यैरुपयेमे त्रिपुरीपुर[न्द]रस्य ॥ [१९] ॥

पृथ्वीराजविजय; सर्ग ७।

यदि पृथ्वीराजरासो पृथ्वीराज के समय में लिखा जाता, तो उसमें यह घटना ऐसी कल्पित न लिखी जाती। पंद्रहवीं शताब्दी का लेखक नयचंद्र भी 'हम्मीर-महाकाव्य' में पृथ्वीराज की माता का नाम कर्पूरदेवी देता है* और सुर्जनचरित का कर्त्ता भी कर्पूरदेवी ही लिखता है, तथा उसको दिल्ली के राजा की पुत्री नहीं, किंतु दक्षिण के कुंतल देश के राजा की पुत्री बतलाता है।†

पृथ्वीं पवित्रतां नेतुं राजशब्दं कृतार्थताम् ।
चतुर्वर्णधनं नाम पृथ्वीराज इति व्यधात् ॥ [२०] ॥

वही; सर्ग ८ ।

मुक्तेवति सुधन्वावंशं गलत्पुरुषमौक्तिकं ।
देवं सोमेश्वरं द्रष्टुं राजश्रीरुदकण्ठत ॥ [५७] ॥
आत्मजाभ्यामिव यशः प्रतापाभ्यामिवान्वितः ।
सपादलक्षमानिन्ये महामात्यैर्महीपतिः ॥ [५८] ॥
कर्पूरदेव्यथादाय दानभोगविवात्मजौ ।
विवेशाजयराजस्य संपन्मूर्तिमती पूरीम् ॥ [५९] ॥

वही; सर्ग ८ ।

* इलाविलासी जयति स्म तस्मात्
सोमेश्वरोऽनश्वरनीतिरीतिः ॥ ६७ ॥
कर्पूरदेवीति बभूव तस्य
प्रिया [प्रिया] राधनसावधाना ॥ ६८ ॥

हम्मीरमहाकाव्य; सर्ग २ ।

† शकुन्तलाभां गुणरूपशीलैः
स कुन्तलानामधिपस्य पुत्रीम् ।
कर्पूरधारां जनलोचनानां
कर्पूरदेवीमुदुवाह विद्वान् ॥ ४ ॥

सुर्जन चरित; सर्ग ६ ।

पृथ्वीराजरासो और पृथ्वीराज की बहिन

पृथ्वीराजरासो में लिखा है-'पृथ्वीराज की बहिन पृथा का विवाह मेवाड़ के राजा समरसिंह (रावल तेजसिंह के पुत्र और रत्नसिंह के पिता) के साथ हुआ था*, जो पृथ्वीराज के पक्ष में लड़ता हुआ शहाबुद्दीन के साथ की लड़ाई में मारा गया †।

यह कथा भी बिलकुल कल्पित है; क्योंकि समरसिंह पृथ्वीराज के बहुत समय बाद हुआ। पृथ्वीराज का देहांत (वि०सं०१२४६ ई०स० ११६३में) हो गया था। समरसिंह का दादा जैत्रसिंह उक्त संवत् के बहुत बाद तक विद्यमान था। उसके समय के दो शिलालेख में से एक एकलिंगजी के मंदिर के चौक में और दूसरा नादेसमा गाँव में चारभुजा के मंदिर के निकटवर्ती सूर्य-मंदिर के स्तंभ पर तथा दो हस्तलिखित पुस्तकें मिली हैं। दोनों शिलालेख क्रमशः वि० सं० १२७०‡ और १२७९§ के हैं। उसी के समय में 'पाक्षिकवृत्ति' वि० सं० १३०६$ लिखी गई। इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि जैत्रसिंह वि० सं० १३०६ तक विद्यमान था। समरसिंह का पिता तेजसिंह वि० सं० १३२४॥ तक तो अवश्य विद्यमान था, जैसा कि उसके

---

* पृथ्वीराजरासो, पृथाव्याह कथा; (इक्कीसवाँ समय) रासोसार; पृ०७०-७१ ।

† पृथ्वीराजरासो, बड़ी लड़ाई; (छासठवाँ समय) रासोसार पृ०४२८ ।

‡ संवत् १२७० वर्षे महाराजाधिराज श्री जैत्रसिंह देवेषु····· (भावनगर प्राचीन-शोधसंग्रह; पृ० ४७, टिप्पण। भावनगर इंस्क्रिप्शंस; पृ० ९३, टिप्पण)।

§ ओं संवत् १२७९ वर्षे वैशाख सुदि १३ सु (शु) के अद्येह श्रीनागद्रहे महाराजाधिराज-श्रीजयतसिंहदेवकल्याणविजयराज्ये ···················(नादेसमा का शिलालेख)।

$ संवत् १३०६ वर्षे माघ वदि १४ सोमे स्वस्ति श्रीमदाघाटे महाराजाधिराजभगवन्नारायणदक्षिण-उत्तराधीशमानमर्दनश्रीजयतसिंहदेवतत्पदविभूषणराजाश्रिते जयसिंहविजयराज्ये ···············ठ० वयजलेन पाक्षिक वृत्तिर्लिखितेति ॥

(पीटर्सन की तीसरी रिपोर्ट; पृ०१३०)।

॥ संवत् १३२४ वर्षे इहचित्रकूटमाहादुर्गे तलहट्टिकायां पवित्र·· महाराज श्रीतेजःसिंहदेवकल्याण विजयी·······।

दी जर्नल आफ एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल; जि०५५, भाग १, १८८६. पृ०४६-४७।

समय के उक्त संवत् के शिलालेख से, जो गंभीरी नदी (चित्तोड़ के पास) के पुल के नवें कोठे (महराब) में लगा है, पाया जाता है। समरसिंह के समय के आठ शिलालेख मिले हैं, जिनमें से प्रथम वि० सं० १३३०* का है, जो चीरवे के विष्णु-मंदिर की दीवार में लगा है और अंतिम लेख वि० सं १३५८† का है, जो चित्तोड़ के रामपोल दरवाजे के बाहर पड़ा हुआ पाया गया। इनसे स्पष्ट है कि रावल समरसिंह वि० सं० १३५८ तक अर्थात् पृथ्वीराज की मृत्यु से १०६ वर्ष पीछे तक तो अवश्य जीवित था। ऐसी अवस्था में पृथाबाई के विवाह की कथा भी कपोलकल्पित है। पृथ्वीराज, समरसिंह और पृथाबाई के वि० सं ११४३ और ११४५ (इस संवत के दो); वि० सं० ११३६ और ११४५; तथा वि० सं० ११४५ और ११५७ के जो पत्र, पट्टे, परवाने नागरीप्रचारणी सभा द्वारा प्रकाशित हिंदी पुस्तकों की खोज में फोटो सहित छपे हैं, वे सब जाली हैं, जैसा कि हमने नागरीप्रचारिणी पत्रिका (नवीन संस्करण) भाग १, पृ० ४३२-५२ में बतलाया है।

पृथ्वीराजरासो और सोमेश्वर की मृत्यु

रासो का कर्त्ता लिखता है 'गुजरात के राजा भीम के हाथ से पृथ्वीराज का पिता सोमेश्वर मारा गया। अपने पिता का वैर लेने के लिये पृथ्वीराज ने गुज-रात पर चढ़ाई कर कर भीमदेव को मारा और उसके पुत्र कचराराय को अपनी ओर से गद्दी पर बिठाकर गुजरात के कुछ परगने अपने राज्य में मिला लिए'।‡

यह सारी कथा भी असत्य है, क्योंकि न तो सोमेश्वर भीमदेव के हाथ से मारा गया और न भीम पृथ्वीराज के हाथ से। सोमेश्वर के समय के कई शिलालेख मिले हैं, जिनमें से पहला वि० सं० १२२६ फाल्गुन वदी ३ का बिजौलियाँ का

---

* यह शिलालेख मेरी तैयार की हुई छाप के आधार पर छप चुका है (विएना ओरिएंटल जर्नल; जि० २१, पृ० १५५—१६२)।

† ओं ॥ संवत् १३५८ वर्षे माघ शुदि १० दशम्यां .... महाराजाधिराज श्रीसमरसिंह दे [वक] ल्याणविजयराज्ये .... ।

आंवलदा गांव का लेख (अप्रकाशित)।

यह शिलालेख उदयपुर के विक्टोरिया हाल में सुरक्षित है।

‡ पृथ्वीराजरासो; भीमवध (चौवालीसवाँ समय), रासोसार; पृ० १५६ ।

शिलालेख राजपूताना म्यूज़ियम (अजमेर) में विद्यमान है। उसके पुत्र धारावर्ष के १४ शिलालेख और १ ताम्रपत्र मिला है, जिनमें से वि० सं० १२२० ज्येष्ठ सुदि १५,* वि० सं० १२६५, १२७१ और १२७४† के चार मूल लेख राजपूताना म्यूज़ियम में सुरक्षित हैं, जिनसे निश्चित है कि पृथ्वीराज की गद्दीनशीनी के पूर्व से लगाकर उसकी मृत्यु के बहुत पीछे तक आबू का राजा धारावर्ष था, न कि सलख या जैत।

दाहिमा चावंड की बहिन से विवाह

पृथ्वीराजरासो में लिखा है कि, १३ वर्ष की अवस्था में पृथ्वीराज ने दाहिमा चावंड की बहन से विवाह किया, जिससे रैणसी का जन्म हुआ‡। यह कथन भी निराधार कल्पित है, क्योंकि पृथ्वीराज का पुत्र रैणसी नहीं किंतु गोविंदराज था, जो पृथ्वीराज के मारे जाने के समय बालक था। फ़ारसी तवारीखों में उसका नाम 'गोला' या 'गोदा' पढ़ा जाता है, जो फ़ारसी वर्णमाला की अपूर्णता के कारण गोविंदराज का विगड़ा हुआ रूप ही है। हम्मीर महाकाव्य में भी गोविंदराज नाम मिलता है§। सुलतान शहाबुद्दीन ने अपनी अधीनता में उसे अजमेर की गद्दी पर बिठाया, परंतु उसके सुलतान की अधीनता में रहने के कारण पृथ्वीराज के छोटे भाई हरिराज ने उसे अजमेर से निकाल दिया, जिससे वह रणथंभोर में जा रहा। हरिराज का नाम पृथ्वीराजरासो में नहीं दिया, परंतु पृथ्वीराज-

---

* ओं ॥ स्वस्ति श्री संवत् १२२० जेष्ट सु[शु]दि १५ शनिदिने सोमपर्व्वे महाराजाधिराज-महामंडलेश्वर श्रीधारावर्षदेवेन शासनं प्रदत्तं .... ।

इंडियन ऐंटिक्वेरी; जि० ५६, पृ० ५१ ।

† संवत् १२७४ माघफाल्गू (ल्गु) नयो [म] ध्ये [सो]मग्रहणपर्व्वे श्रीधोमराजसंतान जसधवलदेवसूत (सुत) श्रीधारावर्ष विजयराज्ये ।

वही; जि० ५६, पृ० ५१ ।

‡ पृथ्वीराजरासो; विवाह समय (पैंसठवाँ समय), रासोसार; पृ० ३८२ ।

§ तत्रास्ति पृथ्वीराजस्य प्राक पित्रातो निरासितः ।
पुत्रो गोविन्दराजाख्यःस्वसामर्थ्यात्तवैभवः ॥ २४ ॥

हम्मीरमहाकाव्य; सर्ग ४ ।

विजय, प्रबंधकोश के अंत की वंशावली और हम्मीर महाकाव्य में दिया है* और फ़ारसी तवारीखों में हीराज या हेमराज मिलता है,† जो उसी के नाम का बिगड़ा हुआ रूप है।

शशिव्रता और हंसावती से विवाह

इसी तरह रासे में देवगिरि के यादव राजा भान की पुत्री शशिव्रता और रणथंभोर के यादव राजा भानराय की पुत्री हंसावती से विवाह करना लिखा है‡। ये दोनों बातें भी कल्पित हैं, क्योंकि देवगिरि में भान नाम का कोई राजा ही नहीं हुआ। रणथंभोर पर कभी यादवों का राज्य ही नहीं रहा। उस पर तो पहले से ही चौहानों का अधिकार था। पृथ्वीराज के मारे जाने के बाद उसके भाई हरिराज ने अपने भतीजे गोविंदराज को अजमेर से निकाला, तब वह रणथंभोर में रहा§ और हम्मीर तक उसके वंशजों ने वहीं राज्य किया$।

इसी प्रकार ११ वर्ष की अवस्था से लगाकर ३६ वर्ष की अवस्था तक के १४ विवाह होना पृथ्वीराजरासो में लिखा है, जो ऊपर जाँच किए हुए पाँच विवाहों के समान निर्मूल हैं। पृथ्वीराज ३६ वर्ष तक जीवित भी नहीं रहा।

---

* जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी; ई० स० १९१३, पृ० २७०-७१।

† इलियट; हिस्ट्री ऑफ इंडिया; जिल्द २, पृष्ठ २१९।

‡ पृथ्वीराजरासो; विवाह समय (पैंसठवाँ समय), रासोसार; पृ० ३८२।

§ मंत्रयित्वेति भूपीयं सर्वं कोशबलादिकं।
सहादाय चलति स्म रणस्तंभपुरं प्रति ॥ २६ ॥
दावपावकवत् वाद्यैं ज्वालयन् देशमुद्धसं।
शकः पश्चादुपागत्याऽजयमेरुपुरं ललौ ॥ २७ ॥
अथ प्राप्य रणस्तंभं पुरं गोविन्दभूपतेः।
समगमत ते सर्वे वृत्तान्तं च न्यगादिषुः ॥ २८ ॥
पितृव्यस्य तथाभूतं मृत्युं श्रुत्वा धराधिपः।
वाचामगोचरं कष्टं कलयामास मानसे ॥ २९ ॥

हम्मीरमहाकाव्य; सर्ग।

$ वही; सर्ग ४ से सर्ग १४ तक।

वह तो ३० वर्ष से पहले ही मारा गया था। वि० सं० १२२६ में जब वह गद्दी पर बैठा, उस समय वह बालक था और उसकी माता कर्पूरदेवी अपने मंत्री कादंबवास की सहायता से राज्य-कार्य करती थी*।

यदि पृथ्वीराजरासो पृथ्वीराज के समय में लिखा गया होता, तो पृथ्वीराज का वंश परिचय, उसके पूर्व पुरुषों की नामावली, माता, पिता, बहिन और रानियों आदि का तो शुद्ध परिचय मिलना चाहिए था। ऐसा न होना यही बतलाता है कि वह पृथ्वीराज के कई सौ वर्ष पीछे चौहानों के इतिहास से अनभिज्ञ चंद वरदाई नाम के किसी भाट ने लिखा होगा।

पृथ्वीराजरासो में दिए हुए भिन्न भिन्न संवतों की जाँच

पृथ्वीराजरासो में दिए हुए सभी संवत् अशुद्ध हैं। कर्नल टॉड ने पृथ्वीराजरासो के आधार पर चौहानों का इतिहास लिखते समय संवतों की जाँच कर उन्हें अशुद्ध बताया और लिखा कि आश्चर्यजनक भूल के कारण सब चौहान जातियाँ अपने इतिहासों में १०० वर्ष पहले के संवत् लिखती हैं†। रासो को प्राचीन सिद्ध करने की खींचतान में पं० मोहनलाल विष्णुलाल पड्या ने टॉड का बतलाया हुआ १०० वर्ष का अन्तर देखकर एक नए 'भटायत' संवत् की कल्पना कर वि० सं० १९४४ में 'पृथ्वीराजरासो की प्रथम संरक्षा' नामक पुस्तिका लिखी, परन्तु इस कल्पना से भी पृथ्वीराजरासो के संवतों की अशुद्धि दूर न हुई। इससे पृथ्वीराज के जन्म संवत् १११५ में ४३ साल जोड़कर उसकी मृत्यु ११५८ भटायत संवत् अर्थात् विक्रम

---

* ऋणशुद्धिं विनिर्माय निर्माणैरीदृशैः पितुः ।
तत्वरे दर्शनं कर्तुं परलोकजयी नृपः ॥ [७१] ॥
ए [काकिना हि] मत्पित्रा स्थीयते त्रिदिवे कथम् ।
बालश्च पृथिवीराजो मया कथमुपेक्ष्यते ॥ [७२] ॥
[इतिवास्याभिषिक्तस्य रक्षार्थव्रतचारिणीम् ।
स्थापयित्वा निजां देवीं पितृ] भक्त्या दिवं ययौ ॥ [७३] ॥

पृथ्वीराजविजय; सर्ग ८ ।

† टॉड राजस्थान (कलकत्ते का छपा अँगरेजी), जिल्द २ पृ० ५००, टिप्पण ।

संवत् १२४८ में माननी पड़ती थी, परंतु वि० सं० १२४९ में अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों से उनकी मृत्यु सिद्ध थी। इस वास्ते इन ९ वर्षों की कमी पूरी करने के लिये उन्होंने पृथ्वीराज के जन्म संवत् संबंधी दोहे* में 'अनंद' शब्द को देखकर अनंद संवत की कल्पना की और उक्त शब्द का अर्थ 'अनंद' अर्थात् नौ रहित' किया। फिर इसे नौ रहित सौ अर्थात् ९१ वर्ष का अंतर बताकर उन्होंने उक्त नवीन संवत् की कल्पना की और कहा कि पृथ्वीराजरासो में दिए हुए सब संवतों में ९१ जोड़ देने से वे शुद्ध विक्रम संवत् हो जाते हैं। 'अनंद संवत की कल्पना' नाम के विस्तृत लेख† में हमने इसकी निराधारता सिद्ध की है। अब हम पृथ्वीराजरासो में दिए हुए कुछ संवतों की जाँच नीचे करते हैं—

वीसलदेव की गद्दीनशीनी का संवत्

पृथ्वीराजरासो में वीसलदेव की गद्दीनशीनी का संवत् ८२१ दिया है‡ और लिखा है कि उसने शत्रुओं से अजमेर लिया और उसके बुलाने पर वीसल-सरोवर (वीसलिया नाम का तालाब, अजमेर में) पर अन्य राजा तो आ गए, परंतु गुजरात के चालुक्य राजा बालुकाराय के न आने के कारण वीसलदेव ने उसकी राजधानी पाटन पर चढ़ाई की। बालुकाराय के मंत्रियों ने उससे मिल कर संधि करली§।

यह संपूर्ण कथन भी निराधार है। अजमेर बसने के बाद वीसलदेव नाम का एक ही चौहान राजा (सोमेश्वर का बड़ा भाई) हुआ, जिसने अपने नाम से वीसलसर तालाब बनवाया और उसके समय के शिलालेख वि० १२१०-१२२० के मिले हैं$, जिनसे वि० सं० ८२१ अर्थात् पंड्याजी के अनंद संवत के अनुसार वि०

---

* एकादस सै पंचदह, विक्रम साक अनंद। तिहिं रिपु जय पुर हरन कौं, भय पृथीराज नरिंद।

† नागरीप्रचारिणी पत्रिका; (नवीन संस्करण) जिल्द १, पृष्ठ ३७७-४५४।

‡ आठ सै रु इक ईस वैठि बीसल सु पाट वख। सुक्रवार प्रतिपदा मास वैसाख सेत पख॥ ··· ३२९॥

पृथ्वीराजरासो; आदिपर्व, पहिला समय पृ० ६९।

§ पृथ्वीराजरासो; आदि पर्व, पहला समय, रासोसार पृ० ११।

$ संवत् १२१० मार्ग शुदि ५ आदित्यदिने श्रवण नक्षत्रे मकरस्थे चन्द्रे हर्षणयोगे बालवकरणे

सं० ६३१ में उसका राज्याभिषेक होना किसी प्रकार नहीं माना जा सकता। इसी तरह पंड्याजी के माने हुए संवत् तक पाटन में सोलंकियों का अधिकार भी नहीं हुआ था। उस समय तो क्षेमराज चावड़ा गुजरात का राजा था। वि० सं० १०१७ में सोलंकी मूलराज ने अपने मामा सामंतसिंह को मारकर पाटन का राज्य लिया और चावड़ा वंश की समाप्ति की। बालुकाराय नाम का सोलंकी राजा गुजरात में कोई हुआ ही नहीं।

विग्रहराज (वीसलदेव) नाम के चार चौहान राजा हुए, जिनमें से तीन तो अजमेर बसने से पूर्व हुए थे। दूसरे विग्रहराज ने, जिसके समय की वि० सं० १०३० की हर्षनाथ के मंदिर की प्रशस्ति है, मूलराज सोलंकी पर, जिसने १०१७ से १०५२ तक राज्य किया था* शाकंभरी (साँभर) से चढ़ाई की थी। इस चढ़ाई का वर्णन पृथ्वीराजविजय, हम्मीर महाकाव्य और प्रबंध-चिंतामणि में मिलता है परंतु पृथ्वीराजरासो के कर्त्ता को तो केवल एक वीसलदेव का ज्ञान था, जिसने वीसलसर बनाया था। वह वस्तुतः चतुर्थ वीसलदेव था। वीसलदेव (दूसरे) की सोलंकी राजा मूलराज पर चढ़ाई करने की परंपरागत स्मृति से रासो के कर्त्ता ने चौथे वीसलदेव की गुजरात पर चढ़ाई लिख दी और वहाँ के राजा का ठीक नाम ज्ञात न होने से उसका नाम बालुकराय धर दिया।

पृथ्वीराजरासो में वि० सं० ११११५ में पृथ्वीराज का जन्म होना लिखा है। यदि पंड्याजी के कथनानुसार इसे अनंद विक्रम संवत् मानें तो भी (११११५+६१)

हरकेलि-नाटकं समाप्तं॥ मंगलं महाश्रीः॥ कृतिरियं महाराजाधिराजपरमेश्वरश्रीविग्रहराजदेवस्य·····

(शिलाओं पर खुदा हुआ हरकेलि नाटक, राजपूताना म्यूज़ियम, अजमेर में सुरक्षित)।

ॐ॥ संवत् १२११ श्रीः (श्री) परमपाशु (शु) पताचार्येन (ण) विश्वेश्वर [प्र] ज्ञेन श्रीवीसलदेवराज्ये श्रीसिद्धेश्वरप्रसादे मण्डपं[भूषितं]॥

(लोहारी के मंदिर का लेख, अप्रकाशित)।

ॐ संवत् १२२० वैशाख शुति १५ शाकंभरी भूपति श्रीमदन्नल्लदेवात्मज श्रीमद्वीसलदेवस्य॥

इंडियन ऐंटिक्वेरी; जिल्द १, पृ० २१।

* राजपूताने का इतिहास; जिल्द १, पृष्ठ २१४—१५।

पृथ्वीराज का जन्म संवत्

विक्रम संवत् १२०६ में पृथ्वीराज का जन्म मानना पड़ता है, जो सर्वथा असंभव है, क्योंकि पृथ्वीराजविजय में लिखा है कि सोमेश्वर के देहांत के समय (वि० सं० १२२६ में) पृथ्वीराज बालक था। वि० सं० १२०६ तक तो पृथ्वीराज का पिता सोमेश्वर भी बालक था और उसका विवाह भी नहीं हुआ था। पृथ्वीराजविजय में लिखा है कि सोमेश्वर के उत्पन्न होने पर उसके नाना जयसिंह (सिद्धराज) ने उसे अपने यहाँ बुला लिया। उसके बाद कुमारपाल ने बालक सोमेश्वर का पालन किया। सोमेश्वर बहुत वीर हुआ। एक युद्ध में उसने कुमारपाल के शत्रु कोंकण के शिलारा राजा मल्लिकार्जुन को मारा था। फिर उसने चेदि कलचुरि राजा की पुत्री से विवाह किया, जिससे ज्येष्ठ की द्वादशी को पृथ्वीराज का जन्म हुआ। उसका चूड़ाकर्म संस्कार होने के नौ मास बाद हरिराज उत्पन्न हुआ।*

इस वर्णन से दो तीन बातें स्पष्ट होती हैं कि कुमारपाल के गद्दी पर बैठने के समय अर्थात् वि० सं० ११९९ में सोमेश्वर बालक था। मल्लिकार्जुन के वि० सं० १२१३ और १२१७ के लेख† और उसके उत्तराधिकारी अपरादित्य का प्रथम लेख

---

* ज्यैष्ठस्य प्रथयन्परन्तपतया ग्रीष्मस्य भीष्मां स्थितिम् ।
द्वादश्यास्तिथिमुख्यतामुपदिशन्भानोः प्रतापोन्नतिं
तन्वन्गोत्रगुरोर्निजेन नृपतेर्जज्ञे सुतो जन्मना ॥ [५०] ॥

पृथ्वीराजविजय; सर्ग ७ ।

प्रसूतपृथ्वीराजा देवी गर्भवती पुनः ।
उदेश्यत्कुमुदा फुल्लपद्मेव सरसी बभौ ॥ [४७] ॥
माघस्याथ तृतीयस्यां सितायामपरं सुतम् ।
प्रसादमिव [पार्वत्या मूर्तं] परमवाप सा ॥ [४९] ॥
युद्धेष्वस्य हस्तिदलनलीलां भविष्यन्तीं जानतेव हरिराजनाम्नायं स्वस्य कृतार्थत्वायेव स्पष्टः ।
हरिराजो हि हस्तिमर्दनः ।

श्लोक ५० पर जोनराज की टीका, मूल श्लोक बहुत सा नष्ट हो गया है ।

वही; सर्ग ८ ।

† बंबई गज़ेटियर, जिल्द १, भाग १, पृ० १८६ ।

वि० सं० १२१६ का * मिला है। इससे स्पष्ट है कि मल्लिकार्जुन वि० सं० १२१८ में सोमेश्वर के हाथ से मारा गया, जिसके पीछे सोमेश्वर ने चेदि देश में जाकर कर्पूरदेवी से विवाह किया। बहुत संभव है कि वि० १२२० या उसके कुछ पीछे पृथ्वीराज का जन्म हुआ हो। पृथ्वीराज विजय में विग्रहराज (वीसलदेव) चौथे की मृत्यु के प्रसंग में लिखा है कि अपने भाई (सोमेश्वर) के दो पुत्रों के पैदा होने का समाचार सुनकर वह मरा† वीसलदेव की मृत्यु वि० सं० १२२१ और १२२४ के बीच किसी संवत में हुई, जैसा कि उसके अंतिम लेख वि० सं० १२२० और उसके उत्तराधिकारी पृथ्वीभट्ट (पृथ्वीराज दूसरे) के वि० सं० १२२४ के लेख से मालूम होता है ‡। इस तरह पृथ्वीराजरासो का वि० सं० १११५ तथा पंड्याजी की उक्त नवीन कल्पना के अनुसार वि० सं० १२०६ में पृथ्वीराज का जन्म होना सर्वथा असंभव है।

पृथ्वीराजरासो में लिखा है कि वि० सं० ११३६ में पृथ्वीराज के सामंत सलख (आबू का परमार) ने शहाबुद्दीन को कैद किया§, यह कथन भी कल्पित है। हम ऊपर बतला चुके हैं कि आबू पर सलख नाम का कोई परमार राजा ही नहीं हुआ। यदि इस संवत् को अनंद विक्रम संवत् अर्थात् वि० सं० १२२७ माना जाय, तो भी यह संवत् ठीक नहीं ठहरता। वि० सं० १२२७ तक तो पृथ्वीराज गद्दी पर भी नहीं बैठा था और न उस समय तक शहाबुद्दीन गोरी भारत में आया था। वि० सं० १२२०-२१ में गयासुद्दीन गोरी ने गोर का राज्य पाया। उसके छोटे भाई शहाबुद्दीन गोरी ने वि० सं० १२३० में गजनी भी छीनी, जिस पर गयासुद्दीन ने उसे वहाँ का हाकिम बनाया। उसने

पृथ्वीराज के सामंत सलख के शहाबुद्दीन को कैद करने का संवत्

* वही; पृष्ठ १८६।

† अथ भ्रातुरपत्याभ्यां सनाथां जानता भुवम्।
जग्मे विग्रहराजेन कृतार्थेन शिवान्तिकम् ॥ [५३]॥

पृथ्वीराजविजय; सर्ग ८।

‡ इंडियन ऐंटिक्वेरी; जिल्द ५१, पृ० १६।

§ पृथ्वीराजरासो; सलख युद्ध समय (तेरहवाँ समय); पृ० ५३।

वि० सं० १२३२ में भारत पर चढ़ाई कर मुलतान लिया तो वि० सं० १२२७ में पृथ्वीराज का शहाबुद्दीन को कैद करना कहाँ तक ठीक सिद्ध हो सकता है। इसी तरह रासो में दिया हुआ वि० सं० १३३८ और अनंद विक्रम संवत् के अनुसार वि० सं० १२२६ में चामुण्डराय द्वारा शहाबुद्दीन गोरी को कैद करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि गोरी तो वि० सं० १२३२ में भारत आया था और उस समय तक पृथ्वीराज गद्दी पर भी नहीं बैठा था।

कुछ अन्य संवत्

रासो में लिखा है कि पृथ्वीराज वि० सं० ११३८ में दिल्ली की गद्दी पर बैठा* और उसी वर्ष में उसने खाटू के जंगल से धन निकाला†। समुद्रशिखर के यादव राजा विजयपाल की पुत्री पद्मावती से वि० सं० ११३९ में उसने विवाह किया‡। वि० सं० ११४१ में दक्षिण देशीय राजाओं ने कर्नाट देश की एक सुन्दरी वेश्या पृथ्वीराज को अर्पण की§। ये सारे सम्वत् कल्पित हैं। अनंद सम्वत् मानने से ये सम्वत् क्रमशः १२२९, १२३० और १२३२ होते हैं; तो भी वे निराधार ठहरते हैं; क्योंकि उस समय तक तो पृथ्वीराज गद्दी पर भी नहीं बैठा था।

इसी तरह पृथ्वीराजरासो में दिए हुए सभी सम्वत् कल्पित हैं, जिनका विवेचन हम अनंद विक्रम सम्वत् की कल्पना नामक लेख में कर चुके हैं। यदि रासो का कर्त्ता पृथ्वीराज का समकालीन होता, तो सम्वतों में इतनी अशुद्धियाँ न होतीं।

पृथ्वीराजरासो की कुछ मुख्य-मुख्य घटनाएँ

पृथ्वीराजरासो में केवल उपर्युक्त घटनाएँ और सम्वत् ही अशुद्ध नहीं दिए, परन्तु उसका मूल कथानक भी ऐतिहासिक कसौटी पर परीक्षा करने से प्रायः संपूर्ण अशुद्ध ठहरता है। उसमें दी हुई मुख्य घटनाएँ प्रायः सभी निराधार तथा अनैतिहासिक हैं। उनमें से बहुत सी घटनाओं की जाँच ऊपर हो चुकी है।

---

* पृथ्वीराजरासो; दिल्लीदान प्रस्ताव (अट्ठारहवाँ समय); रासोसार; पृ० ६२-६३।

† वही; धन कथा (चौबीसवाँ समय); रासोसार; पृ० ७४।

‡ वहीं; पद्मावती-विवाह-कथा (बीसवाँ समय); रासोसार; पृ० ६८-६९।

§ वही; कर्नाटी पात्र समय (तीसवाँ समय), रासोसार; पृ० ११२।

पुस्तकों में पृथ्वीराज और जयचन्द की पारस्परिक लड़ाई, राजसूय यज्ञ और संयोगिता के स्वयंवर का उल्लेख तक नहीं है। इससे स्पष्ट है कि वि० सं० १४६० तक ये कथाएँ प्रसिद्धि में नहीं आई थीं।

रावल समरसिंह के ज्येष्ठ पुत्र कुंभा का बीदर जाना

रासे के ६६ वें समय से पाया जाता है कि रावल समरसिंह ने, शहाबुद्दीन के साथ की अंतिम लड़ाई में जाते समय, अपने छोटे पुत्र रतनसिंह को उत्तराधिकारी बनाया, जिससे उसका ज्येष्ठ पुत्र कुंभ (कुंभा) दक्षिण में बीदर के मुसलमान बादशाह के पास जा रहा।

शहाबुद्दीन के साथ की पृथ्वीराज की लड़ाई तक न तो समरसिंह का जन्म हुआ था और न दक्षिण में मुसलमानों का प्रवेश हुआ था। मुसलमानों का प्रथम प्रवेश दक्षिण में अलाउद्दीन खिलजी के समय वि०सं० १३५६ में हुआ। बहमनी सुलतान अलाउद्दीन हसन ने दिल्ली के सुलतान से विद्रोह कर बहमनी राज्य की स्थापना की थी। इस वंश का दसवाँ सुलतान अहमदशाह वली ई० स० १४३० (वि०सं०१४८७) में बीदर बसाकर गुलबर्गा से अपनी राजधानी वहाँ ले आया। अतएव ऊपर लिखा हुआ कुंभा का वृत्तांत वि०सं० १४८७ से पीछे लिखा जा सकता है, जिससे पूर्व बीदर का पृथक राज्य भी स्थापित नहीं हुआ था।

पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन की मृत्यु

चंदबरदाई पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन की अन्तिम लड़ाई का वर्णन करते हुए लिखता है कि शहाबुद्दीन पृथ्वीराज को कैद कर गजनी ले गया। वहाँ उसने उसकी आँखें निकलवा लीं। फिर चंद कवि योगी का भेष धारण कर गजनी पहुंचा और उसने सुलतान से मिलकर उसको पृथ्वीराज की तीरंदाजी देखने को उत्सुक किया। पृथ्वीराज ने चंद के संकेत के अनुसार शब्द वेधी बाण चलाकर सुलतान का काम तमाम कर दिया। फिर चंद ने अपने जूड़े में से छुरी निकालकर उससे अपना पेट काटकर वह छुरी पृथ्वीराज को दे दी, जिससे उसने भी अपना पेट फाड़ लिया। इस प्रकार तीनों की मृत्यु हुई। पृथ्वीराज के पीछे उसका पुत्र रैणसी दिल्ली की गद्दी पर बैठा*।

---

* पृथ्वीराजरासो, बड़ी लड़ाई समय (छाछठवाँ समय); रासोसार पृ० ३८३-४३४।

यह संपूर्ण कथन भी ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक नहीं है, क्योंकि शहाबुद्दीन की मृत्यु पृथ्वीराज के हाथ से वि० सं० १२४६ में नहीं, किंतु वि० सं० १२६३ चैत्र सुदि ३ को गक्खरों के हाथ से हुई थी। जब वह गक्खरों को परास्त कर लाहोर से गजनी जा रहा था उस समय, धमेक के पास, नदी के किनारे बाग में नमाज पढ़ता हुआ वह मारा गया। पृथ्वीराज के पीछे भी उसका पुत्र गोविंदराज दिल्ली की गद्दी पर नहीं, किंतु अजमेर की गद्दी पर बैठा था, न कि रेणसी, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है।

इस तरह ऊपर कुछ मुख्य घटनाओं की जाँचकर हमने देखा कि वे बिलकुल असत्य हैं और उनका लेखक चौहानों के इतिहास से बिलकुल अपरिचित था। यदि रासो का कर्त्ता पृथ्वीराज का समकालीन होता, तो इतनी बड़ी भूलें न करता।

पृथ्वीराजरासो का समय-निर्णय

यहां तक हमने पृथ्वीराजरासो की विभिन्न घटनाओं की जांच कर यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि वह ग्रंथ पृथ्वीराज के समय में नहीं बना। तब वह कब बना, इस पर विचार करना आवश्यक है। हमारी सम्मति है कि वह ग्रंथ विक्रम संवत् १६०० के आस-पास बना। इसके लिये हम संक्षेप से नीचे विचार करते हैं—

वि० सं० १४६० में हम्मीर महाकाव्य बना, जिसका निर्देश ऊपर कई जगह किया गया है। उसमें चौहानों का विस्तृत इतिहास है, परंतु उसमें पृथ्वी-राजरासो के अनुसार चौहानों को अग्निवंशी नहीं लिखा और न उसकी वंशावली को आधार माना गया है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय तक पृथ्वीराजरासो प्रसिद्धि में नहीं आया। यदि रासो की प्रसिद्धि हो गई होती, तो हम्मीर महा-काव्य का लेखक उसी के आधार पर चलता।

चन्दबरदाई ने रावल समरसिंह के ज्येष्ठ पुत्र कुम्भा का बीदर के मुसलमान बादशाह के पास जाना लिखा है, जिसकी जाँच हम ऊपर कर चुके हैं। पृथ्वीराज के समय में तो दक्षिण में मुसलमानों का प्रवेश भी नहीं हुआ था। बीदर का राज्य तो बहमनी राज्य की उन्नति के समय में अहमदशाह वली ने ई० सं० १४३० (वि० सं० १४८७) में स्वतन्त्र रूप से स्थापित किया। इससे यह निश्चित है कि पृथ्वीराजरासो उक्त संवत् के पीछे बना होगा।

चन्दबरदाई ने सोमेश्वर और पृथ्वीराज की मेवात के मुगल राजा से लड़ाई और उसमे उसके क़ैद होने तथा उसके पुत्र वाजिदख़ाँ के मारे जाने की कथा लिखी है, जिसकी जाँच हम ऊपर कर आए हैं। हिन्दुस्तान में मुगल राज्य तो वि० संवत् १५८३ में बाबर ने स्थापित किया। उससे पूर्व भारत में मुगलों का कोई राज्य था ही नहीं और मुगलों का सबसे पहला प्रवेश, मुगल तैमूरलंग द्वारा वि० सं० १४५५ में हुआ, जिससे पहले मुगल-राज्य की भारत में कल्पना भी नहीं की जा सकती। इससे यह स्पष्ट है कि पृथ्वीराजरासो वि० सं० १५८३ से और यदि बहुत पहले भी मानें तो वि० सं० १४५५ से पूर्व नहीं बन सकता।

महाराणा कुम्भकर्ण ने वि० सं० १५१७ में कुम्भलगढ़ के किले की प्रतिष्ठा की और वहाँ के मामादेव (कुम्भ स्वामी) के मंदिर में बड़ी-बड़ी पाँच शिलाओं पर कई सौ श्लोकों का एक विस्तृत लेख खुदवाया, जिसमें मेवाड़ के उस समय तक के राजाओं का बहुत कुछ वृत्तांत दिया है। उसमें समरसिंह के पृथ्वीराज की बहिन पृथा से विवाह करने या उसके साथ शहाबुद्दीन की लड़ाई में मारे जाने का कोई वर्णन नहीं है, परन्तु वि० सं० १७३२ में महाराणा राजसिंह ने अपने बनवाए हुए राजसमुद्र तालाब के नौ चौकी नामक बाँध पर २५ बड़ी-बड़ी शिलाओं पर एक महाकाव्य खुदवाया, जो अब तक विद्यमान है। उसके तीसरे सर्ग में लिखा है कि "समरसिंह ने पृथ्वीराज की बहिन पृथा से विवाह किया और शहाबुद्दीन के साथ की लड़ाई में वह मारा गया, जिसके वृत्तांत भाषा के 'रासो' नामक पुस्तक में विस्तार से लिखा हुआ है।"* इन दोनों लेखों से निश्चित है कि पृथ्वीराजरासो

---

* ततः समरसिंहाख्यः पृथ्वीराजस्य भूपतेः ।
पृथाख्याया भगिन्यास्तु पतिरित्यतिहार्दत ॥ २४ ॥
गोरीसाहिबदीनेन गज्जनीशेन संगरं ।
कुर्वतोऽखर्वगर्वस्य महासामंतशोभितः ॥ २५ ॥
दिल्लीश्वरस्य चोहाननाथस्यास्य सहायकृत् ।
स द्वादशसहस्रैस्स्ववीराणासहितो रणे ॥ २६ ॥
बध्वा गोरीपतिं दैवात् स्वर्यातः सूर्यबिंबभित् ।
भाषारासापुस्तकेस्य युद्धस्योक्तोस्ति विस्तरः ॥ २७ ॥

राजप्रशस्ति महाकाव्य; सर्ग ३ ।

वि० सं० १५१७ और १७३२ के बीच किसी समय में बना होगा। वि० सं० १६४२ की पृथ्वीराजरासो की सबसे पुरानी हस्तलिखित प्रति मिली है, इसलिये उसका वि० सं० १५१७ और १६४२ के बीच अर्थात् १६०० के आसपास बनना अनुमान किया जा सकता है।

पृथ्वीराजरासो की भाषा

पृथ्वीराजरासो की भाषा विक्रम की तेरहवीं शताब्दी की नहीं, किंतु वि० सं० १६०० के आसपास की है। हेमचंद्र के 'प्राकृत-व्याकरण' में अपभ्रंश भाषा के छंदोबद्ध उदाहरणों, सोमप्रभ के 'कुमारपाल प्रतिबोध', मेरुतुंग की 'प्रबंध-चिंतामणि' तथा 'प्राकृत-पिंगल' में दिए हुए रणथंभोर के अंतिम चौहान राजा हम्मीर के प्रशंसात्मक पद्य, तथा वि० सं० १५६१ के बीठू सूजा रचित 'जैतसी राव को छंद' नामक ग्रंथ में मिलनेवाले छंदों की भाषा से पृथ्वीराजरासो की भाषा का मिलान किया जाय, तो बहुत बड़ा अंतर मालूम होता है। पठित चारण और भाट लोग अब भी कविता बनाते हैं, उसमें वीर रस की कविता बहुधा डिंगल भाषा में करते हैं और दूसरी कविता साधारण भाषा में। डिंगल भाषा की कविता में व्याकरण की ठीक व्यवस्था नहीं होती और शब्दों के रूप तथा विभक्तियों के चिन्ह कुछ पुराने ढंग के होते हैं। एक ही ग्रंथ में भिन्न-भिन्न प्रकार की कविता देखनी हो, तो विक्रम संवत् १८७६ में आढ़ा किशन के बनाए हुए 'भीमविलास' और विक्रम की बीसवीं सदी में बने हुए मिश्रण सूर्यमल के बृहद्ग्रंथ 'वंशभास्कर' को देखना चाहिए। राजस्थानी भाषा की कविता में पहले फ़ारसी-शब्दों का प्रयोग नहीं होता था, पीछे से कुछ-कुछ होने लगा। पृथ्वीराजरासो में प्रति सैकड़ा दस फ़ारसी शब्द पाए जाते हैं, जो उसकी प्राचीनता सिद्ध नहीं करते। आधुनिक लेखक भी स्वीकार करते हैं कि 'भाषा' की कसौटी पर यदि ग्रन्थ (पृथ्वीराजरासो) को कसते हैं तो और भी निराश होना पड़ता है, क्योंकि वह बिल्कुल बेठिकाने है—उसमें व्याकरण आदि की कोई व्यवस्था नहीं है। दोहों की और कुछ-कुछ कवित्तों (छप्पयों) की भाषा तो ठिकाने की है, पर त्रोटक आदि छोटे छंदों में तो कहीं-कहीं अनुस्वारांत शब्दों की ऐसी मनमानी भरमार है, जैसे किसी ने संस्कृत-प्राकृत की नक़ल की हो। कहीं-कहीं तो भाषा आधुनिक साँचे में ढली सी दिखाई पड़ती है, क्रियाएँ नए रूपों में मिलती हैं। पर साथ ही कहीं-कहीं भाषा अपने असली

प्राचीन साहित्यिक रूप में भी पाई जाती है, जिसमें प्राकृत और अपभ्रंश शब्दों के रूप और विभक्तियों के चिह्न पुराने ढंग के हैं। इस दशा में भाटों के इस वाग्जाल के बीच कहाँ पर कितना अंश असली है, इसका निर्णय असंभव होने के कारण यह ग्रन्थ न तो भाषा के इतिहास के और न साहित्य के इतिहास के जिज्ञासुओं के काम का रह गया है*।

भाषा की दृष्टि से भी रासो वि० सं० १६०० से पूर्व का सिद्ध नहीं हो सकता।

पृथ्वीराजरासो का परिमाण

भाषा साहित्य के आधुनिक इतिहास-लेखक जब पृथ्वीराजरासो की घटनाएँ अशुद्ध पाते हैं, तब यह कहते हैं कि 'मूल पृथ्वीराजरासो छोटा होगा और पीछे से लोगों ने उसे बढ़ा दिया हो, यह सम्भव है', परन्तु यह कथन भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि चन्दबरदाई के वंशधर कवि जदुनाथ ने करौली के यादव राजा गोपालपाल (गोपालसिंह) के राज्य-समय अर्थात् वि० सं० १८०० के आसपास 'वृत्तविलास' नाम का ग्रन्थ बनाया। उसमें वह अपने वंश का परिचय देते हुए लिखता है कि 'चन्द ने १०५००० श्लोक (अनुष्टुप् छन्द) के परिमाण का पृथ्वीराज के चरित्र का रासो बनाया।'† यह कथन नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित रासो द्वारा प्रकाशित रासो के परिमाण से मिल जाता है। जदुनाथ के यहाँ अपने पूर्वज का बनाया हुआ मूल ग्रंथ अवश्य होगा, जिसके आधार पर ही उसने उक्त ग्रंथ का परिमाण लिखा होगा। ऐसी स्थिति में पृथ्वीराजरासो के छोटा होने की कल्पना भी निर्मूल है।

पृथ्वीराजरासो को प्राचीन सिद्ध करनेवालों की कुछ अन्य युक्तियाँ

पृथ्वीराजविजय के पाँचवें सर्ग में विग्रहराज के पुत्र चन्द्रराज का वर्णन करते हुए जयानक ने उसे अच्छे वृत (छन्द) संग्रह करनेवाले चन्द्रराज से उपमा

---

* नागरीप्रचारिणी पत्रिका; (नवीन संस्करण) भाग ६, पृ० ३३-३४।

† एक लाख रासौ कियौ सहस पंच परिमान।
पृथ्वीराज नृप को सुजसु जाहर सकल जिहान ॥ ५६ ॥

नागरीप्रचारिणी पत्रिका; भाग ५, पृष्ठ १६७।

दी है। इस पर से कोई-कोई विद्वान् यह कल्पना करते हैं कि अच्छे छन्दों का वह संग्रह-कर्त्ता चन्दबरदाई हो*, परन्तु यह युक्ति भी स्वीकार नहीं को जा सकती, क्योंकि चन्दबरदाई रासो में अपने को पृथ्वीराज का मित्र और सर्वेसर्वा होना बतलाता है। इसके विपरीत पृथ्वीराजविजय का कर्त्ता पृथ्वीराज के वंदिराज अर्थात् मुख्य भाट का नाम 'पृथिवीभट' देता है, न कि चन्द। कश्मीरी पंडित जयानक ने जिस चन्द्रराज का उल्लेख किया है, वह वही चन्द (चन्द्रक) कवि हो सकता है, जिसका उल्लेख विक्रम की ग्यारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में होने वाले कश्मीरी क्षेमेंद्र ने भी किया है‡। इसके सिवाय चन्द नाम के कई और भी ग्रंथकार हुए, परन्तु उनमें से किसी को हम चंदबरदाई नहीं मान सकते।

मिश्रबंधुओं का लिखना है कि 'यदि कोई मनुष्य सोलहवीं शताब्दी के आदि में इसे बनाता, तो वह स्वयं अपना नाम न लिख कर ऐसा भारी (२५००-पृष्ठों का) बढ़िया महाकाव्य चंद को क्यों समर्पित कर देता'†। इसके उत्तर में इतना ही लिखना आवश्यक होगा कि चंद नाम के अनेक कवि समय समय पर हो सकते हैं। कालिदास नामक अनेक कवि हो गए और तैरहवीं सदी के आस-पास होनेवाले 'ज्योतिर्विदाभरण' के कर्त्ता ज्योतिषी कालिदास ने अपने को विक्रम का मित्र और उसके दरबार के नवरत्नों में से एक होना लिख दिया है। इतना ही नहीं, किंतु कलियुग संवत् ३०६८ (वि० सं० २४) में अपने ग्रन्थ का प्रारंभ और अंत होना भी लिख डाला है।

उपसंहार

इस तरह हमने जाँचकर देखा कि पृथ्वीराजरासो बिलकुल अनैतिहासिक ग्रंथ है। उसमें चौहानों, प्रतिहारों और सोलंकियों की उत्पत्ति के संबंध की कथा, चौहानों की वंशावली, पृथ्वीराज की माता, भाई, बहिन, पुत्र और रानियों आदि के विषय की कथाएँ तथा बहुत सी घटनाओं के संवत और प्रायः सभी घटनाएँ

---

* नागरीप्रचारिणी पत्रिका; भाग ६, पृ० ३४।

‡ आफ्रेक्ट; कैटेलॉगस कैटेलॉगरम; भाग १, पृ० १७६।

† मिश्रबंधु; हिंदीनवरत्न; (तृतीय संस्करण) पृष्ठ ५६१।

तथा सामंतों आदि के नाम अशुद्ध और कल्पित हैं; कुछ सुनी सुनाई बातों के आधार पर उक्त बृहत् काव्य की रचना की गई है। यदि पृथ्वीराजरासो पृथ्वीराज के समय में लिखा जाता तो इतनी बड़ी अशुद्धियों का होना असंभव था। भाषा की दृष्टि से भी यह ग्रंथ प्राचीन नहीं दीखता। इसकी डिंगल भाषा में जो कहीं-कहीं प्राचीनता का आभास होता है वह तो डिंगल की विशेषता ही है। आज की डिंगल में भी ऐसा आभास मिलता है, जिसका बीसवीं सदी में बना हुआ 'वंश-भास्कर' प्रत्यक्ष उदाहरण है। रासो की भाषा में फारसी शब्दों की बहुलता भी उसके प्राचीन होने में बाधक है। वस्तुतः पृथ्वीराजरासो वि० सं० १६०० के आस-पास लिखा गया। वि० सं० १५१७ की प्रशस्ति में रासो की घटनाओं का उल्लेख नहीं है और रासो की सब से पुरानी प्रति वि० सं० १६४२ की मिली है, जिसके बाद यह ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध हो गया, यहाँ तक कि वि० सं० १७३२ की राजप्रशस्ति में रासो का स्पष्ट उल्लेख है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि पहले पृथ्वीराज-रासो का मूल ग्रंथ उसके वर्तमान परिणाम से बहुत छोटा था, परंतु पीछे से बढ़ाया गया है, क्योंकि आज से १८५ वर्ष पूर्व उसी के वंशज कवि जदुनाथ ने उसका १०५००० श्लोकों का होना लिखा है। पृथ्वीराजरासो को प्राचीन सिद्ध करने के लिए जो दूसरी युक्तियाँ दी जाती हैं, वे भी निराधार ही हैं। अनंद विक्रम संवत् की कल्पना तो बहुत व्यर्थ और निर्मूल है, जिसका विस्तृत खंडन नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में किया जा चुका है। संक्षेप से इस लेख में भी उसकी जाँच की गई है।

इस ग्रंथ के प्रसिद्धि में आने के कारण राजपूताने के इतिहास में बहुत अशुद्धि हुई। उदयपुर, जोधपुर, जयपुर आदि राज्यों की ख्यातों के लिखनेवालों ने रासो के संवतों को शुद्ध मानकर वहाँ के कई पुराने राजाओं के संवत् मनमाने झूठे धर दिए। हिंदी भाषा का इतिहास लिखनेवाले जो विद्वान् चंदबरदाई को पृथ्वीराज का समकालीन मानते हैं, वे सत्य जाँच की उपेक्षा कर हठधर्मी ही करते हैं। यदि वे निष्पक्ष होकर इसकी पूरी जाँच करें, तो उन्हें स्पष्ट मालूम हो जायगा कि रासो वि० सं० १६०० से पूर्व का बना हुआ नहीं है और न वह ऐतिहासिक ग्रन्थ है।

सम्पादकीय टिप्पण

1. पृ० ७६, पंक्ति १०, 'अर्णोराज की पहली रानी सुधवा से, जो मारवाड़ की राजकन्या थी, दो पुत्र उत्पन्न हुए।' 'पृथ्वीराजविजय महाकाव्य' में सुधवा के पुत्रों का उल्लेख है; परन्तु उनमें नाम केवल विग्रहराज (चतुर्थ, बीसलदेव) का ही मिलता है, जो छोटा पुत्र था। अन्य आधारों से सुधवा से उत्पन्न ज्येष्ठ पुत्र का नाम जगद्देव निश्चित हुआ है, जिसने अपने पिता अर्णोराज का संहार किया था। पितृहंता होने के कारण वंशावली लेखक ऐसे व्यक्ति का नाम नहीं लिखते, जिससे उस (जगद्देव) का नाम भी वंशावली में नहीं रखा गया हो।

2. पृ० ७६, पंक्ति २६, 'अपने पुत्र पृथ्वीराज की नाबालिगी में अपने मन्त्री कादंबवाम (कादंबवास) की सहायता से कर्पूरदेवी राज-काज चलाने लगी।' महाराजा सोमेश्वर और पृथ्वीराज (तृतीय) के समय कादंबवास चौहान राज्य का प्रधान मन्त्री था। रासो में उस (कादंबवास) का नाम कैमास बतलाते हुए महाकवि चन्द ने उसकी बड़ी प्रशंसा की है, एवं उसको दाहिमा जाति का क्षत्री बतलाया है। मारवाड़ में मारोठ का समीपवर्ती प्रदेश 'दधिमत प्रदेश' कहलाता है और दाहिमा क्षत्री उसको अपना उत्पत्ति स्थान मानते हैं। दाहिमा क्षत्रियों की भांति ब्राह्मणों की एक ज्ञाति 'दधिमत प्रदेश' के नाम से 'दाधीच' (दाहिमा) ब्राह्मण भी हैं।

मन्त्री कादंबवास चौहान राज्य का बुद्धिमान मन्त्री था, जिसका समर्थन पृथ्वीराज विजय से भी होता है। जैन ग्रन्थों में भी उसके लिए उल्लेख है कि खरतरगच्छ के आचार्य श्री जिनपतिसूरिजी एवं पद्मप्रभ (दिगंबर आचार्य) के बीच वि०सं०१२३६ में शास्त्रार्थ हुआ, तब महाराजा पृथ्वीराज ने निर्णायक का स्थान ग्रहण किया था और उसकी अविद्यमानता में मन्त्री कादंबवास ने। इससे स्पष्ट है कि कादंबवास विद्वान् भी था।

3. प० ८३, पंक्ति ८, 'प्रतिहार चालुक्य (सोलंकी) और चौहानों के १६ वीं शताब्दी के पूर्व के शिलालेखों और पुस्तकों में कहीं अग्निवंश या वशिष्ठ के यज्ञ के संबंध की कोई बात नहीं मिलती।' प्रतिहारों, चालुक्यों और चौहानों के शिलालेखों आदि में उनकी अर्बुद पर वशिष्ट के यज्ञ से उत्पत्ति होने की तथा

अग्निवंशी होने की कथा नहीं है, और केवल परमारों के लिए ही उनके शिलालेखों आदि में वशिष्ठ के यज्ञ से उत्पन्न होने का वर्णन हुआ है। वस्तुतः यह चारों भिन्न-भिन्न राजवंश हैं और उनको रघुवंशी, सूर्यवंशी, चंद्रवंशी और अग्निवंशी नामों से संबोधित किया गया है। ना०प्र०सभा० द्वारा प्रकाशित रासो में आक्षेपयुक्त कथा अवश्य है और अन्य प्रतियों में भी लिखा मिलता है। किन्तु रासो से ही यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि महाकवि चंद ने दोहा, कवित्त, साटक और गाथा छन्दों में ही अपनी रचना की थी, जिनमें कहीं यह वर्णन नहीं है, एवं यह वर्णन अन्य प्रकार के छन्दों में है, जो चन्द की रचना के न होकर क्षेपक रूप में पीछे से जोड़ दिये गये हैं। यह मानने योग्य है कि प्रतिहार, चालुक्य, परमार और चौहान वंश की उत्पत्ति विषयक अग्निवंशी और वशिष्ठ ऋषि द्वारा अर्बुद पर होने वाले किसी यज्ञ विशेष की कथा के कथन मूल में चन्द रचित न होकर क्षेपक रूप से हों, तथापि उनका कोई आधार अवश्य होगा। इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता और इस वर्णन को रूपक मानलें तो यही निष्कर्ष निकलेगा कि वैसवंशी महाराजा हर्ष के पीछे जब भारत में संकटकालीन स्थिति उत्पन्न होकर विदेशी शत्रुओं के आक्रमणों की संभावना होने लगी, तब स्वदेश की रक्षा के हेतु मुख्यतः चार क्षत्रिय वंशों ने यह गुरुतर भार अंगीकृत किया और उनके मुखियाओं ने पवित्र स्थान अर्बुद पर सम्मिलित हो, वशिष्ठ द्वारा होने वाले यज्ञ में विधिवत् दीक्षा ग्रहणकर शत्रु संहार का व्रत लिया। कालान्तर में वे अग्निवंशी और वशिष्ठ के यज्ञ द्वारा उत्पन्न कुल कहलाने लग गये। यह एक कल्पना ही है; जो तत्समयक स्थिति को देखते विपरीत नहीं जान पड़ती। इतिहास बतलाता है कि प्रतिहार, चालुक्य, परमार और चाहमान वंश का अस्तित्व वि० सं० की आठवीं शताब्दी के पूर्व हो चुका था। तथा उनका अभ्युत्थान इस समय के आस-पास हुआ। यह प्रत्यक्ष है कि प्रतिहार, परमार और चौहान राजस्थान के निवासी थे। ऐसी अवस्था में रासो के पिछले संस्करण कर्त्ताओं ने अग्निवंश, वशिष्ठऋषि के यज्ञ आदि की कथाएं, जो उस समय प्रचलित थी, रासो में सन्निवेषित करदी तो कोई दूषित कार्य नहीं किया। प्रत्युत् उन्होंने अपने ज्ञान का प्रकाश करते हुए रासो की कथा को अधिक प्रभावोत्पादक कर दिया और प्रचलित कथाओं को भी भिन्न-भिन्न छन्दों में रचकर मूल रासो के छन्दों के साथ मिलादी, जैसी कि परम्परा चली आ रही थी। इसको कोई दूषित मनोवृत्ति नहीं कह सकते और

वर्तमान समय में भी यह परम्परा किसी न किसी रूपमें विद्यमान हैं।

4. पृ० ८४, पंक्ति ५, 'प्रतिहार पहले अपने को अग्निवंशीय ही नहीं, किन्तु सूर्यवंशीय (रघुवंशी) मानते थे!' रासो में भी प्रतिहारों को कुछ स्थलों पर रघुवंशी होना लिखा है (देखो-सा० संस्थान [रा० वि० विद्यापीठ] उदयपुर से प्रकाशित शोधपत्रिका, भाग, २, अंक ३, में कवि राव मोहनसिंहजी का 'पृथ्वीराज रासो पर कीगई शंकाओं का समाधान' विषयक लेख, पृ०१४६-५०)।

5. पृ० ८६, पंक्ति ७, 'पृथ्वीराज के समय तथा उससे पूर्व भी सोलंकी अपने को अग्निवंशी नहीं; किन्तु चन्द्रवंशी और पांडवों की सन्तान मानते थे।' रासोकार ने सोलंकियों को 'ब्रह्म-चालुक्य नाम से संबोधित किया है, (देखो शोधपत्रिका, भाग २, अंक ३, में प्रकाशित कविराव मोहनसिंहजी लिखित 'पृथ्वीराज रासो पर की गई शंकाओं का समाधान' नामक लेख। चालुक्यों, सोलंकियों को रासो में ब्रह्म चालुक्य लिखने का कारण ऐसा जान पड़ता है कि वे मूल में चौल देश के निवासी थे और ब्राह्मणों से संसर्ग रहा था। श्री ओझाजी के मतानुसार सोलंकियों को पांडु वंशी मान ले तो ऐसा भी कह सकते हैं कि कुरुवंशी महाराज विचित्रवीर्य की निःसंतान युवावस्था में ही मृत्यु होगई। तब वंश नष्ट न होने के के लिए नियोग की प्रथा अपनाई जाकर महर्षि कृष्णद्वैपायन (वेदव्यास) का आवाहन किया गया, और विचित्रवीर्य की दोनों राणियों से क्रमशः धृतराष्ट्र और पांडु दो पुत्र उत्पन्न हुए। धृतराष्ट्र की सन्तान कौरव और पांडु की सन्तान पांडु कहलाई। इस कथा को रासोकार जानता था। अतएव पांडु के वंश को 'ब्रह्म-चालुक्य' बतलाया, जो ठीक ही है।

6. पृ० ८८, पंक्ति २, 'पृथ्वीराज के पूर्व से लगा कर वि०सं०१४६० के आसपास तक चौहान अपने को सूर्यवंशी मानते थे। यदि पृथ्वीराज रासो, पृथ्वीराज के समय बना हुआ होता, तो वह चौहानों को 'अग्निवंशी' न कहता।' पृथ्वीराजरासो में चाहमान की उत्पत्ति सूर्यलोक से तेजरूप में दिव्यपुरुष की भांति होना बतलाकर ब्रह्मा द्वारा यज्ञ होने की कथा का उल्लेख हुआ है। अजमेर के निकटवर्ती पुष्कर क्षेत्र में ब्रह्मा का पूर्ण माहात्म्य है। इसलिए यह यज्ञ पुष्कर में होना संभव है। पृथ्वीराजविजय में भी यह कथा इसी ही भांति से मिलती है,

जिससे दोनों का समन्वय होता है। इस विषय पर उदयपुर के कविराव मोहनसिंह जी ने शोध पत्रिका भाग, २, अंक ३, में प्रकाशित 'पृथ्वीराजरासो पर कीगई शंकाओं का समाधान' नामक लेख में कई उदाहरणों के साथ प्रकाश डाला है।

चौहानों के अग्निवंशी होने के कथन में एक कारण यह भी बतलाया जाता है कि चौहानों का वत्स गौत्र है और वत्स गौत्र भृगुवंश की शाखा है। महर्षि भृगु का विशेषण 'अनल-प्रभव' दिया है (मनु०अ०५ श्लोक २)। श्रुति भी यह साक्षी देती है-'तस्य यद्रेतसः प्रथमं देद्रोप्यते तदसावादित्योभवत्। यद्वितीय मासीद् भृगु'। अर्थात्-उसकी शक्ति (रेतस्=वीर्य) से जो पहला प्रकाश (अग्नि) हुआ, वह सूर्य बन गया और दूसरा हुआ, उसी का भृगु' (देखो-पं० झाबरमल शर्मा लिखित'चौहानों के अग्निवंशी कहलाने का आधार' शीर्षक निबंध, राजस्थानी कलकत्ता, भाग ३, अङ्क २,)।

इन बातों को देखते रासो का वर्णन कपोल कल्पना नहीं हैं और सुदृढ़ आधार पर है, तथा जो बात उस समय प्रवाहित हो रही थी, उनको रचनाकार ने अपने ग्रन्थ में उल्लिखित की, जिससे मिथ्यात्व का उस पर दोष नहीं आसकता है।

7. पृ० ८८, पंक्ति ६, 'पृथ्वीराज रासो में पृथ्वीराज तक की जो वंशावली दी है, वह अधिकांश में कृत्रिम है'। श्री ओझाजी ने पृथ्वीराजविजय, तथा बीझो-लियां के लेख आदि से वंशावलियों का मिलान किया, उनमें परस्पर कुछ अन्तर बतलाते हुए तीन-नाम गण्डू, इसल और बीसल लौकिक नामों में बदलना स्वीकार किया है। पृथ्वीराजविजय और बीझौलिया का लेख एक समय के बने हुए होने पर भी परस्पर उनमें अन्तर है, तो फिर रासो जैसा लोकप्रिय ग्रन्थ अनेकों हाथों में गया और समय-समय पर उसके संस्करण होते रहे, बंशावली में अन्तर होना आश्चर्य की बात नहीं है। प्रचलित पृथ्वीराजरासो में वंशावली के छन्द हैं, वे महाकवि चन्द की वर्णन शैली को देखते मूल के नहीं जान पड़ते और पीछे से मिले जान पड़ते हैं। यह भी प्रत्यक्ष है कि वंशावली के कुछ नाम जो रासो में दिये हैं; पृथ्वीराजविजय और बीझौलियां के लेखों के नामों से मिलते हैं। शेष नामों का मिलान नहीं होना यही प्रकट करता है कि अधिकांश नाम लौकिक

तथा उपनाम रूप से ही रासो ग्रन्थ उस समय की लौकिक भाषा का रूप प्रकट करता है। अतएव उसमें संस्कृत शैली से नामोच्चारण करना कवि के लिये वाञ्छनीय नहीं था। यदि रासो में वर्णित चौहानों की वंशावली मूल ग्रन्थ के साथ ही की निर्मित मानी जाय तो उसकी प्राप्ति का आधार जयानक महाकवि चन्द्र ज्ञाति का 'ब्रह्मभट्ट' था। अतएव उनके निर्मित ग्रन्थ में यदि कोई वंशावली पीछे से जोड़ भी दी गई हो—तो उसका मूल आधार वंश परम्परागत लिखे हुए भट्ट ग्रन्थ ही होने चाहिये, जिनमें रूढ़िवाद से युक्त सीधी-साधी भाषा, एक वचन और लौकिक नामों का ही उल्लेख होता है। ऐसा भी देखा गया है कि एक शाखा के नष्ट होने पर दूसरी शाखा का आधिपत्य हुआ तो वंशावली लेखकों ने सारे के सारे नाम, जो दूसरी शाखा के थे; पहली शाखा के अन्त में लाकर मिला दिये। इसका परिणाम यह हुआ कि वंशावली में नामों की संख्या बढ़ गई। इस प्रकार के उदाहरण राजस्थान के राजवंश की वंशावलियों में सर्वत्र विद्यमान हैं। इसका दोष मूल वंशावली लेखकों को न दिया जाकर उनके पीछे के क्रमानुयायिकों को देना चाहिये, जो अपने पूर्वजों की संचित वंशावलियों को यथा क्रम न रख सके या उनको ठीक प्रकार से समझ नहीं सके। इसका कारण यह भी हो सकता है कि भारत में वह युद्धकालीन युग था। विदेशियों की चढ़ाइयाँ भी होती रहती थी। ऐसी अवस्था में प्राणों के बचाने की ही सबसे प्रथम चिन्ता रहती थी और वंशावलियों तथा अन्य ऐतिहासिक सामग्री का सुरक्षित रहना तो ऐसे कठिन अवसरों पर बहुत ही दुस्तर कार्य था। यदि हम वंशावली लेखकों पर यह दोष लगा कर उनकी संग्रहित वंशावलियों को निकम्मी मानलें तो, जो कुछ भी सच्ची बातें उस संग्रह में होगी वे भी सब नष्ट हो जांयगी, जिससे इतिहास का अहित साधन ही होगा।

महाकवि चन्द द्वारा रासो ग्रन्थ का निर्माण भारत के अंतिम हिन्दू सम्राट पृथ्वीराज की कीर्ति गाथा को अमर करने के लिए ही हुआ है। इस अवस्था में वंशावली तो गौण वस्तु ही रही। यह ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि रासो में वर्णित वंशावली के कितने ही छन्द चन्द की वर्णित शैली से भिन्न हैं, इसलिए उनका कोई महत्व अंकित नहीं कर उनको हटा दें तो रासो का शुद्ध रूप निकल आयगा। यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि चन्द की वर्णित शैली के विपरीत जितने भी छन्द हैं, वे उसका कलेवर तथा कथानक बढ़ाने के हेतु पीछे से सम्मिलित कर दिये गये हैं। कुछ विभिन्न स्थानों पर रासो में पृथ्वीराज के पराक्रमी पूर्वजों का नामोल्लेख मिलता है, जो चन्द वर्णित शैली के अनुकूल हैं और इतिहास के क्रमानुसार हैं।

8. पृ० ६१, पंक्ति १६–२० 'पृथ्वीराज की माता का नाम कमला नहीं, किन्तु कर्पूरदेवी था और वह दिल्ली के राजा अनङ्गपाल की पुत्री नहीं, किन्तु त्रिपुरी (चेदि अर्थात जबलपुर के आस-पास के प्रदेश की राजधानी) के हैहय (कलचुरि) वंशी राजा तेजल (अचलराज) की पुत्री थी, श्री ओझाजी का उपरोक्त कथन पृथ्वीराज विजय के अनुसार है। किन्तु जब मूल ग्रन्थ पृथ्वीराज विजय को पढ़ते हैं, तो जहाँ सोमेश्वर के साथ कर्पूरदेवी के विवाह का वर्णन है, वहाँ न तो मूल श्लोक (जयानक रचित) और न टीका (जौनराज कृत) में वह (कर्पूरदेवी) चेदि अर्थात् जबलपुर के आस-पास के प्रदेश की राजधानी के हैहय (कलचुरि) वंशी नरेश की राजकुमारी होने का उल्लेख है और न मूल वर्णन में उस (कर्पूरदेवी) के पिता का नाम तेजल दिया है। जौनराज अपनी की हुई उक्त ग्रन्थ की टीका में कर्पूरदेवी को श्लेष्य रूप में तेजल की पुत्री बतलाता है। किन्तु मूल लेखक और टीकाकार दोनों में से एक भी उसको हैहय वंशी राजकुमारी नहीं कहता केवल पृथ्वीराज विजय में दो स्थान पर उस (कर्पूरदेवी) का त्रिपुरी नरेश्वर की कन्या होने का उल्लेख होने से ही उस (पृथ्वीराज विजय) के दोनों विद्वान् सम्पादक त्रिपुरी की स्थिति मध्य प्रदेश में मानते हुए उसे चेदि की राजधानी होना बतला कर्पूरदेवी को हैहय वंशी राजकुमारी होने का उल्लेख करते हैं। निस्सन्देह पृथ्वीराज के विद्वान् सम्पादकों की विद्वत्ता और प्रतिभा आदरणीय वस्तु है, इस बात को मानते हुए 'तेजल' या (अचलराज) को कर्पूर-देवी का पिता मान लेते हैं, परन्तु जब चेदि के हैहय (कलचुरी) वंशी नरेशों की वंशावली में 'तेजल' या 'अचलराज' नाम तलाश करते है तो नहीं मिलता और निराश होना पड़ता है। खड्गविलास प्रेस बाकीपुर (पटना) से प्रकाशित हिन्दी टॉड राजस्थान की विद्वत्तापूर्ण टिप्पणियों में हैहय वंशी नरेशों की वंशावाली देते हुए श्री ओझाजी ने 'तेजल' या 'अचलराज' को चेदि नरेश बतलाया है; किन्तु फिर उन्होंने कभी ऐसा नहीं माना और 'अनंद विक्रम संवत् की कल्पना' तथा 'पृथ्वीराज रासो का निर्माण काल' नामक निबन्धों में कर्पूरदेवी के पिता के स्थान में उस (तेजल) या अचलराज का नामोल्लेख तक नहीं किया है, जिससे कह सकते हैं कि यह विषय सन्दिग्ध ही है। 'हम्मीर महाकाव्य' तथा 'सुर्जनचरित' में पृथ्वीराज की माता का नाम कर्पूरदेवी होने के कथन भी अस्पष्ट हैं और उनसे तो यही ध्वनि निकलती है कि पृथ्वीराज का पिता सोमेश्व कर्पूरदेवी से ब्याहा अवश्य था, परन्तु वह (कर्पूरदेवी)

न तो चेदि देश के राजा की पुत्री थी और न उसका पिता तेजल या अचलराज था और न उसके उदर से पृथ्वीराज और हरिराज उत्पन्न हुए-

इला विलासी जयतिस्म तस्मात् सोमेश्वरोऽनश्वर नितिरीति ॥ ६७ ॥
कर्पूरदेवीति वभूव तस्य प्रिया [प्रिया] राधन सावधाना ॥ ६८ ॥
हम्मीर महाकाव्य; सर्ग २।

शकुन्तलाभा गुण रूप शीलैः सकुन्तलानामधिपस्य पुत्रीम्।
कर्पूरधारां जन लोचना नां कर्पूरदेवी मुदुवाह विद्वान् ॥ ४ ॥
सुर्जन चरित, सर्ग ६।

उपरोक्त दोनों ग्रन्थ कर्पूरदेवी के पिता के नाम और कुल पर कुछ भी प्रकाश न डाल कर मौन साध लेते हैं। साथ ही कर्पूरदेवी का पितृकुल किस स्थान पर था, इस पर हम्मीर महाकाव्य का कर्त्ता विल्कुल ही चुप्पी साधकर मौन होजाता है और सुर्जनचरित का रचनाकार कर्पूरदेवी का पितृकुल कुन्तल प्रदेश में होना वतलाता है।

अव यहां कुन्तल प्रदेश की स्थिति पर विचार किया जाय तो उसकी स्थिति निम्नलिखित स्थिर होती है —

कामगिरि समारभ्य द्वारकान्तं महेश्वरी।
श्रीकुन्तला मिधो देशो वर्णितः शक्तिसंगमे ॥ १ ॥

अर्थ-कामगिरि से लेकर द्वारिका तक हे पार्वती, कुन्तल नाम का देश होना शक्ति संगम तन्त्र में कहा है।

ऐसी स्थिति में पृथ्वीराज विजय का कथन संशय युक्त है। उक्त अपूर्ण ग्रन्थ के इन अस्पष्ट और अनिश्चित् वर्णनों के आधार पर रासो का कथन विल्कुल ही झूँठ मान लेना उचित नहीं है। आश्चर्य है कि जयानक पृथ्वीराज का आश्रयी और समकालीन कवि होते हुए भी उसकी (पृथ्वीराज) माताके पितृकुल और राज्य का वर्णन करने में संकुचित वृत्ति रखे और सोमेश्वर की माता कांचनदेवी के पितृकुल आदि का समुचित वर्णन करे, अवश्य ही संशय का स्थल उत्पन्न करता है।

पृथ्वीराज रासो में महाराजा सोमेश्वर का विवाह दिल्ली के तंवर नरेश अनङ्गपाल की राजकुमारी से होना और उसके उदर से पृथ्वीराज का जन्म होना आदि

कथा दी गई है। उसकी पुष्टि का रासो के अतिरिक्त अन्य कोई सम-सामयिक ग्रन्थ नहीं है; किन्तु इस विषय में जो तर्क दिये गये हैं, वे असङ्गत नहीं है। दिल्ली पर विग्रहराज (चतुर्थ बीसलदेव) का अधिकार होने के पूर्व तंवरों का आधिपत्य था। संभव है कि चौहानों द्वारा हांसी आदि विजय कर लेने पर तंवरों ने चौहानों की अधीनता स्वीकार करली हो और तंवर राज्य करद राज्य बन गया हो। जैन पट्टावलियों से वि० सं० १२२३ में दिल्ली का शासक मदनपाल होना विदित होता है, जो अनङ्गपाल नाम से भी प्रसिद्ध हो। राजपूतों में बहु विवाह की प्रथा भी उस युग में विद्यमान थी। स्वयं सोमेश्वर के पिता अर्णोराज के दो विवाह होना पृथ्वीराजविजय से ही सिद्ध है। ऐसी अवस्था में सोमेश्वर का भी चौहान राज्य की प्राप्ति के पीछे तंवर राजकुमारी से विवाह हुआ हो। यदि पृथ्वीराज तंवर राजकुमारी से उत्पन्न सोमेश्वर का पुत्र न हो और अन्य राजकुमारी से उत्पन्न सोमेश्वर का राजकुमार हो तो भी दोनों ही अवस्था में तंवर राजकुमारी पृथ्वीराज की माता होगी और तंवर नरेश उसका नाना ही कहलायगा। तंवरों की स्थिति निर्बल हो चुकी थी और पंजाब की तरफ से शहाबुद्दीन के आक्रमण की इस समय संभावना बढ़ती जारही थी जिससे निरुपाय होकर तंवरों ने अपना पैतृक राज्य बलवान पृथ्वीराज को सौंप दिया, यही दिल्ली दान कथा का सारांश हो सकता है। शहाबुद्दीन के आक्रमण के समय दिल्ली में पृथ्वीराज के सर्दार गोविंदराज का युद्ध करना और सुल्तान के भाले से उसके दो दांत टूटना यही प्रकट करता है कि इसके पूर्व ही तंवर अपने राज्य से मुक्त हो चुके थे।

१. पृ० ६३, पंक्ति १०–११–'पृथ्वीराज और पृथ्वीराज की बहिन। इस विषय पर श्री ओझाजी का कथन है कि 'यह कथा बिल्कुल कल्पित है; क्योंकि समरसिंह मेवाड़ का गुहिल वंशी नरेश) पृथ्वीराज के बहुत समय बाद हुआ।' मेवाड़ से प्राप्त शिलालेखों तथा अन्य साधनों से यह स्पष्ट है कि गुहिलवंशी महारावल समरसिंह का राज्यकाल वि० सं० १३३०–१३५८ तक रहा। ऐसी अवस्था में रासो के वर्णन के विरोध में अब तक जिन-जिन विद्वानोंने कलम चलाई है वह असंगत नहीं कहा जासकता है क्योंकि महारावल समरसिंह, पृथ्वीराज के पूरे सौ वर्ष पीछे उत्पन्न हुआ था। किन्तु सारे राजस्थान में यह बात पूर्ण रूप से प्रसिद्ध है कि पृथ्वीराज की बहिन का विवाह मेवाड़ के राजा से हुआ। ऐसी अवस्था में परंपरागत कथाओं को निर्मूल नहीं माना जा सकता। रासो की अधिकांश सब ही प्रतियों में पृथ्वीराज की बहिन का विवाह

मेवाड़ के राजा के साथ होने और उसके पृथ्वीराज की सहायतार्थ शहाबुद्दीन गोरी की अन्तिम चढ़ाई के समय युद्ध में काम आने का उल्लेख मिलता है। 'अनंद विक्रम सम्वन् की कल्पना' शीर्षक निबन्ध देखो (ऊपर पृ० ६०) में स्वयं श्री ओझाजी ने उल्लेख किया है कि "मेवाड़ में यह प्रसिद्ध है। रावल समरसिंह का विवाह पृथ्वीराज की बहिन पृथाबाई के साथ हुआ था। यदि इस प्रसिद्धि का 'पृथ्वीराजरासो' की कथा के अतिरिक्त कोई आधार हो और उसमें कुछ सत्यता हो तो उसका समाधान ऐसा मानने से हो सकता है कि चौहान राजा पृथ्वीराज (दूसरे) की, जिसको 'पृथ्वीराज-विजय' में पृथ्वीभट्ट कहा है, बहिन का विवाह मेवाड़ के राजा समतसी (सामन्तसिंह) के साथ हुआ हो। मेवाड़ की ख्यातों में सामन्तसिंह को समतसी और समरसिंह को समरसी लिखा है। समरसी नाम प्रसिद्ध भी रहा, जिससे समतसी के स्थान में समरसी लिख दिया हो। पृथ्वीराज (दूसरे) के शिलालेख वि० सं० १२२४, १२२५, और १२२६ के मिले हैं और समतसी का वि० सं० १२२८ और १२३६ में विद्यमान होना उसके शिलालेखों से निश्चित है, तथा वि० सं० १२२८ से कुछ पहले उसका मेवाड़ का राज जालोर के चौहान कीतू ने छीना था। अतएव चौहान पृथ्वीराज (पृथ्वीभट्ट) दूसरे और मेवाड़ के समतसी (सामन्तसिंह) का समकालीन होना निश्चित है। सम्भव है कि उन दोनों का सम्बन्ध भी रहा हो"।

उदयपुर के श्री रामनारायणजी दूगड़ (स्वर्गवासी) ने राजस्थान रत्नाकर भाग २, पृ० ६० और ६२ में एक पुरानी ख्यात के आधार पर माना है कि मेवाड़ के राजा विक्रमसिंह का विवाह प्रसिद्ध महाराजा पृथ्वीराज चौहान की बहिन से हुआ, जिससे रणसिंह या कर्णसिंह का जन्म हुआ। कवि राव मोहनसिंहजी भी मेवाड़ के राजा विक्रमसिंह (श्री पुंज) का विवाह महाराजा पृथ्वीराज की बहिन से होने का उल्लेख करते हुए उस (विक्रमसिंह) का महाराजा पृथ्वीराज के सहायतार्थ तराइन के अंतिम युद्ध में मृत्यु पाना मानते हैं। इसके प्रमाण में उन्होंने रासो के कई छन्दों के अवतरण दिए हैं, जो विक्रमसिंह को 'समरविक्रम', 'विक्रमकेसरी' आदि नामों से सम्बोधन करते हैं। मेवाड़ के राजवंश की शोध पूर्वक वंशावलियों में विक्रमसिंह का नाम चोड़सिंह के पीछे आता है और उस (विक्रमसिंह) को आबू के वि० सं० १३४२ के लेख में चोड़सिंह का पुत्र तथा कुम्भलगढ़ के वि० सं० १५१७ के लेख में चौड़सिंह का बड़ा भाई होना बतलाया है।

पालड़ी (उदयपुर से उत्तर में चार मील दूर) गाँव के वि० सं० ११७३ का लेख बतलाता है कि उस समय मेवाड़ में विजयसिंह का पुत्र अरिसिंह राज्य कर रहा था। उसके पीछे क्रमशः चौड़सिंह और विक्रमसिंह मेवाड़ के राजा हुए। इनका समय वि० सं० की बारहवीं शताब्दी का अन्त और तैरहवीं शताब्दी का आरम्भ होगा। इसके बाद ही रणसिंह मेवाड़ का राजा होना चाहिये; किन्तु उपरोक्त आबू की प्रशस्ति विक्रमसिंह के पीछे क्षेमसिंह और सामन्तसिंह आदि को ही मेवाड़ के राजा होना बतलाती है, रणसिंह को नहीं। विपरीत इसके कुम्भलगढ़ की प्रशस्ति विक्रमसिंह के पीछे रणसिंह का राजा होना बतला कर उसके बाद क्षेमसिंह, सामन्तसिंह आदि का मेवाड़ के राजा होने का उल्लेख करती है। मेवाड़ में विक्रमसिंह और रणसिंह के अब तक कोई लेख प्राप्त नहीं हुए हैं। किन्तु महाराणा कुम्भकर्ण विरचित एकलिङ्ग माहात्म्य में उस (रणसिंह) के समय गुजरात के सोलंकी राजा भीमदेव (दूसरा) की मेवाड़ पर चढ़ाई होने का निम्न वर्णन है:—

येनमहासंग्रामे प्रभुवत्सो भीम महीराजौ ॥
धरवीरोनरनाथो भग्नो रण रंगमल्लेन ॥ ४४ ॥

इससे रणसिंह का समय अवश्यमेव आगे बढ़ जाता है। सिरोही के अजाहरी (अजारी) गाँव से वि० सं० १२२३ का एक लेख मिला है, जिसके लिए डा० देवदत्त रामकृष्ण भांडारकर का अनुमान है कि उक्त मेवाड़ के गुहिल वंशी राजा रणसिंह का हो। किन्तु दूसरा पक्ष इस शिलालेख को आबू (चन्द्रावती) के पदच्युत् परमार वंशी राजा विक्रमसिंह के पुत्र रणसिंह के समय का होना मानता है। कुम्भलगढ़ की उपर्युक्त प्रशस्ति रणसिंह के प्रसङ्ग में गुजरात के राजा भीमदेव की मेवाड़ पर चढ़ाई होना नहीं बतलाती और सामन्तसिंह का वि० सं० १२२८ वा १२३६, मथनसिंह का वि० सं० १२४३ का शिलालेख तथा पद्मसिंह का वि० सं० १२५१ का ताम्रपत्र मिल जाने से रणसिंह का समय स्थिर होने के विषय में और भी अधिक जटिलता उत्पन्न हो गई है। गुजरात के सोलंकी नरेश भीमदेव (दूसरा) का लम्बा राज्य काल है, जो लगभग वि० सं० १२३६ के आरम्भ होकर वि० सं० १२९८ तक बना रहता है। एकलिङ्ग महात्म्य के अनुसार मेवाड़ के राजा रणसिंह को गुजरात के सोलंकी राजा भीमदेव (दूसरा, भोला भीम) का सम-सामयिक मान लिया जाय, वहां उस (भीमदेव) के समकालीन मेवाड़ के गुहिलवंशी राजा सामन्तसिंह, कुमारसिंह, मथनसिंह, पद्मसिंह, और जैत्रसिंह होना भी सुनिश्चित् है।

रणसिंह के विषय में उपरोक्त एकलिङ्ग माहात्म्य बतलाता है कि उसने सुरम्य आहोर पर्वत पर दुर्ग बनवाया, जिसका आशय यही जान पड़ता है कि उस (रणसिंह) से मेवाड़ का राज्य छूट गया हो, जिससे उसको पश्चिमी पहाड़ी प्रदेश में बढ़कर आहोर का नवदुर्ग निर्माण करने की आवश्यक्ता हुई हो। फिर उस (रणसिंह) की सहायतार्थ नाडोल के चौहान कीतू आदि ने मेवाड़ पर अपना प्रभाव स्थापित कर क्षेमसिंह के पुत्र कुमारसिंह का वहाँ से अधिकार उठा दिया हो एवं कुमारसिंह ने गुजरात के सोलंकी नरेश भीमदेव की कृपा संपादन कर अनहिलवाड़ा की सैनिक सहायता से पुनः मेवाड़ का राज्य प्राप्त किया हो, यहाँ रणसिंह से मेवाड़ का राज्य छूटने की बात कल्पना मात्र है और शेष इतिहास सम्मत है। एकलिङ्ग माहात्म्य की कथा को इस प्रकार मानने से इतिहास में उसका ठीक-ठीक समन्वय हो जाता है और शिलालेखों से भी उसका विरोध नहीं रहता। इस काल का इतिहास अभी तक साधनों के अभाव में पूर्ण रूप से प्रकाश में नहीं आया है और अधिकांशतः अंधकार में ही है। राणा शाखा की पृथक्ता के विषय में यह सर्व मान्य है कि विक्रमसिंह का पुत्र रणसिंह ही राणा शाखा का प्रवर्त्तक हुआ, जिसको कर्णसिंह भी कहते हैं, उसका समय तेरहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध ही होना चाहिये।

महाराजा पृथ्वीराज चौहान (तृतीय) के समकालीन मेवाड़ के राजा सामन्तसिंह, कुमारसिंह, मथनसिंह और पद्मसिंह होना स्पष्ट हैं। इन चारों गुहिल-वंशी राजाओं में से सामन्तसिंह का सौहार्द्र गुजरात के सोलंकी नरेशों के साथ रहा हो ऐसा पाया नहीं जाता। उसके विषय में शिलालेखों में लिखा है कि उसने सामन्तों का सर्वस्व (भू भाग) छीन लिया। इससे यह अनुमान करना व्यर्थ न होगा कि सामन्तसिंह के इस कृत्य (छीना झपटी) के परिणाम स्वरूप वहाँ (मेवाड़ में) विप्लव होगया और मेवाड़ पर सौनिगरों का अधिकार जम गया। सामन्तसिंह के क्रमानुयायी कुमारसिंह का गुजरात के सोलंकियों से मेल रहा और उसने पीछे दो पीढ़ी तक गुजरात के नरेशों का मेवाड़ पर खासा प्रभाव रहा, यह तत्समयक शिलालेखों आदि से प्रकट है। रासो में सामन्तसिंह का नाम भी अंतिम युद्ध के प्रसङ्ग में आता है। अतएव यह असंभव नहीं कि उसका वि० सं० १२३६ के पीछे का समय चौहान महाराज्य की रक्षा करने में व्यतीत हुआ हो और वह अन्तिम युद्ध में स्वर्गवासी हुआ हो।

गुहिल राजवंश के बीच वैवाहिक संबंध होने के बहुत से उदाहरण मिलते हैं। पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर का भतीजा पृथ्वीराज (पृथ्वीराज दूसरा, पितृघाती जगदेव का पुत्र) गुहिलवंश का भगिनेय था। मेवाड़ के राजा नरवाहन की रानी चौहान वंश की थी। मेवाड़ और अजमेर का राज्य पास-पास है। दोनों राज्यों के बीच विरोध तथा मैत्री भी होने के उदाहरण मिलते हैं। यह दोनों कुल शैव धर्मावलंबी और प्रतिष्ठित थे एवं मेवाड़ का राजा गुहिलवंशी सामन्तसिंह वीर तथा सर्व सुन्दर शरीर वाला था, अतएव चौहान राजा सोमेश्वर के कोई पुत्री हो और उसका विवाह सामन्तसिंह से हुआ हो तो भी असंभव नहीं है। किन्तु यह भी कल्पना ही है, जब तक इस विषय में कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिले, निश्चय पूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता है।

राजस्थान में सर्वत्र यह कथा प्रसिद्ध है कि महाराजा पृथ्वीराज की बहिन पृथाकुमारी का विवाह मेवाड़ के गुहिल राजवंश में हुआ था। परंपरागत यह कथा एक बार ही मिथ्या नहीं हो सकती। इस समय भी मेवाड़ में तीन ऐसे घराने हैं, जो अपना महाराजा पृथ्वीराज की बहिन के साथ दहेज में आना बतलाते हैं। इन तीनों घरानों की प्रतिष्ठा अब तक भी मेवाड़ में बनी हुई है और सौलहवीं शताब्दी से तो उनके मेवाड़ में होने का पूरा प्रमाण मिलता है–

(१) सनाढ्य ब्राह्मण–पुरोहित गुरु राम का वंश।

(२) दाधीच ब्राह्मण–आचारज ऋषि केष का वंश।

(३) माहेश्वरी महाजन–देवपुरा गौत्र के शाह श्रीपति का वंश।

वंश भास्कर के ग्रन्थकार ने भी इन तीनों वंशों का चौहान राजकुमारी के साथ मेवाड़ में दहेज में आना माना है। उनकी ख्यातें तथा अन्य कुछ पुस्तकें भी जो सौल-हवीं शताब्दी के पीछे की है, ऐसा ही उल्लेख करती हैं। इस विषय पर स्वतंत्र रूप से प्रकाश डाले जाने पर ही अधिक प्रकाश पड़ेगा। अभी तक यह विषय शोध की पूरी गुंजाइश रखता है।

10. पृ० ६३, पंक्ति १६–२० (विषय–पृथ्वीराज रासो और सोमेश्वर की मृत्यु) 'यह सारी कथा भी असत्य है, क्योंकि न तो सोमेश्वर, भीमदेव के हाथ से मारा गया और न भीम, पृथ्वीराज के हाथ से।' गुजरात के सोलंकियों और अजमेर के चौहानों के इतिहास से प्रकट है कि गुजरात के सोलंकी नरेश कुमारपाल अजमेर का

चौहान राजा सोमेश्वर समकालीन था। कुमारपाल के पीछे गुजरात के सिंहासन पर, उस (कुमारपाल) के बड़े भाई महीपाल का पुत्र अजयपाल आसीन हुआ। वह (सोमेश्वर) उस (अजयपाल,) का भी समकालीन रहा और दोनों की मृत्यु के समय में अधिक अन्तर नहीं है। अजयपाल का उत्तराधिकारी उसका बालक पुत्र मूलराज (दूसरा) हुआ, जो दो वर्ष से अधिक समय तक राज्य नहीं करने पाया और काल कवलित होगया। एवं उसके स्थान पर उस (मूलराज) का छोटा भाई भीमदेव वि० सं० १२३६ के लगभग गद्दी बैठा। उधर अजमेर के सिंहासन पर सोमेश्वर का वीर पुत्र पृथ्वीराज (तृतीय) वि० सं० १२३४ के अन्त में, अथवा वि० सं० १२३५ के आरम्भ में आरूढ़ हुआ। यह गुजरात और अजमेर दोनों राज्यों के नरेशों की गद्दीनशीनी का प्रारम्भिक काल है। इसही समय के आस-पास वि० सं० १२३५ (ई० स० ११७८) में नाडोल और अनहिलवाड़ा (गुजरात) पर सुलतान शहाबुद्दीन गौरी भी चढ़ आया। पृथ्वीराजविजय में उल्लेख है कि 'सुलतान की इस चढ़ाई के दिनों में महाराजा पृथ्वीराज ने मन्त्री कदंबवास (कैमास) को आज्ञा दी कि नाडोलपर शीघ्र ही आक्रमण किया जावे। उसका उत्तर उक्त मन्त्री इस प्रकार देता है कि 'शत्रुओं पर मुसलमानों का आक्रमण हो रहा है, जिससे उनका क्षय हो जायगा।' इससे पाया जाता है कि सोमेश्वर का, सुलतान शहाबुद्दीन गौरी का गुजरात पर आक्रमण होने के पूर्व देहावसान होकर पृथ्वीराज गद्दी पर बैठ गया था; किन्तु उसका राज्य सुदृढ़ नहीं होने पाया कि इसही बीच सुलतान भी गुजरात में आ धमका। कुमारपाल और सोमश्वर के बीच मेल रहता है; पर थोड़े ही दिनों पीछे दोनों राज्यों के बीच बिगाड़ हो-जाता है और भयङ्कर शत्रुता होजाती है जिसमें नाडोल के चौहान नरेश जो सांभर और अजमेर के चौहानों के वंशधर थे, गुजरात के नरेशों के साथ रह कर लड़ते हैं और पृथ्वीराज की अधीनता स्वीकार न करअजमेर के चौहान नरेशों का साथ नहीं देते। यह ऐसी बात थी, जिसको पृथ्वीराज जैसी उतावली प्रकृति वाला नरेश स्वीकार नहीं कर सकता। इसही कारण से गद्दी पर बैठते ही पृथ्वीराज मत्री कदंबवास को नाडोल पर आक्रमण करने का आदेश देता है। इन बातों पर विचार करते हुए यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अजयपाल की मृत्यु पीछे गुजरात और अजमेर के राजाओं के बीच कोई गंभीर कारण उप-स्थित होकर युद्ध का मौका होगया हो, जिसमें सोमेश्वर मारा गया हो, अथवा

क्षत-विक्षत होकर कुछ दिनों बाद मर गया हो। तथा इस समय नाडोल के चौहान, गुजरात के नरेशों के साथ रह कर अजमेर वालों से लड़े हों। संभवतः सोमेश्वर के साथ होने वाला सोलंकियो का यह युद्ध मूलराज (दूसरे) के समय ही होसकता है। इस युद्धका एक और भी कारण हो सकता है और वह यह कि गुजरात के सोलंकी नरेश अजयपाल तक, अजमेर तथा सांभर के चौहान नरेश, गुजराती नरेशों को कर दिया करते थे, जो अजयमाल की मृत्यु पश्चात् मूलराज की बाल्यावस्था और निलर्बता समझ बन्द कर दिया गया हो। इस पर उभय राज्यों के बीच विरोध होकर युद्धका अवसर होगया हो और उसमें सोमेश्वर मारा गया हो। रासो में पृथ्वीराज की गुजरात पर चढ़ाई होने का वर्णन है, वहां युद्ध में भीमदेव के सरदारों द्वारा ही सोमेश्वर की मृत्यु होना बतलाया है, जो अनुपयुक्त नहीं है; क्योंकि चाहे सोमेश्वर, मूलराज (दूसरे) के समय होने वाले युद्ध में मृत्यु को प्राप्त हुआ हो, फिर भी बालक होने से मूलराज स्वतः इस युद्ध में भाग नहीं ले सकता और सरदार वही थे, जो भीमदेव के समय में भी रहे। अस्तु, यह वर्णन किसी प्रकार विपरीत नहीं हो सकता। इसही प्रकार भीमदेव का पृथ्वीराज के साथ होने वाले युद्ध में मारे जाने का वर्णन रासो का मूल अंश नहीं है और वह प्रक्षिप्त ही समझना चाहिये, जो पिछले रासो के संस्करण कर्ताओं ने बढ़ा दिया हो।

॥' पृ० ६५, पंक्ति ४,–'पृथ्वीराजरासो और पृथ्वीराज के विवाह'–इस विषय में डा० ओझा की मान्यता है, "११ वर्ष की अवस्था से लगाकर ३६ वर्ष की अवस्था तक (पृथ्वीराज) के १४ विवाह होना रासो में लिखा है, जो ऊपर जांच किये हुए पांच विवाहों के समान निर्मूल है।" राजाओं में उस समय भी बहु-विवाह की प्रथा थी। अस्तु, पृथ्वीराज के कई विवाह हुए हो, यह असंभव नहीं है; क्योंकि पृथ्वीराज की युवावस्था थी। इस आयु में साधारण श्रेणी के मनुष्यों में भी कामवासना की मात्रा प्रबल होती है, फिर पृथ्वीराज जैसे युवक और आसक्तिमय राजा के लिए, जिसको सर्व साधन प्राप्त थे, यह बात नहीं रही हो, ऐसा कोई नहीं मान सकेगा। जयानक स्वयं 'पृथ्वीराजविजय महाकाव्य' में तिलोत्तमा नामक रूपवती राजकुमारी पर उस (पृथ्वीराज) का मुग्ध होना बतलाता है।

मारवाड़ के मंडोवर नामक स्थान में प्रतिहारों (पड़िहारों) का राज्य वि० सं० की पन्द्रहवीं शताब्दी तक रहना पाया जाता है और वर्तमान राठोड़

नरेशों के पूर्वज राव चूंडा ने प्रतिहारों से ही मंडोवर का राज्य प्राप्त किया था। मंडोवर के प्रतिहार राजाओं में नाहरराव पडिहार भी हुआ है, जिसका समय नवीं शताब्दी के आस-पास स्थिर होता है। एक ही वंश में एक ही नाम के कई राजा हुए हैं। अतएव नाहरराव नाम का मंडोवर के प्रतिहार वंश में इस काल में भी कोई व्यक्ति हो सकता है। रासोकार नाहरराव की जूनागढ़ में स्थिति होना बतलाता है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रतिहार वंशी नरेशों का सौराष्ट्र पर भी अधिकार रहा था और उनके वंशधरों में यह नाहरराव होकर जूनागढ़ पर अधीन राजा की भांति अधिकार रहता हो। राजपूतों में उस काल में बाल्यविवाह होने के भी कई उदाहरण मिलते हैं। इस बात को देखते हुए यह भी कल्पना की जा सकती है कि पृथ्वीराज का विवाह उस समय में हुआ हो,जब सोमेश्वर जीवित था,एवं गुजरात के चालुक्य (सोलंकी) नरेशों से, जिनका केवल गुजरात ही नहीं, सौराष्ट्र पर भी सार्वभौमत्व था, तथा चौहानों और उनके मित्रता थी।

आबू पर परमारों का राज्य था, यह इतिहास सम्मत है। पृथ्वीराज की परमार रानी इञ्छिनी आबू के मुख्य राजा की पुत्री न रही हो, किन्तु वह परमार वंश की हो सकती है, जिसका उद्भव आबू से हुआ। उस समय आबू के परमार राजवंश की कइ शाखाएँ होगई थी और उन्होंने कई ठिकाने बांध लिये थे। आबू के मुख्य परमार राज्य में इस समय कमजोरी आकर वे गुजरात के सोलंकी नरेशों के अधीन मंडलेश्वर के रूप में राज्य करते थे। सोलंकी नरेशों की कृपा पर आबू के परमार नरेशों का अस्तित्व अवलंबित था। रासो के लेखानुसार इच्छनी के पिता का राज्य एक भिन्न अस्तित्व रखता है। अतएव इस कथा को कल्पना मान कर इच्छनी को आबू के मुख्य नरेश की राजकुमारी न मानते हुए, उसही कुटुम्ब की मानलें तो इतिहास दूषित नहीं होगा।

मारवाड़ का दधिमति प्रदेश मारोठ आदि में दाहीमा क्षत्रियों का निवास था और पृथ्वीराज का मुख्य मन्त्री कर्दमवास (कयमास) दाहिमा जाति का था। उसही कर्दमवास का भाई चामुंड होना रासो में बतलाया है। अतएव दाहिमा चामुंड (कर्दमवास का भाई) की बहिन का विवाह पृथ्वीराज से होना और उसके गर्भ से कुमार रैणसी के उत्पन्न होने का कथन भी आश्चर्य युक्त नहीं है। राजाओं के ही नहीं, सामान्य पुरुषों के भी कई संतान होती है। इस बात को दृष्टि में रखते हुए कुमार रैणसी को पृथ्वीराज का पुत्र मानने के विषय में शंका करनी भी निर्मूल है। रैणसी को रासोकार मुसलमान सेना से लड़ कर मारे जाने का उल्लेख करता है, अतएव उसकी कथा वहीं समाप्त होजाती है, फिर अजमेर की गद्दी पर गोविन्दराज को आरूढ़ करने का कथन भी उचित ही है।

शशिव्रता देवगिरि के यादव राजा और हंसावती रणथंभोर के यादव राजा

की पुत्री होना असंभव नहीं। यहां देवगिरि की स्थिति संस्कृत भाषा के महाकाव्य मेघदूत के अनुसार मालवा प्रदेश में उज्जैन और मन्दसौर के बीच होना चाहिये। जहां उस समय परमारों के सामन्त रूप में यादवों का अधिकार हो। इसही प्रकार रणथंभोर में भी।

उपरोक्त विचार धाराओं के अनुसार रासो में वर्णित विवाहों की कथा एक बार ही मिथ्या नहीं हो सकती। इस काल का सम्पूर्ण रूप से इतिहास उपलब्ध नहीं है। यथार्थ में देखा जाय तो भारत में शोध का कार्य अभी प्रारंभिक अवस्था में ही है। शोध का क्षेत्र अनन्ता है और उससे कितनी ही बातों पर नवीन प्रकाश पड़ता है। अभी तक तो यही माना जाता रहा है कि पृथ्वीराज का मुख्य मन्त्री कईम्वास ही था। किन्तु आधुनिक शोध कर्त्ताओं को लन्दन स्थित इंडिया ऑफिस लाइब्रेरी में संगृहित कवि लक्ष्मीधर रचित 'विरुद्ध विधि विध्वंस' नामक संस्कृत ग्रन्थ का पता मिला है, जिसमें उल्लेख है कि "शाकंभरी और अजमेर के चौहान नरेश सोमेश्वर का मंत्री स्कन्द नागर जाति का ब्राह्मण था। स्कन्द के पीछे उसका पुत्र सोढ़, सोमेश्वर का मंत्री हुआ। सोढ़ के दो पुत्र स्कन्द और वामन हुए, जो सोमेश्वर के पुत्र और उत्तराधिकारी महाराजा पृथ्वीराज के क्रमशः सेनापति और सांधिविग्रहिक हुए। स्कंद ने जब किसी दूसरे देश पर चढ़ाई गया था, तब मुसलमानों की निद्राव्यसनी राजा पृथ्वीराज पर चढाई हुई, जिसमें उस (पृथ्वीराज) का पतन हुआ।" पृथ्वीराजविजय महाकाव्य तथा अन्यत्र रासो आदि में उक्त नागर परिवार का उल्लेख नहीं मिलता, तो क्या इससे उपरोक्त ग्रन्थ के कथन को निर्मूल मान लिया जायेगा ?

इस प्रकार अन्य विवाहो तथा रासो के सम्वतों भाषा आदि विषयों पर भी समय-समय पर विद्वानों ने उत्तर दिये हैं। संयोगिता स्वयंवर की कथा सुर्जन चरित्र में उल्लिखित है। पृथ्वीराजविजय में पृथ्वीराज की माता के गर्भ धारण के समय उल्लिखित ग्रह स्थिति पर विचार करते हुए उदयपुर निवासी पं० बिहारीलालजी लालूजी दशोरा, शास्त्री,ज्यौतिर्विद ने गणित द्वारा निर्णय किया है कि वि० सं० १२२० में धन राशि पर शनि स्थित था। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार शनि २॥ वर्ष अर्थात् ३० मास तक एक राशि पर रहता है। इस नियम के अनुसार कुंभ राशि पर शनि वि० सं० १२२५ के आसपास पहुंचेगा। अतएव वि० सं० १२२५ वैशाख मास मे कर्पूरदेवी का गर्भ धारण करना संभवित है। सतति शास्त्र के नियमानुसार नौ या दस मास में सन्तान उत्पन्न होती है। फलतः माघवदि १२ जिस दिन 'भीष्म द्वादशी' थी, पृथ्वीराज का जन्म संवत् स्थिर होगा।

रासो की भाषा के विषय में जो बातें बताई गई है, उसकी उपेक्षा नहीं की जासकती; पर मूल रासो का अस्तित्व पुराना है, यह अवश्य मानना पड़ेगा। एवं इस विषय पर स्वतंत्र रूप से निबन्ध में यथावसर प्रकाश डाला जायगा।

३ विमल-प्रबन्ध और विमल

राजपूताना, मालवा, गुजरात, काठियावाड़, कच्छ आदि देशों के श्वेतांबर जैनों के हृदय में जैन-धर्म का बड़ा उपकार करने वाले तीन महापुरुषों—विमल (विमलशाह), वस्तुपाल तथा उसके भाई तेजपाल—के नाम अंकित हैं, और सदा अंकित रहेंगे। विमलशाह विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ और वस्तुपाल तथा तेजपाल तैरहवीं में। वस्तुपाल स्वयं बड़ा विद्वान् था और विद्वानों का वड़ा आदर करता था, जिससे अनेक समकालीन एवं पिछले विद्वानों ने उसका नाम अमर करने के लिये उसका विस्तृत चरित निम्नलिखित ग्रंथों में लिखा—सोमेश्वर-रचित 'कीर्ति-कौमुदी' (वि० सं० १२८२ के आस पास) अरिसिंह-कृत 'सुकृत-संकीर्तन' (वि० सं० १२८५ के आस-पास), चंद्रप्रभसूरिप्रणीत 'प्रभावक-चरित' (वि० सं० १३३४), मेरुतुंग-रचित 'प्रबंध-चिंतामणी' (वि० सं० १३६१), राजशेखर-रचित 'चतुर्विंशति-प्रबन्ध' (वि० सं० १३६७) जयसिंह सूरि-कृत 'हम्मीर-मद-मर्दन, (वि० सं० १२८६ के आस-पास), और 'वस्तुपाल-प्रशस्ति', जिनहर्ष का 'वस्तुपालचरित' आदि।

विद्वानों की जो कृपा-दृष्टि वस्तुपाल और तेजपाल पर रही, वह कृपा संपादन करने में विमलशाह सौभाग्यशाली हुआ हो, ऐसा पाया नहीं जाता; क्योंकि उसके समकालीन या उसके निकटवर्ती किसी विद्वान् का लिखा हुआ उसका चरित अब तक प्रसिद्धि में नहीं आया, तो भी जैन-धर्मावलंबियों तथा अन्य आबू के भव्य मंदिरों को देखने वालों के चित्त से विमल की स्मृति कभी मिट नहीं सकती। ऐसे महापुरुष का चरित्र-ग्रंथ न मिलना हमारे देश के इतिहास के लिये—विशेषतः जैन- इतिहास के लिये—खेद-जनक है। विमल से ४०० वर्ष पीछे लावण्य

समय[1] नामक जैन-आचार्य ने विक्रम संवत् १५६८ में उस समय की प्रचलित (पुरानी) गुजराती भाषा में, जो उस समय की राजस्थानी भाषा से बहुत कुछ मिलती हुई है, नव खंड और एकचूलिका (परिशिष्ट) में छन्दोबद्ध विमल-प्रबंध नाम का ग्रंथ लिखा, और उसके दस वर्ष पीछे उसका संस्कृत-भाषांतर भी हुआ, जो उपलब्ध हो चुका है। गुजराती प्रबंध की सबसे पुरानी हस्त-लिखित प्रति वि० सं० १५८४ की लिखी उपलब्ध हुई, जिसके तथा पिछली प्रतियों के आधार पर वि०सं०१९७० में श्रीयुत मणिलाल बकोर भाई व्यास ने उसका गद्य-अनुवाद सहित एक उत्तम संस्करण प्रकाशित कर गुजराती भाषा की अच्छी सेवा की है। यह ग्रंथ विमल से ४०० वर्ष पीछे लिखा हुआ होने तथा उसके कर्त्ता को अधिक पुरानी सामग्री न मिलने के कारण उसमें विमल का वास्तविक चरित कम और कवि-कल्पना तथा कल्पित बातें विशेष रूप से हैं।

हम सुधा के पाठकों के लिये उक्त पुस्तक का प्रथम संक्षिप्त परिचय देकर उसकी ऐतिहासिक आलोचना कर आधुनिक खोज से विमल के विषय में जो कुछ बातें प्रसिद्धि में आई है, उनका निर्देश करेंगे, ताकि हिंदी के अनुरागी उस महापुरुष के कामों से यत्किंचित् परिचित हों।

विमल-प्रबंध का सार

प्रथम खंड—इसमें ऋषभदेव, अंबाजी, अर्बुदा, कुलदेवी, श्रीमाता (लक्ष्मी

---

१ लावण्य-समय के पूर्वज श्रीमाली-जाति के महाजन और पाटन (अणहिलवाड़ा) के निवासी थे। कवि का दादा संगपाटण से अहमदाबाद आया, और अजदरपुरे में रहा। उसके ज्येष्ठ पुत्र श्रीधर के चार पुत्र हुए। चौथा पुत्र लहराज १५२१ पौष-वदि ३ को पैदा हुआ। ९ वर्ष की आयु में उसे तपागच्छ के आचार्य लक्ष्मीसागर सूरि ने दीक्षा देकर उसका नाम लावण्य-समय रक्खा। उसने अपने गुरु समयरत्न से विद्याभ्यास किया। सोलहवर्ष की अवस्था में ही वह अच्छा कवि हो गया। उसने इस ग्रंथ के अतिरिक्त 'गौतम पृच्छारास', 'बोहानोरास', 'सीमंधर स्वामीनी सज्झाय' और 'नेमिछंद' लिखे, जो उपलब्ध हो चुके हैं। गुजराती-भाषा के अतिरिक्त वह संस्कृत का भी कवि था। मेवाड़ के महाराणा रत्नसिंह के मंत्री कर्मासाह ने शत्रुंजय का सातवाँ उद्धार कराया, जिसकी विस्तृत संस्कृत-प्रशस्ति की रचना वि०सं० १५८७ में उसी ने की, जो एपिग्राफिया इंडिका, जि० २, पृ० ४२-४७ में प्रकाशित हुई है। उसकी कविता उत्तम होने पर भी वह निरभिमान पाया जाता है।

पद्मावती, चक्रेश्वरी आदि का ध्यान करते हुए वागीश्वरी का गुण-गान किया गया है। तदनंतर लक्ष्मी के निवासस्थान हेमकूट का वर्णन, श्रीमाल-नगर की स्थापना, चारों युगों के अनुसार उसके चार नाम —पुष्पमाल, रत्नमाल, श्रीमाल और भिल्लमाल (भीनमाल)—श्रीमाल-नगर में लक्ष्मी देवी की स्थापना और लक्ष्मी का श्रीमाल-नगरवासियों को आशीर्वाद देने का उल्लेख है।

द्वितीय खंड—श्रीमाल-नगर में उहड़ और रोहड़ नाम के दोनों भाई संपत्तिशाली थे; परंतु रोहड़ बहुत अधिक धनवान् था। एक दिन उहड़ ने अपने भाई से एक लाख रुपया माँगा; परन्तु उसने देने से इन्कार कर दिया, जिससे रुष्ट होकर वह अपने घर चला आया।

श्रीमाल–नगर के राजा के कुँअर उत्पलदेव ने एक दिन अपने पिता से बड़ी जागीर माँगी; परंतु मंत्री के समझाने पर भी राजा ने उसे वह न देकर यही कहा कि वह रुष्ट होकर क्या करेगा, उसे तो इस युवावस्था में कोई नया राज्य स्थापित करना चाहिए। कुँअर को जब यह मालूम हुआ, तो वह अप्रसन्न होकर उहड़ के पास चला गया, और उससे सारा वृत्तांत कहा। वे दोनों नया राज्य स्थापित करने का निश्चय कर ठट्टा के स्वामी के पास पहुंचे। वहाँ के राजा ने उत्पलदेव को अच्छी जागीर देना चाहा; परंतु कुँअर ने उसे अस्वीकार कर यही निवेदन किया कि मैं तो किसी ऊजड़ प्रदेश को आवाद करना चाहता हूँ, इसलिये ऐसा कोई प्रदेश बताइए। इस पर राजा ने उसे सदैवत-नामक घोड़ा देकर कहा कि इस पर सवार होकर उत्तर को जाइए, और जहाँ यह उत्तम घोड़ा ठहर जाय, वहाँ इसकी लगाम निकालकर इसे छोड़ दीजिए। आठ पहर में जितनी भूमि पर भ्रमण कर यह आपके पास लौट आवे, उतनी भूमि पर एक नगर बसाना। उसने वैसाही किया और उस भूमि पर उएस (ओसियाँ, मारवाड़ में)-नगर बसा कर वहाँ अपनीं राजधानी स्थिर की, तथा उहड़ को अपना मंत्री बनाया।

एक दिन शचीदेवी ने स्वप्न में आकर उहड़ से कहा, मैं इस नगर की अधिष्ठात्री देवी हूं, और तुझे आज्ञा देती हूं कि ऊस-वंश की स्थापना कर एक जिनेश्वर का मंदिर और उसके पास मेरा मंदिर बनाना। उहड़ ने यह बात राजा से कही। राजा ने वहाँ दोनों मंदिर बनवा दिए, और उस नगर के सब निवासी लोग ऊसवाल (ओसवाल) कहलाए।

इधर श्रीमाल-नगर की अव्यवस्था होजाने के कारण लुटेरे लोग उसे लूटने लगे, जिससे वहाँ के व्यापारियों ने मिलकर खंभपुर (स्तंभपुर) के चक्रवर्ती राजा पौरव से रक्षा की प्रार्थना की, जिसे स्वीकार कर उसने १०,००० योद्धाओं को वहाँ भेज दिया। उनके आने से श्रीमाल निर्भय हो गया। वे योद्धा श्रीमाल की पूर्व दिशा में ठहरे, इसलिये प्राग्वाट (पोरवाड़) कहलाए। श्रीमालियों की जाति सब जातियों से बड़ी थी। उससे और उसकी शाखा-जातियों से वैश्यों की चौरासी जातियाँ पैदा हुई। फिर अठारह वर्णों तथा छः दर्शनों का परिचय है।

तृतीय खंड—कलियुग में धर्म नष्ट होगया। व्रत और तपस्या में दंभ के सिवा कुछ न रहा। राजा भी कुटिल होगए। ब्राह्मण शस्त्र धारण करने लगे। स्नान, शौचादि लुप्त हो गए, पृथ्वी की उर्वरा-शक्ति क्षीण होगई। सन्तों का आदर कम हो गया। पुत्र पिता से, वहू सास से, शिष्य गुरु से विरोध करने लगे। गुरु, योगी और महासतियों ने जप, तप आदि छोड़ दिए। अन्याय और छल बढ़ गया। सारांश यह कि सब प्रकार के अनर्थ होने लगे। परंतु इस युग में कई अच्छी बातें भी हुई। महावीर ने इसी युग में मोक्ष प्राप्त किया। महावीर के अनुयायियों में जंबूस्वामी, शालीभद्र, कालिकाचार्य, देवसूरि, हेमचंद्राचार्य, वस्तुपाल, सती-सुभद्रा, सुलसामाता आदि उत्तम पुरुष और स्त्रियाँ इसी काल में हुई। इन्हीं सत्पुरुषों में विमल भी हुआ।

विमल के पूर्वज निर्धनता के कारण श्रीमाल-नगर को छोड़कर गांभु में आ बसे। वि० सं० ८०२ में बनराज (चावड़ा) ने अणहिलपुर बसाया। यह समाचार सुनकर विमल का पूर्वज निनग भी वहाँ चला गया। उसका पुत्र लहिर बहुत प्रतापी हुआ। यह देख कर वहाँ के राजा ने उसे अपना दंडनायक (सेनापति) नियत किया। बनराज के बाद होनेवाले तीन राजों का भी वही दंडनायक रहा। लिहर का पुत्र वीर हुआ, जो राज्य का कार्य-भार छोड़कर जप-तप और धर्म-ध्यान आदि की तरफ़ लगा रहा। उसका पुत्र विमल हुआ।

चतुर्थ खंड—विमल बहुत सौभाग्यशाली था। उसके बहुत-से शारीरिक लक्षण सौभाग्य-सूचक थे। वह बड़ा कुशाग्र-बुद्धि था। वह व्याकरण पैशाचीलिपि अनियमितलिपि, यक्षलिपि, नागरीलिपि, पारसीलिपि, वणिक्‌लिपि द्राविड़ी आदि लिपियों और वास्तु-विद्या, कामशास्त्र, राजनीति, जैनधर्म, मंत्र-तंत्र, युद्ध-

नीति, व्यापार, पाकशास्त्र, कृषिशास्त्र, साहित्य, ज्योतिष, गणित आदि अनेक विषयों में शीघ्र पारंगत हो गया। तत्पश्चात् उसका पिता दीक्षा लेकर साधु हो गया।

विमल की कुशाग्र-बुद्धि और चतुरता को देखकर उसके शत्रुओं के मन में ईर्ष्या उत्पन्न हुई। शत्रु उसका अनिष्ट न कर दें, इस भय से उसकी माता उसे लेकर अपने पीहर चली गई। विमल का नाना बहुत गरीब था। इसलिए उसने उसको अपने पशु चराने पर नियत किया। अंबाजी ने उसके शील के कारण बहुत प्रसन्न होकर उसे वर्ण-कला, वाजि-परीक्षा, और पंचकोश तथा शर-प्राप्ति के वर दिए।

उन्हीं दिनों श्रीदत्त नाम का एक धनाढ्य व्यापारी पाटण (अणहिल-वाड़े) में अपनी लड़की के लिये योग्य वर की तलाश में था। ज्योतिषियों ने उसे बताया कि वीर का पुत्र विमल तुम्हारी कन्या के योग्य वर है; क्योंकि उसी के साथ इस पुत्री का जन्मयोग मिलता है, और वह इस समय अपने नाना के घर है। उक्त व्यापारी ने उसी के साथ अपनी कन्या के विवाह का निश्चय कर लिया। इसके बाद विमल को एक स्थान पर गड़ा हुआ बहुत-सा धन मिला।

पंचम खंड—श्रीदत्त व्यापारी की कन्या बहुत सुन्दर और सुलक्षणा थी। उनका विवाह शुभ मुहूर्त में बड़े समारोह से हो गया। नव-विवाहित दंपती बड़े सुख से रहने लगे। कुछ समय बाद विमल पाटण में चला आया।

षष्ठ खंड—विद्वान् जैन-आचार्य धर्मघोष सूरि ने विमल को अंबाजी की स्तुति का उपदेश दिया। तदनुसार उसने अनशनव्रत कर अंबाजी को प्रसन्न किया, जिससे अंबा और चक्रेश्वरी ने उसे वरदान दिया। इसके बाद विमल ने अपनी बाणकला से पाटण के राजा भीमदेव को अत्यंत प्रसन्न किया, जिस पर उसने उसे अपना दंडनायक नियत किया। शनैः शनैः विमल बहुत उन्नति करता गया, और बहुत धनाढ्य हो गया। उसकी उन्नति देखकर उसके वैरी बहुत कुढ़ने लगे और उसे निकलवाने के लिये उसके विरुद्ध राजा के कान भरने लगे। राजा ने उस की बहकावट में आकर उनसे विमल के वध का उपाय पूछा। मंत्रियों ने कहा कि उस पर बाघ छोड़ दिया जाय। राजा ने शहर में बाघ छोड़

दिया। शहर के लोग उसे देखकर डरने लगे। विमल यह खबर सुनते ही बाज़ार में पहुंचा, और उसे पकड़कर मल्लयुद्ध द्वारा मार डाला।

सप्तम खंड—इस प्रकार राजा ने अपने पहले उपाय में असफल होने पर विमल के पूर्वजों पर झूठा क़र्जा बताकर उससे वसूल करना चाहा। उसने भी राजा का सच्चा अभिप्राय समझकर पाटण छोड़कर चंद्रावती जाने का निश्चय किया और वह बहुत संपत्ति, सवार, पैदल आदि को साथ लेकर चंद्रावती[1] पहुँचा; परंतु वहाँ का राजा विमल का आना सुनकर डर से ठट्ठा के राजा के पास भाग गया। तब चंद्रावती-प्रदेश के मांडलिकों (सरदारों) ने विमल को अपना राजा बनाया। एक दिन वह दरबार में बैठा हुआ था। उस समय एक विदेशी ने आकर कहा कि बंगाल में रोमनगर नाम का एक विशाल शहर है। वहाँ का सुलतान हिंदुओं पर बहुत प्रकार के अत्याचार करता है। आप हिंदुओं की रक्षा करें। इसे स्वीकार कर विमल ने बड़ी भारी सेना लेकर बंगाल की तरफ़ प्रस्थान कर दिया। वहाँ जाकर शीघ्र ही उसने उसे अपने अधीन कर लिया, और कहा कि तुम्हारी बेगमें हिंदु-वेश पहनकर मेरे सामने आवें। सुलतान को लाचार यह मानना पड़ा। विमल उन बेगमों तथा सुलतान को पोशाकें देकर लौट आया।

अष्टम खंड—एक दिन विचित्र वेशधारी एक पुरुष विमल के पास आया, और उसे इस आशय का पत्र दिया कि पश्चिम देश (ठट्ठा) का पंड्याराजा विमल को लिखता है कि तुम राजा के साथ विरोध कर पाटण से चंद्रावती चले आए हो, इसलिये हमारी सेवा स्वीकार करो, तो तुम्हारा कार्य सिद्ध होगा, अन्यथा हमारे क्रोधभाजन बनोगे। अच्छा यही होगा कि तुम हमारे चरणों में आ झुको। इस अपमानजनक पत्र को पढ़कर विमल ने सिंधु-देश पर चढ़ाई की और वहाँ के ब्राह्मण-राजा को क़ैद कर चंद्रावती ले आया।

इसके कुछ दिन बाद पाटण के राजा भीमदेव ने विमल के लिये छत्र, चामर और राजा की पदवी भेज दी। तदनंतर विमल ने चंद्रावती को नए ढंग से बसाया।

---

१ आबू के परमारों की राजधानी। यह विशाल और प्रसिद्ध नगर आबू के नीचे ही बसाया हुआ था, अब उजाड़ है।

नवम खंड—विमल गुरुमुख से जैन-धर्म का स्वरूप सुनकर अपने पापों का प्रायश्चित्त करने के लिये धर्मघोष सूरि के पास गया। उसने उसे आबू पर तीर्थ (मंदिर) स्थापित करने का उपदेश देते हुए आबू का पौराणिक वृत्तांत, अर्बुदा देवी की कथा और आबू की महत्ता सुनाई। आज्ञा शिरोधार्य कर विमल ने अंबाजी की सहायता से आबू पर जैनमंदिर बनाया, और १०८८ वि० में धर्मघोष सूरि से आदिनाथ की प्रतिष्ठा कराई। इस अंतिम कार्य से विमल का यश बहुत बढ़ा।

चूलिका (परिशिष्ट)—पुह—वीतलि, पोटा, श्रीधर, भूपति आदि पाँच सौ ग्यारह भाट विमल की कीर्ति को सुनकर उससे मिलने के लिये चंद्रावती आए। चंद्रावती की भव्यता और विमल का कैलास-सदृश सफ़ेद महल देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए; परंतु वहाँ विमल को न देखकर लौटने लगे। यह देखकर विमल की धर्मपत्नी श्रीदेवी ने कहा की मंत्री यद्यपि बाहर गए हैं, तथापि उनका घर यहीं है। इसलिये भोजन कर लो, तब तक वह भी आ जायँगे, उनसे मिलकर जाना। श्रीदेवी ने भाटों को भोजन कराया। तदनंतर भाटों ने स्त्रियों की श्रेष्ठता-सूचक बहुत-से पद्य कहे, और विमल का नाम अमर रखने का वचन दिया।

विमल-प्रबंध की ऐतिहासिक समालोचना

प्रथम खंड—कवि का यह कथन कि श्रीमाल-नगर कृतयुग से विद्यमान था, और चारों युगों में उसके चार भिन्न-भिन्न नाम थे, भ्रम-पूर्ण ही है; क्योंकि श्रीमाल-नगर अनुमानतः दो हज़ार वर्ष से अधिक पुराना नहीं है। ऐसे ही पुष्पमाल और रत्नमाल नाम भी कल्पित हैं; क्योंकि उनका कोई प्राचीन उल्लेख नहीं मिलता। भिल्लमाल (भीनमाल) और श्रीमाल दो ही नाम मिलते हैं। भीनमाल नाम का प्रयोग चीनी यात्री हुएन्त्संग की यात्रा की पुस्तक[1] में मिलता है, और भीनमाल-नगर से मिलनेवाले शिलालेखों में[2] भी 'श्रीमाल' नाम पाया जाता है।

---

१ बील; बुद्धिस्ट रैकर्डस ऑफ दी वैस्टर्न वर्ल्ड; जि० २, पृ० २७०।

२ संवत् १११७ माघ सुदि ६ रवौ श्रीश्रीमाले परमारवंशोद्भवो महाराजाधिराज श्रीकृष्णराज"।
(भीनमाल के वाराहजी के मंदिर के पूर्व की एक धर्मशाला के स्तंभ पर का लेख)

प्रबंधचिंतामणि में श्रीमाल और भीनमाल, दोनों नामों का प्रयोग मिलता है[१]।

द्वितीय खंड— सेठ उहड़-सहित राजकुमार उत्पलदेव का अपने पिता से अप्रसन्न होकर ठट्टा के राजा के पास जाना और उससे अश्व प्राप्त कर ओसिया नगर बसाना, यह भी कल्पित ही है। परमार राजा उत्पलदेव (उत्पलराज) का ओसिया में अधिकार होना पाया जाता है; परंतु उसी ने ओसिया-नगर बसाया हो, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। वह तो आबू के परमार राजा सिंधुराज का पुत्र था[२] और उसके राज्य के अंतर्गत श्रीमाल, ओसिया आदि अनेक नगर थे। शत्रुओं की चढ़ाई से श्रीमाल-नगर की अव्यवस्था होना, वहाँ के व्यापारियों का खंभपुर के राजा के पास जाना, वहाँ से १०,००० योद्धाओं को लाना और श्रीमाल के पूर्व में उनके निवास करने के कारण उनका प्राग्वाट (पोरवाड़) कहलाना, ये सारी बातें कल्पित हैं। श्रीमाल (भीनमाल) पर खलीफ़ा हसन के समय सिंध के हाकिम जुनेद की चढ़ाई होने का उल्लेख लाट के सोलंकी पुलकेशी (अवनिजनाश्रय) के वि० सं० ७९६ के ताम्रपत्र तथा 'फ़तूहुल्बुल्दान' नामक फ़ारसी तवारीख़ में मिलता है[३]; परंतु उस चढ़ाई का समय उत्पलदेव से बहुत पहले का है। प्राग्वाट तो मेवाड़ के एक विभाग का पुराना नाम था, जैसा कि शिलालेखादि से पाया जाता है। वहाँ के निवासी भिन्न-भिन्न जगहों में जाकर रहे, जहाँ वे अपने मूल निवास-स्थान के कारण प्राग्वाट कहलाते रहे।

वैश्यों की चौरासी जातियों की उत्पत्ति क्रमशः श्रीमालियों से होना भी मानने योग्य नहीं है; क्योंकि ओस या ओसिया नगर से ओसवाल, प्राग्वाट देश से प्राग्वाट, लाट देश से लाड कहलाए हैं।

तृतीय खंड—विमल के प्रपितामह निन्नग का पाटण के चावड़ा राजा वनराज का दंडनायक होना और तीन पीढ़ी तक पद पर बने रहना, उसके पुत्र लिहर का

---

१ संवत् ११२३ ज्येष्ट-वदि १२ शनौ। अद्येह श्रीश्रीमाले महाराजाधिराज श्रीकृष्णराजराज्ये···।
(भीनमाल के जगस्वामी के मंडप के पूर्व की तरफ़ से स्तंभ पर का लेख)
ऐसे ही भीनमाल के अन्य शिलालेखों में भी भीनमाल का नाम श्रीमाल मिलता है।
मेरुतुंगरचित प्रबंधचिंतामणि; पृ० ८४–८८।

२ वसंतगढ़ का वि० सं० १०९९ का शिलालेख;

३ ना० प्र० पत्रिका, भाग १, पृ० २१०–११।

दंडनायक होना, ये कथन भी निर्मूल हैं; क्योंकि निनग वनराज का समकालीन नहीं था। वनराज ने वि० सं० ८०२-२१ तक राज्य किया, और निनग का पौत्र वीर (वीरम) गुजरात के चौलुक्य (सोलंकी) राजा मूलराज (वि० सं० १०१७-५२)[1] के दरबार में विद्यमान था[1], ऐसा विमल के बड़े भाई नेढ़ के प्रपौत्र दशरथ के वि० सं० १२०२ के विमल के बनवाए हुए आबू के प्रसिद्ध आदिनाथ के मंदिर की दसवीं देवकुलिका के बाहर खुदे हुए शिलालेख से पाया जाता है। विमल के मंदिर की हस्तिशालावाले लेख में निनग को महामात्य लिखा है। अतएव संभव है कि वह भी प्रारंभ में मूलराज का मंत्री हो। यदि निनग वनराज का समकालीन होता, तो उसका प्रपौत्र विमल अनुमानतः उस (वनराज) से सवा दो सौ वर्ष पीछे होनेवाले भीमदेव सोलंकी का समकालीन नहीं हो सकता। अतएव निनग वनराज का समकालीन किसी प्रकार नहीं माना जा सकता।

चतुर्थ खंड—विमल की माता का उसे लेकर अपने पिता के घर जा रहना, वहाँ उसका पशु चराना और अंबादेवी का उसे वरदान देना भी कवि-कल्पना-मात्र होने से विश्वसनीय नहीं है।

विमल के दादा लिहर के समय से ही ये लोग सोलंकी राजों के बहुधा महामात्य (महामंत्री) रहते चले आते थे।

पंचम खंड—इसमें ऐसी कोई ऐतिहासिक बात नहीं है, जिसका विवेचन किया जाय।

षष्ठ खंड—इस संपूर्ण खंड में केवल विमल का भीमदेव के दंडनायक होने का कथन ही ठीक है। विमल का वरदान पाना, विमल के शत्रुओं द्वारा बहकावट में आकर राजा का उसको मरवाने के लिये बाघ छोड़ना और विमल का उसे मार देना आदि कथाएँ कवि ने केवल अपने काव्य को चित्ताकर्षक करने के लिये ही खड़ी की हैं। विमल तो भीमदेव का विश्वासपात्र सेनापति था, जैसा कि आगे बताया जायगा।

---

१ देखो आगे उक्त शिलालेख का अवतरण।

सप्तम खंड—भीमदेव का विमल के पूर्वजों पर झूठा क़र्ज़ा बताना, विमल का पाटण छोड़कर ससैन्य चंद्रावती जाना, वहाँ के राजा का भागना और वहाँ के सरदारों का विमल को राजा बनाना, ये कथन भी कल्पित हैं। विमल तो राजा भीम का विश्वासपात्र सेवक होने से ही आबू का दंडनायक नियत किया गया था।

ऐसे ही बंगाल के रोमनगर के सुलतान पर चढ़ाई करना और उसे जीतना भी निर्मूल ही है; क्योंकि उस समय तक बंगाल में मुसलमानों का प्रवेश भी नहीं हुआ था।

अष्टम खंड—ठट्ठे के ब्राह्मण राजा पर विमल का आक्रमण और उसे कैद कर लाना भी अविश्वसनीय है। सिंध पर से ब्राह्मण राजों का अधिकार तो कई शताब्दी पूर्व उठ गया था, और उस समय तो वहाँ पर मुसलमानों का अधिकार था। ग्रंथकर्ता ने विमल को चंद्रावती का राजा मान लिया, इसी से उसको बंगाल और ठट्ठा का विजय वर्णन करना भी अभीष्ट हुआ। इसी प्रकार भीमदेव का छत्र-चँवर और राजा की पदवी देकर राजा बनाना भी कल्पित है; क्योंकि वह तो भीमदेव का सेनापति था, और उसी की तरफ से आबू और चंद्रावती पर शासन करता था।

नवम खंड—इस खंड में धर्मघोष सूरि के उपदेश से आबू पर विमल का मंदिर बनवाना लिखा है; परन्तु धर्मघोष सूरि के उपदेश से बनवाया या नहीं, यह संदिग्ध है; क्योंकि उसी मंदिर में महामात्य कवर्डि ने वि० सं० १२२६ में अपने माता-पिता की मूर्तियाँ बनवाकर रखवाई, जिनकी प्रतिष्ठा धर्मघोष सूरि ने की थी, ऐसा उन पर के लेख से निश्चित है।

चूलिका—इसमें भाटों की जो कथा है, उसमें कोई आश्चर्य नहीं है; क्योंकि पहले राजों, सरदारों और श्रीमंतों के यहाँ भाटों का पर्याप्त आदर होता था। परन्तु भाटों के जो ५११ नाम दिए हैं, वे हमारी सम्मति में विश्वसनीय नहीं हैं।

इस सारे ग्रन्थ में विमल के सम्बन्ध का ऐतिहासिक तत्व इतना ही है कि वह प्राग्वाट-जाति का श्रीमाल गौत्र का महाजन था। वह निनग का प्रपौत्र, लिहर का पौत्र और वीर का पुत्र था। एक बार वह गुजरात के चौलुक्य-राजा भीमदेव का दंडनायक हुआ और वि० सं० १०८८ में उसने आबू पर विमलवसही

नाम का आदिनाथ (ऋषभदेव) का मंदिर बनवाया। बाक़ी का अधिकतर हाल कवि कल्पना या सुनी-सुनाई बातों से भरा हुआ है। जैसे राजपूताने की वि० सं० १७०० के पीछे की लिखी हुई ख्यातें प्राचीन इतिहास के लिये विशेष उपयोगी नहीं हैं, वैसे ही विमल के ४०० वर्ष पीछे बना हुआ यह प्रबन्ध भी विमल का विशेष वास्तविक वृत्तांत प्रकाशित नहीं करता।

विमल

हम ऊपर लिख आए हैं कि विमल का चरित्र लिखने वाला समकालीन या निकटवर्ती विद्वान् नहीं हुआ, और विमल के प्रसिद्ध मंदिर में भी उसके बनने के समय की कोई प्रशस्ति नहीं लगाई गई, जिससे विमल और उसके कुटुम्ब का वास्तविक चरित्र अंधकार में ही है।

आधुनिक खोज से मिले हुए शिलालेखों में से केवल तीन ही ऐसे हैं, जिनमें विमल का कुछ वृत्तांत मिलता है। पहला शिलालेख उपर्युक्त वि० सं० १२०२ का है, जिससे पाया जाता है—श्रीमाल-कुल और प्राग्वाट-वंश में धर्मात्मा निन्नक हुआ। उसका पुत्र लहर हुआ, जो नीतिज्ञ, देवता और साधुओं का भक्त, दान-शील, दयालु और जिनधर्म का ज्ञाता था। उसका पुत्र महत्तम वीर मूलनरेन्द्र (चौलुक्य राजा मूलराज) की सेवा में रहता था। वह बुद्धिमान्, उदार और दानी था। उसका जैन-धर्मनिष्ठ, ज्येष्ठ पुत्र नेढ़ मन्त्री बना और दूसरा विमल दंडाधिपति (दंडनायक) हुआ, जिसने यह मंदिर (विमलवसही) बनवाया, इसके आगे नेढ़ की वंशावली है[1]।

---

१ श्रीश्रीमालकुलोत्थनिर्मलतरप्राग्वाटवंशांबरे
भ्राजच्छीतकरोपमो गुणनिधिः श्रीनिन्नकाख्योगृही ;
आसीद्ध्वस्तसमस्तपापनिचयो विज्ञो वरिष्ठाशयः
धन्या(न्यो)धर्मनिबद्धसु(शु)द्धधिषि(ष)णः स्वाम्नायलोकाग्रणीः ॥ २ ॥
सकलनयविधिज्ञो भावतो देवसाधु प्रतिदिनमतिभक्तो दानशीलो दयालुः ;
विदितजिनमतोलं धर्मकर्मानुरक्तो 'लहर' इति सुपुत्रस्तस्य जातः पवित्रः ॥ ३ ॥
प्राव्राजीज्जितदर्पितारिनिचयो यो जैनमार्गे परमार्हत्यं सुविशुद्धमन्वयवशप्राप्तं समाराय(ध्य) च ;
श्रीमान् मूलनरेंद्र सन्निधिसुधानिस्फंदसंसेकितप्रज्ञापात्रमुदात्तदानचरितस्तत्सूनुरासीद (द्ध) रः ॥४॥

विमल के कोई पुत्र था या नहीं, इसका अब तक कोई पता नहीं लगा; क्योंकि विमल के पीछे की वंशावली नहीं मिलती। केवल एक लेख उक्त मंदिर में, अंबाजी की मूर्ति पर खुदा हुआ है, जिसका आशय है कि विमल के वंशज अभयसिंह के पुत्र जगसीह, लखमसीह और कुरसीह हुए, तथा जगसीह का पुत्र भाण हुआ। इन सबने मिलकर विमलवसही (वसति=देवमंदिर) में अंबाजी की मूर्ति स्थापित की[1]।

तीसरा शिलालेख विमलवसही के जीर्णोद्धार का, वि० सं० १३७८ का है, जिसमें लिखा है कि चंद्रावती का राजा धंधु (धंधुराज) वीरों का अग्रणी था। जब उसने राजा भीमदेव की सेवा स्वीकार न की, तब राजा (भीमदेव) उस पर बहुत क्रुद्ध हुआ, जिससे वह मनस्वी (धंधुक) धारा के राजा भोज के पास चला गया। फिर राजा भीमदेव ने प्राग्वाट-वंशी मंत्री विमल को आबू का दंडपति (सेनापति) बनाया। उसने वि० सं० १०८८ में आबू के शिखर पर आदिनाथ का मंदिर बनवाया[2]।

जिनप्रभ सूरि ने अपने तीर्थकल्प में अर्बुदकल्प के प्रकरण में लिखा है कि जब गुर्जरेश्वर (भीमदेव) राजानक धांधुक पर क्रुद्ध हुआ, तब उस (विमल) ने

निजकुलकमलदिवाकरकल्पः सकलार्थी सार्थ कल्पतरुः ;
श्रीमद्वीरमहत्तम इति यः ख्यातः क्षमावलये ॥ ५ ॥
श्रीमन्नेढो धीमनो धीरचेता आसीन्मंत्री जैनधर्मैकनिष्ठः ;
आद्यः पुत्रस्तस्यमानी महेच्छः त्यागी भोगी बंधुपद्माकरेंदुः ॥ ६ ॥
द्वितीयको द्वैतमतावलंबी दंडाधिपः श्रीविमलो बभूव ;
येनेदमुच्चैर्भवसिंधुसेतुकल्पं विनिर्मापितमत्र वेश्म ॥ ७ ॥

१ संवत् १३९४ वर्षे जेष्ठ-वदि ५ शनौ महं विमलान्वये ठ० अभयसीहभार्या अहिवदेपुत्रमहं जगसीह लखमसीह कुरसीह महं० जगसीहभार्या जेतलदे तत्पुत्रमहं भाण (मंडल, माण) केन कुटुम्ब-सहितेन विमलवसहिकायां देव्याः श्रीः अम्बिकायाः। मूर्तिकारिता। प्रतिष्ठिता।

२ तत्कुलकमलमरालः कालः प्रत्यर्थिमण्डलीकानाम् ;
चन्द्रावतीपुरीशः समजनि वीराग्रणीर्धन्धुः ॥ ५ ॥
श्रीभीमदेवस्य नृपस्य सेवाममन्यमानः किल धन्धुराजः ;

भक्ति से भीमदेव को प्रसन्न कर धांधुक को चित्रकूट[1] (चित्तौड़) से लाकर वि० सं० १०८८ में उस (धांधुक) की आज्ञा लेकर बड़े खर्च[2] से विमलवसहि-नामक सुंदर मंदिर बनवाया[3] विमल का इससे अधिक कोई वृत्तांत उपलब्ध नहीं हुआ।

विमल का मंदिर

विमल का कीर्तिस्तंभ तो उसका बनवाया हुआ मंदिर ही है। यह मंदिर और उसके पास का नेमिनाथ का मंदिर कारीगरी की उत्तमता के लिये संसार-भर में अनुपम हैं। इनमें भी विमल का मंदिर कारीगरी की दृष्टि से अधिक उत्तम है। मुख्य मंदिर के सामने विशाल सभामंडप और चारों तरफ़ छोटी-छोटी कई देव-कुलिकाएँ हैं। इस मंदिर में मुख्य मूर्ति ऋषभदेव की है, जिसके दोनों तरफ़ एक-एक खड़ी हुई मूर्ति भी है और भी वहाँ पीतल तथा पाषाण की कई मूर्तियाँ हैं,

---

नरेशरोषाच्च ततोमनस्वी धाराधिपं भोजनृपं प्रपेदे ॥ ६ ॥
प्राग्वाटवंशाभरणं बभूव रत्नप्रधानं विमलाभिधानः ॥७॥
ततश्चभीमेन नराधिपेन प्रतापवह्निर्विमलो महामतिः ;
कृतोर्बुदेदंडपतिः सतांप्रियोप्रियंवदो नंदतु जैनशासने ॥८॥
श्रीविक्रमादित्यनृपाद्व्यतितेऽष्टाशीतियाते शरदां सहस्रे ;
श्रीआदिदेवं शिखरेर्बुदस्य निवेसि(शि)तं श्रीविमलेन वंदे ॥११॥

(आबू का शिलालेख)

१ उस समय चित्तौड़ का किला मालवा के राजा भोजदेव के अधिकारमें था, जहाँ वह रहा भी करता था। वहाँ उसने एक विशाल शिवालय बनवाया था।

२ जैनों में यह प्रसिद्धि है कि इस मंदिर के बनाने में अठारह करोड़ रुपये व्यय हुए थे। इसमें सत्यता कितनी है, यह हम नहीं कह सकते; परंतु इतना तो निश्चित है कि आज कई अठारह करोड़ रुपए लगाने पर भी वैसा मंदिर नहीं बन सकता।

३ राजानक श्रीधन्धुके क्रुद्धं श्रीगुर्जरेश्वरम् ;
प्रसाद्य भक्त्या तं चित्रकूटादानीय तद्गिरा ॥३६॥
वैक्रम वसुवस्वाशा १०८८मितेऽब्देभूरिरैव्ययात् ;
सत्प्रासादं स विमलवसत्याह्वं व्यधापयत् ॥४०॥

(तीर्थकल्पअर्बुदकल्प)

जो पीछे की बनी हुई हैं। इस मंदिर की कारीगरी की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। स्तंभ, तोरण, गुंबज, छत, दरवाज़े आदि पर जहाँ देखा जाय, वहीं कारीगरी की सीमा पाई जाती है। कर्नल टॉड ने इस मंदिर के विषय में लिखा है कि भारत-भर में यह मंदिर सर्वोत्तम है और ताजमहल के सिवा कोई दूसरा स्थान इसकी समानता नहीं कर सकता। फर्गूसन ने लिखा है कि इस मंदिर में, जो संगमरमर का बना हुआ है, अत्यंत परिश्रम सहन करनेवाली हिंदुओं की टाँकी से फ़ीते-जैसी बारीकी के साथ ऐसी मनोहर आकृतियाँ बनाई गई हैं कि उनकी नकल कागज़ पर बनाने को कितने ही समय तथा परिश्रम से भी मैं समर्थ नहीं हो सकता। रासमाला के कर्ता फार्ब्स ने लिखा है कि इन मंदिरों की खुदाई के काम में स्वाभाविक निर्जीव पदार्थों के चित्र बनाए हैं, इतना ही नहीं किंतु सांसारिक जीवन के दृश्य, व्यापार तथा नौका-शास्त्र-संबंधी विषय एवं रणखेत के युद्धों के चित्र भी खुदे हुए हैं। छतों में जैन-धर्म की अनेक कथाओं के चित्र भी अंकित हैं।

मंदिर के बनने से अनुमान डेढ़ सौ वर्ष पीछे मंदिर के सम्मुख हस्तिशाला भी बनाई गई, जिसमें दरवाज़े के सामने विमलशाह की अश्वारूढ़ मूर्ति बनी हुई है। हस्तिशाला में संगमरमर की दस हथिनियाँ हैं, जिन पर पुरुष सवार थे; परंतु अब केवल दो-तीन रह गए हैं। नव हथिनियों के आसनों पर निम्नलिखित लेख खुदे हैं, जिनसे उनके सवारों का पता लगता है।

१. संवत् १२०४ फागुण-सुदि १० शनौ दिने महामात्य श्रीनीनुकस्य (महामात्य नीनुक की हथिनी)।

२. संवत् १२०४ फागुण-सुदि १० शनिदिने महामात्य श्रीलहरकस्य।

३. संवत् १२०४ फागुण-सुदि १० शनौ महामात्य श्रीवीरकस्य।

४. संवत् १२०४ फागुण-सुदि १० शनौ दिने श्रीनेढ़कस्य।

५. ....दिने महामात्य श्रीधवलकस्य।

६. संवत् १२०४ फागुण-सुदि १० शनौ दिने महामात्य श्रीआनंदकस्य।

७ संवत् १२०४ फागुण-सुदि १० शनौ दिने महामात्य श्रीपृथ्वीपालस्य

८. संवत् १२३७ आषाढ़-सुदि ८ बुधदिने पत्तंतार (?) ठ० श्रीजगदेवस्य

९. संवत् १२३७ आषाढ़-सुदि ८ बुध दिने महामात्य श्रीधनपालस्य।

१०. ... . । वि० सं० १९६८ में सिरोही-राज्य का इतिहास लिखते समय हमने इन सवारों के नाम और संवतों का परिचय दिया था; परंतु उस समय तक ऐसे साधन उपस्थित नहीं हुए थे, जिनसे यह बतलाया जाता है कि ये पुरुष कौन और कहाँ के मंत्री आदि थे। वि० सं० १२०२ के शिलालेख से पाया गया कि पहले तीन विमल के पूर्वपुरुष और चौथा नेढ़ उसका बड़ा भाई था, जिसका नाम विमलचरित्र में नहीं। बाकी की पाँच हथिनियों पर के पुरुष कौन हैं, यह निश्चय करने की आवश्यकता है। उपर्युक्त १२०२ वाले शिलालेख में नेढ़ का पुत्र लालिग, उसका महिंदुक और उसके दो पुत्र हेम और दशरथ का होना बताया है; परन्तु हस्तिशाला में उनमें से किसी के नाम की हथिनी नहीं है। हरिभद्र सूरि-रचित[१] श्रीमल्लिचरित-नामक प्राकृत काव्य के तीसरे प्रस्ताव से पाया जाता है कि महामन्त्री नेढ़ का पुत्र धवलक राजा कर्ण का मन्त्री हुआ। उसका पुत्र आनन्द जयसिंह (सिद्धराज) का मन्त्री रहा। उसने आबू पर विमल के मन्दिर के आगे का मंडप (हस्तिशाला) बनवाया[२] उक्त मन्दिर के वि० सं० १२४५ के एक शिलालेख से स्पष्ट है कि पृथ्वी-

---

१ यह पुस्तक कुमारपाल के समय में बनी थी, जिसकी एक प्रति आचार्यजी महाराज श्री विजयेंद्र सूरि के द्वारा हमें उपलब्ध हुई। अतएव हम उनके उपकृत हैं।

२ अहनेढमहामइणो तणश्रो सिरिकण्ण एव रज्जम्मि ;
जाच्यो नियजसधवलियभूवणो धवलोत्तिमन्तिवरो ।
जयसिंह राव रज्जे गुरुगुणवसउल्लसंतमाहप्पो ;
जाश्रो भुवणाणंदो आणंदो नाम सचिविंदो ।
अहसिद्धिराम सिरिकुमारवालरावावणिंद तिलयाणम् ;
विपुण्णभरभारहुरियमिवद्द ठ्ठणं पुहवीपीढम् ।
सिरीकुमरवालनरनायगाण रज्जेसु ;
सिरिपुहइवालमन्ती अवितहनामो इमो विहिश्रो ।
अब्बुय गिरिम्मिसिरिनेढ विमलजिणमन्दिरे करावेउम् ;
मंडवमईयविम्हयजयणं पुरश्रो पुणो तस्स ।
विलसिरकरेणुमाणं सवंस पुरिसोत्तमाणमुत्तीश्रो ;
विहियं च संघभत्ति बहुत्थपवत्थदाणेण ।

पाल का पुत्र ठ० (ठक्कुर)[1] जगदेव था[2]। उक्त संवत् के एक अन्य शिलालेख से यह भी निश्चित है कि महामात्य धनपाल भी पृथ्वीपाल का दूसरा पुत्र था[3]। इस प्रकार निश्चित है कि इन नव हथिनी-सवारों में से पहले तीन विमल के पूर्वज, चौथा उसका बड़ा भाई नेढ़ और बाक़ी के पाँच उस (नेढ़) के वंशधर हैं। यह भी निश्चित है कि हस्तिशाला वि० सं० १२०४ में बनी, और सात हथिनियाँ उक्त संवत में स्थापित की गईं, तथा बाकी की दो वि० सं० १२३७ में।

हस्तिशाला में अपने वंश के इन पुरुषों की हथिनी पर मूर्तियाँ स्थापित करने का क्या अभिप्राय था, यह निश्चित रूप से लिखा हुआ नहीं मिला, तो भी विमल के मन्दिर के पासवाले तेजपाल के बनवाए हुए दूसरे भव्य मंदिर के शिलालेख से इस विषय का कुछ पता लगता है। उक्त मंदिर की हस्तिशाला के पीछे की दीवार के अन्दर संगमरमर के दस बड़े बड़े ताक (खत्तक) बने हैं, जिनमें वस्तुपाल के दस कुटुम्बियों—चंडप, चंडप्रसाद, सोमसिंह, अश्वराज, लूणिग, मल्लदेव, वस्तुपाल, तेजपाल, जैत्रसिंह, और लावण्यसिंह की स्त्रियों-सहित मूर्तियाँ बनी हैं, जिनके नीचे उनके नाम भी खुदे हैं। हस्तिशाला में यही दस पुरुष हथिनियों पर स्थापित किए गए थे; परन्तु ये मूर्तियाँ पीछे से तोड़ डाली गईं। उक्त मंदिर की वि० सं० १२८७ की प्रशस्ति में लिखा है कि हथिनियों पर बैठी हुई जिन-दर्शन के लिये आई हुई ये दस मूर्तियाँ दिक्पालों के समान चिरकाल तक

---

१ जिन ब्राह्मण, महाजन और कायस्थों को अच्छी सेवा के लिये राज्य की ओर से जागीरें मिलती थीं, वे भी ठाकुर कहलाते थे।

२ संवत् १२४५ वै०वदि ५ भृगौ प्राग्वाट ...पृथ्वीपालात्मज ठ० जगदेव पत्नी ठ० श्रीमालदे आत्मश्रेयोर्थं श्रीसुपार्श्वनाथ प्रतिमा का० श्रीसिंह [सूरिभिः प्रतिष्ठिता ।]

(विमल के मंदिर की देवकुलिका की एक मूर्ति पर का लेख)

सिरोही का इतिहास लिखते समय हमने जगदेव को परमार वंशी अनुमान किया था, परंतु पिछले अनुसंधानों से निश्चय हुआ कि वह माहामात्य नेढ का वंशधर था।

३ श्रीअभिनन्दनस्य। [सं० १२४५ वर्षे] वैशाख वदि ५ गुरौ पृथ्वीपालात्मजमाहामात्यश्रीधनपालेन मातृ श्रीपद्मावतीश्रेयोर्थं ...... कारिता [प्र०] श्रीकोसहुद (कासहृद) गच्छे श्रीसिंहसूरिभिः।

(विमल के मंदिर की देवकुलीका की मूर्ति पर का लेख)

सुशोभित रहेंगी [1]। इससे स्पष्ट है कि धनवान् लोग अपने बनाए हुए मन्दिरों में अपने को तथा अपने पूर्वजों आदि को उक्त मन्दिर के दर्शनार्थ आए हुए सूचित करने के लिये ऐसी मूर्तियाँ स्थापित करते थे। राजपूताने में जैन-मन्दिरों के अतिरिक्त शिव और विष्णु के मंदिरों के सामने भी हाथियों पर चढ़ी हुई मूर्तियाँ देखने में आई, जिनका भाव भी यही होना चाहिए।

पीछे से मुसलमानों ने विमल के मन्दिर का कुछ अंश तोड़ डाला था, जिससे मंडोर के रहनेवाले जेल्हा के वंशधर महणसिंह के पुत्र लल्ल और बीजड़ ने वि० सं० १७३८ में उक्त मंदिर का जीर्णोद्धार कराया, जैसा कि तत्संबंधी प्रशस्ति से पाया जाता है [2]।

अनुमान होता है कि इस मन्दिर के बनने के बाद शीघ्र ही विमल का देहांत हो गया होगा; क्योंकि न तो वह हस्तिशाला बना सका, और न देवकुलिकाओं में से एक में भी किसी मूर्ति की प्रतिष्ठा करा सका। देवकुलिकाओं में जा मूर्तियाँ विद्यमान हैं, वे सब पीछे से अन्य लोगों की प्रतिष्ठित की हुई हैं; जैसा की उन पर के लेखों से पाया जाता है। विमल के वंशजों का भी कोई पता नहीं लगता, केवल अभयसीह और उसके तीन पुत्रों का पता अंबादेवी की मूर्ति के उपर्युक्त लेख से लगता है। विमल के बड़े भाई नेढ़ के वंशज क्रमशः गुजरात के चौलुक्य (सोलंकी) राजों के मंत्री बने रहे। उन्होंने हस्तिशाला के अतिरिक्त देवकुलिकाओं में भी कई मूर्तियाँ स्थापित कीं। (सुधा मा.प. लखनऊ वर्ष १, खंड १, ई.स. १९२७)

---

१ श्रीमच्चण्ड (प) सम्भवः (सम) भवच्चण्डप्रसादस्ततः-
सोमस्तत्प्रभवोऽ श्वराज इति तत्पुत्राः पवित्राशयाः;
श्रीमल्लूणिगमल्लदेवस चिवश्रीवस्तुपालाह्वया-
स्तेजपालसमन्विता जिनमताराामोन्नमन्नीरदाः ॥ ६२ ॥
श्रीमंत्रीश्वरवस्तुपालतनयः श्रीजैत्रसिंहाह्वया-
स्तेजपालसुतश्च विश्रुतमतिर्ल्लावण्यसिंहाभिधः;
एतेषां दशमूर्तयः करिवधूस्कंधाधिरूढाश्चिरं-
राजते जिनदर्शनार्थमयतां दिग्नायकानामिव ॥ ६३ ॥

२ स्वपितृश्रेयसे जीर्णोद्धारं ऋषभमन्दिरे-
कारयामासतुर्ल्लल्ल-बीजडौ साधुसत्तमो (मौ) ॥३८॥ (विमल के मंदिर के जीर्णोद्धार की प्रशस्ति)

(स०टि०) 1 सोलंकी राजा मूलराज का समय वि० स० ६६८-१०५२ तक निश्चित है।

४ वीसलदेव रासो का निर्माणकाल

नरपति नाल्ह रचित 'वीसलदेव रासो' के निर्माणकाल के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विद्वानों के मत भिन्न-भिन्न हैं और हस्तलिखित प्रतियों में कहीं उसका वि० सं० १०७३, कहीं १०७७, कहीं १२७२, कहीं १३७७ और कहीं १७७३ में निर्माण होना लिखा मिलता है। श्रीयुत अगरचंद नाहटा ने 'राजस्थानी' (त्रैमासिक पत्रिका, भाग ३, अंक ३) में अपने 'वीसलदे रासो और उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ' नामक लेख में भिन्न-भिन्न पंद्रह प्रतियों के आधार पर उसकी रचना के ऊपर दिए हुए भिन्न-भिन्न सवत् दिए हैं। और उसकी भाषा सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी की राजस्थानी भाषा बतलाई है। तथा सोलहवीं शताब्दी में नरपति नाम के एक जैन कवि के होने का भी संकेत किया है। तिस पर भी उक्त पुस्तक का रचना-काल अनिश्चित ही रहता है, जिसका निश्चय करना आवश्यक है।

छपे हुए 'बीसलदेव रासो' में, जो काशी की नागरीप्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया है, उसका रचना काल—

बारह सै बहतराँ[1] हाँ मँझारि।
जेठ वदी नवमी बुध वारि ॥

---

१ उक्त पुस्तक के सम्पादक ने "बारह सै बहत्तराँ" का अर्थ १२१२ किया है (बीसलदेव रासो की भूमिका; पृ० ८) और कुछ विद्वान् ऐसा ही मानते भी हैं। परन्तु यह ठीक नहीं है; क्योंकि राजस्थानी भाषा में "बहत्तराँ" का अर्थ १२ नहीं, ७२ होता है।

२ बीसलदेव रासो (नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित), पृ० ४, छन्द ६।

अर्थात् वि० सं० १२७२ ज्येष्ठ वदि ६ बुधवार दिया है। राजपूताने में पहले विक्रम संवत कहीं चैत्रादि (चैत्रसुदि १ से प्रारंभ होनेवाला) और कहीं कार्तिकादि (कार्तिक सुदि १ से प्रारंभ होनेवाला) चलता था, जैसा कि वहाँ से मिलने वाले शिलालेखों, दानपत्रों, और पुस्तकों से पाया जाता है[1]। चैत्रादि वि० सं० १२७२ ज्येष्ठ वदि ६ को शुक्रवार था और कार्तिकादि वि० संवत् के अनुसार अर्थात् चैत्रादि १२७३ में उक्त तिथि को बुधवार आता है। यह प्रति जयपुर से प्राप्त वि० सं० १६६६ की लिखी हुई प्रति के आधार पर संपादित हुई है। नाहटाजी की वि० सं० १७२४ की लिखी हुई प्रति नं० १ में भी यही संवत् दिया है[2], इसलिये उस पर अलग विचार करने की आवश्यकता नहीं।

उनकी प्रति संख्या २ में

संवत् सहस सत्तिहतरइ जाणि……
सुकल पख पंचम श्रावण मास
रोहिणी नक्षत्र[3]…………………

अर्थात वि० सं० १०७७ श्रावण सुदि ५ रोहिणी नक्षत्र दिया है। इसमें वार नहीं है। चैत्रादि संवत् के अनुसार वि० सं० १०७७ श्रावणसुदि ५ को बुधवार और हस्त नक्षत्र था और कार्तिकादि संवत् के अनुसार उक्त तिथि को सोमवार और हस्त नक्षत्र आता है। यह संवत् भी नक्षत्र की विभिन्नता के कारण ग्राह्य नहीं हो सकता। प्रति नंबर ८, ११ और १२ में केवल "संवत सहस तिहुतरइ" अर्थात् वि० सं० १०७३ ही दिया है.[4] मास, पक्ष तिथि, वार आदि कुछ नहीं है; इसलिये उनके संबंध में जाँच नहीं हो सकती। प्रति नंबर १० में "संवत सतर तिहोतरे" अर्थात वि० सं १७७३ दिया है,[5] जिस पर विचार करना निरर्थक है;

---

१ राजपूताना के राज्यों में कहीं आषाढ़सुदि १, कहीं सावणवदि १ और कहीं भाद्रपद सुदि २ से वर्षारंभ मानते हैं, परन्तु ये राजकीय हिसाब के लिये हैं। जनसाधारण में पंचांग के अनुसार, ब्राह्मणादि में चैत्रादि और व्यापारी वर्ग में बहुधा कार्तिकादि संवत् का ही प्रचार अधिकता से पाया जाता है।

२ राजस्थानी (त्रैमासिक पत्रिका); भाग ३, पृ० २०।

३ वही; भाग ३, अंक ३, पृ० २०।

४ वही; भाग ३, अंक ३, पृष्ठ २०।

५ वही; भाग ३, पृष्ठ २०।

क्योंकि जयपुर की वि० सं० १६७६ फाल्गुन वदि १ की लिखी हुई प्रति मिल गई है।

प्रति नंबर १३ में—

संवत तेर सतोतरइ जांणी ....
सुक्ल पंचमी नइ श्रावणमास
हस्त नक्षत्र रविवार सुं
सुभ दिन जोसी रे जोड़ियल रास[1]

अर्थात् वि० सं० १३७७ श्रावण सुदी ५ हस्त नक्षत्र रविवार दिया है। चैत्रादि संवत्त के अनुसार वि० सं० १३७७ श्रावण सुदि ५ को हस्त नक्षत्र और शुक्रवार था तथा कार्तिकादि संवत् के अनुसार उक्त तिथि को चित्रा नक्षत्र और गुरुवार आता है। इस तरह यह संवत् भी अशुद्ध ठहरता है।

इन सब संवतों में कार्तिकादि संवत् मानकर वार आदि का मिलान करने से छपी हुई पुस्तक और नाहटाजी की प्रति नं० १ के संवत्, मास, पक्ष, तिथि और वार आदि ठीक मिल जाते हैं, शेष के नहीं। ऐसी दशा में अब तक मिली हुई उक्त पुस्तक की हस्त-लिखित प्रतियों के आधार पर कार्तिकादि वि० सं० १२७२ (चैत्रादि १२७३) ही उसका रचनाकाल मानना पड़ता है।

अब हम ग्रंथ की भीतरी बातों पर विचार करेंगे। अजमेर और साँभर के चौहानों में विग्रहराज नाम के, जिनको वीसलदेव भी कहते थे,[2] चार राजा हुए।

---

१ राजस्थानी (त्रै० प०); ३, पृष्ठ २०-२१।

२ आर्यावर्त्तं यथार्थं पुनरपि कृतवान्म्लेच्छविच्छेदनाभी-
देवः शाकंभरींद्रो जगति विजयते वीसलक्षोणिपालः ॥ १ ॥
ब्रूते संप्रति चाहमानतिलकः शाकंभरीभूपतिः
श्रीमद्विग्रहराज एष विजयी संतानजानात्मनः ॥ २ ॥

दिल्ली के फीरोजशाह की लाट पर चौहान राजा वीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) के वि० सं० १२२० वैशाख सुदि १५ गुरुवार के लेख से।

प्रत्येक राजा का औसत राज्य-समय पंद्रह वर्ष[1] मानने से विग्रहराज द्वितीय से दस पीढ़ी पूर्व अर्थात वि० सं० ८८० के लगभग हुआ होगा। वीसलदेव द्वितीय (विग्रहराज) वि० सं० १०३० में विद्यमान था, जिसने गुजरात के सोलंकी राजा मूलराज पर चढ़ाई की थी। विग्रहराज तृतीय का, जो विग्रहराज द्वितीय से आठवीं पीढ़ी में हुआ, समय वि० सं० ११५० के लगभग होना चाहिए। वह परमार राजा भोज के भाई उदयादित्य का समकालीन था, जो वि० सं० १११६[2] के आसपास गद्दी पर बैठा था और जिसके समय के वि० सं० ११३७[3] और ११४३[4] के शिला-लेख मिल गए हैं। विग्रहराज तृतीय की सहायता पाकर उदयादित्य ने गुर्जर देश के सोलंकी राजा कर्ण को जीता था। कर्ण के दानपत्र वि० सं० ११३१[5] और ११४८[6] के मिले हैं। विग्रहराज चतुर्थ ने वि० सं० १२१० में 'हरकेलि नाटक' समाप्त किया था और वि० सं० १२२० तक के उसके कई शिलालेख मिल गए हैं।

'वीसलदेव रासो' में वीसलदेव के पूर्वजों की कोई वंशावली नहीं दी है, जिससे यह निर्णय नहीं होता कि वह उक्त चारों वीसलदेवों में से किससे संबंध रखता है। 'वीसलदेव रासो, में कवि ने मुख्यतया दो घटनाओं का वर्णन किया है—एक तो वीसलदेव के राजा भोज की पुत्री से विवाह होने की और दूसरी उस (वीसलदेव) के उड़ीसा जाने की। जहाँ तक पहली घटना का संबंध है, बीज रूप में उसमें सत्य का अंश अवश्य है, परंतु शेष कथा कल्पित ही प्रतीत होती है, जैसा हम आगे चलकर बतलाएँगे।

---

१ विग्रहराज द्वितीय वि० सं० १०३० और विग्रहराज चतुर्थ वि०सं० १२१० में विद्यमान थे। इन दोनों के बीच १८० वर्षों में बारह पीढ़ियाँ हुई। हिसाब करने से प्रत्येक राजा का औसत राज्य-काल पंद्रह वर्ष आता है, जो हमने ऊपर माना है।

२ बंगाल एशियाटिक सोसाइटी का जर्नल; जि० ६, पृ० ५४६।

३ इंडियन एंटिक्वेरी; जि० २०, पृ० ८३।

४ यह लेख झालरापाटन म्यूजियम में सुरक्षित है। बंगाल एशियाटिक सोसाइटी का जर्नल, जि० १०, पृ० २४१।

५ जर्नल आव दि बांबे ब्रांच आव् रायल एशियाटिक सोसाइटी; जि० २६, पृ० २५७।

६ एपिग्राफिया इंडिका; जिल्द १, पृ० ३१७-१८।

'वीसलदेव रासो' में लिखा है कि वीसलदेव की रानी राजमती परमार राजा भोज की पुत्री थी। परमार राजा भोज उदयादित्य का बड़ा भाई था और उस (भोज) ने चौहान राजा वाक्पतिराज (द्वितीय) के छोटे भाई वीर्यराम को युद्ध में मारा था, जिससे संभव है मालवा के परमारों और सांभर के चौहानों में अनवन हो गई हो। राजपूतों में ऐसी अनवन पुत्री विवाहने से मिटती थी, जिसके अनेक उदाहरण उनके इतिहास में मिलते हैं। पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर के बीजोल्यां के शिलालेख में दी हुई चौहानों की वंशावली में विग्रहराज (तृतीय) की रानी का नाम राजदेवी दिया है[1]। 'वीसलदेव रासो' की राजमती और यह राजदेवी नाम एक ही रानी के सूचक होने चाहिएँ। परमार राजा भोज के अंतिम समय उसके राज्य पर बड़ी आपत्ति आई और गुजरात के सोलंकी राजा भीमदेव (प्रथम) तथा चेदि के राजा कर्ण ने उस पर चढ़ाई की। इस चढ़ाई के समय ही उसकी मृत्यु हो गई। उसके पीछे उसका पुत्र जयसिंह परमार राज्य का स्वामी हुआ, जिसके समय का वि० सं० १११२[2] का एक दानपत्र और १११६[3] का एक शिलालेख पाणाहेड़ा (बाँसवाड़ा राज्य) से मिला है। उसका उत्तराधिकारी उसका चाचा उदयादित्य हुआ, जिसने अपने राज्य की स्थिति दृढ़ की। उसने चौहानों के साथ का अपना वैर मिटाने के लिये अपनी भतीजी (भोज की पुत्री) राजदेवी अथवा राजमती का विवाह वीसलदेव तृतीय से किया हो, जिससे पीछे से गुजरातवालों के साथ की लड़ाई में उसे उस (वीसलदेव तृतीय) की सहायता प्राप्त हुई हो। इससे तो यही अनुमान दृढ़ होता है कि 'वीसलदेव रासो' का नायक चौहान राजा वीसलदेव तृतीय है, न कि चतुर्थ, जैसा प्रकाशित पुस्तक के संपादक ने मान लिया है एवं कुछ अन्य विद्वान् भी मानते हैं।

---

१ चामुंडोऽवनिपेति राणकवरः श्रीसिंघटो दूसल-

स्तद्भ्राताथ ततोपि वीसलनृपः श्रीराजदेविप्रियः ·· ॥ १४ ॥

बंगाल एशियाटिक सोसाइटी का जर्नल; जि० ५५, भाग १ (सन् १८८६), पृ० ४१।

२ एपिग्राफिया इंडिका; जिल्द ३, पृ० ४८।

३ राजपूताना म्यूजियम अजमेर की रिपोर्ट; ई० स० १९१६-१७, पृ० २।

'वीसलदेव रासो' का रचनाकाल वि० सं० १२१२ मानकर उसके नायक को वीसलदेव चतुर्थ और उसके रचयिता नरपति नाल्ह को उसका समकालीन कवि मानना भ्रमपूर्ण कल्पना ही प्रतीत होती है, जैसा कि ऊपर लिखा गया है। 'वीसलदेव रासो' का रचना-काल कार्तिकादि वि० सं० १२७२ (चैत्रादि १२७३) होना चाहिए, न कि १२१२ और उसका नायक वीसलदेव तृतीय, न कि वीसलदेव चतुर्थ। नरपति को भोज की पुत्री से वीसलदेव का विवाह होने की बात ज्ञात थी। उसी के आधार पर उसने उक्त घटना से लगभग १५० से भी अधिक वर्षों बाद अपने काव्य की रचना की। यह विवाह कब हुआ, इसका ठीक ठीक पता उसे न था, पर वधू के भोज की पुत्री होने से उसने उसके समय में ही विवाह होना लिख दिया। अपने काव्य को लोकप्रिय और रोचक बनाने तथा नायक की महत्त्व-वृद्धि के निमित्त काव्य में वर्णित अन्य घटनाओं में उसने कल्पना का आश्रय लिया। विवाह के समय भोज का आलीसर, कुंडाल, मंडोवर, सौराष्ट्र, गुजरात, साँभर, टोड़ा, टोंक, चित्तौड़ आदि देश वीसलदेश को देना कोरी कवि-कल्पना ही है। जैसलमेर, अजमेर, आनासागर आदि उक्त काव्य की रचना के समय अर्थात् चैत्रादि वि० सं० १२७३ में विद्यमान थे। कवि ने उनके नाम भी उसमें समाविष्ट कर दिए। अनेक नामों की भरमार के ऐसे उदाहरण प्राचीन काव्यों में स्थल-स्थल पर मिलते हैं। उड़ीसा जाने की कथा भी कल्पित ही ठहरती है, क्योंकि चारों वीसलदेवों में से किसी के भी उड़ीसा विजय करने का प्रमाण नहीं मिलता। वीसलदेव का अपने भतीजे को अपना उत्तराधिकारी नियत करने की घटना भी कल्पना-मात्र ही है।

कवि ने अपने काव्य में सब जगह वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग किया है, इससे भी कुछ विद्वानों का अनुमान है कि वह वीसलदेव का समकालीन था; परंतु यह कोई जरूरी बात नहीं कि वर्तमान-कालिक क्रिया का प्रयोग करनेवाला कवि समकालीन ही हो। काव्य में वर्णित घटनाओं को सत्य रूप देने के लिये बहुधा कवियों ने इस शैली का प्रयोग किया है। नरपति वीसलदेव का समकालीन नहीं, बल्कि, उससे १५० से भी अधिक वर्ष पीछे हुआ था।

श्रीयुत नाहटाजी ने 'वीसलदेव रासो' की भाषा के विषय में संदेह प्रकट करते हुए उसे सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी की राजस्थानी भाषा माना है। यद्यपि

पीछे से मूल रासो में बहुत-कुछ हेर-फेर हुआ है, फिर उसमें प्राचीनता के चिह्न वर्तमान हैं, जिससे यह स्पष्ट है कि वह वि० सं० १२००-१३०० के आसपास ही रचा गया होगा। नीचे हम उसी समय की भाषा के कुछ उदाहरण देते हैं, जिसके साथ 'बीसलदेव रासो' की भाषा का मिलान करने पर इस विषय में संदेह को स्थान न रहेगा।

(१) पुत्तें जाएँ कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण।
जा बप्पी की भुंहडी चंपिज्जइ अवरेण॥
(२) जैवडु अंतरु रावण रामहँ तेवडु अंतरु पट्टण गामहँ।
(३) जा मति पच्छइ संपज्जइ सा मति पहिली होइ॥
मुंज भणइ मुणालवइ विघन न वेढइ कोइ॥
(४) जइ यह रावणु जाईयउ दहमुह इक्कु सरीरु।
जणणि वियंभी चिंतवइ कवणु पियावउ खीरु॥
(५) राणा सव्वे वाणिया जैसलु वड्डउ सेठि।
काहूँ वणिजडु मांडीयउ अम्मीणा गढ हेठि॥
(६) वाढी तो वढवाण वीसारतां न वीसरइ।
सोना समा पराण भोगावइ पइं भोगवइ॥
(७) नवजल भरीया मगगड़ा गयणि धडक्कई मेहु॥
इत्थंतरि जरि आविसिइ तऊ जाणीसिइ नेहु॥

इनमें से सं० १ और २ के उदाहरण अनेक विषयों के प्रकांड विद्वान् प्रसिद्ध हेमचंद्राचार्य-रचित अपभ्रंश भाषा के व्याकरण से लिए गए हैं, जो वि० सं० १२०० के आसपास बना था और सं० ३, ४, ५, ६ और ७ के उदाहरण 'प्रबंधचिंतामणि' से हैं, जो जैन आचार्य मेरु-तुंग ने वि० सं० १३६१ में वढवान में बनाई थी। इन पुस्तकों में ये उदाहरण के रूप में दिए गए हैं, अतएव निश्चित है कि ये इनके निर्माणकाल से पूर्व की रचनाओं से लिए गए हैं।

भाषा का प्रयोग कवि की रुचि पर निर्भर है। जैनों के धर्मग्रंथ (सूत्र) प्राकृत (अर्द्धमागधी) भाषा में होने के कारण जैन लेखक अपने भाषा-काव्यों में प्राकृत शब्दों की भरमार करते रहे हैं, जिससे उनकी भाषा दुरूह हो गई है। चारण, भाट आदि प्राकृत से अधिक परिचित न होने के कारण अपनी रचनाएँ

प्रचलित भाषा में करते थे, जिससे इन दोनों प्रकार के लेखकों की पुस्तकों की भाषा में अंतर होना स्वाभाविक ही है। भाषा की कसौटी सदियाँ नहीं हैं। एक ही समय में कोई सरल भाषा में अपनी रचना करता है, तो कोई कठिन भाषा का प्रयोग करता है।

'बीसलदेवरासो' के कर्त्ता ने उसकी रचना का समय आरंभ में दिया है, इससे श्रीयुत नाहटाजी ने यह अनुमान किया है कि उसने मुसलमानी प्रथा का अनुसरण किया है; क्योंकि उनके मतानुसार यह प्रथा मुसलमानों के समय से ही प्रारंभ हुई और उसके पहले कवि अथवा लेखक ग्रंथ-रचना का समय अंत में दिया करते थे; परंतु यह केवल अनुमान ही है। रचना का समय ग्रंथ के किसी अंश में देने की पहले कोई प्रथा हो, ऐसा पाया नहीं जाता। यह तो रचयिता की रुचि का प्रश्न था। जहाँ पहले के अनेक ग्रंथों में रचना का समय अंत में मिलता है, वहाँ कई में प्रारम्भ में भी पाया जाता है और कितने ही ग्रंथों में तो रचना का समय ही नहीं दिया है। जैन कवि मानरचित 'राजविलास' नामक ग्रंथ में भी उसकी रचना का समय आरंभ में ही स्तुतियों के बाद दिया है, पर इससे यह कहना अनुचित है कि उसने मुसलमानी प्रथा का अनुसरण किया था। ऐसे उदाहरण और भी मिल सकते हैं।

इन सब बातों पर विचार करने से हमारा मत तो यही है कि 'बीसलदेव रासो' मूल रूप में कार्तिकादि वि० सं० १२७२ (चैत्रादि १२७३) की ही रचना होनी चाहिये और उसका आधार वीसलदेव तृतीय के साथ भोज की पुत्री राजदेवी अथवा राजमती के विवाह की घटना है। नरपति न तो इतिहासज्ञ था और न कोई बड़ा कवि ही। उसने अपनी रचना लोक-रंजनार्थ बनाई थी। इसलिये उसमें ऐतिहासिकता और काव्य के गुणों की तलाश करना तथा उनके आधार पर उसके बारे में कोई मत स्थिर करना असंगत है।

ना० प्र० प०(त्रै० न०)काशी, भाग १, वि० सं० १९९७, ई० सं० १९४०-४१।

सम्पादकीय टिप्पण

विग्रहराज प्रथम का समय वि० सं० ८८० के लगभग मानना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता; क्योंकि इस संवत् के लगभग गोविंदराज प्रथम (गूवक), जो प्रतिहार राजा नागभट्ट द्वितीय का समकालीन था, शासन कर रहा था और वह विग्रहराज प्रथम से चार पीढ़ी पीछे हुआ था।

५ कवि जटमल रचित गोरा बादल की बात

सुलतान अलाउद्दीन खिलजी की चित्तौड़ पर चढ़ाई के समय काम आनेवाले वीर गोरा बादल की कथा राजपूताने आदि में घर-घर प्रसिद्ध है। प्रत्येक जगह उक्त वीरों की वीर-गाथा बड़े ही प्रेम से सुनी जाती है। गत सितम्बर मास में मेरा दौरा बीकानेर राज्य के इतिहास-प्रसिद्ध भटनेर (हनुमानगढ़) नामक दुर्ग के अवलोकनार्थ हुआ। उस समय बीकानेर में पुरानी राजस्थानी एवं हिंदी भाषा के परम प्रेमी ठाकुर रामसिंहजी एम० ए० (डाइरेक्टर ऑफ पब्लिक इंसट्रक्शन; बीकानेर स्टेट) और स्वामी नरोत्तमदास एम० ए० (प्रोफेसर ऑफ हिंदी तथा संस्कृत, डूंगर कॉलेज, बीकानेर) से मिलना हुआ। मुझे यह बात जानकर बड़ा हर्ष हुआ कि ये दोनों विद्वान् आजकल ढोला-मारू की प्राचीन कथा का संपादन कर रहे हैं और 'गोरा बादल की बात' नाम पद्यात्मक पुस्तक का भी संपादन करने-वाले हैं। उन्होंने मुझको उपर्युक्त दोनों पुस्तकें दिखलाईं, जिनको मैंने इस प्रवास में पढ़ा। पाठकों के अवलोकनार्थ आज मैं 'गोरा बादल की बात' नामक पुस्तक का आशय यहाँ पर प्रकट कर ऐतिहासिक दृष्टि से उस पर कुछ विवेचना करता हूं।

प्रारंभ में यह बतला देना आवश्यक है कि उक्त काव्य का कथानक मलिक मुहम्मद जायसी के पद्मावत से मिलता जुलता है, तो भी कई स्थलों में उससे भिन्नता भी है। संभव है कि जटमल ने, जो इस ग्रंथ का रचयिता है, जायसी के ग्रंथ 'पद्मा-वत' को देखा हो अथवा सुना हो; क्योंकि वह उसकी रचना से ८३ वर्ष पूर्व बन चुका था। जटमल ने इस ग्रंथ में चित्तौड़ के राजा रत्नसेन (रत्नसिंह) और उसकी रानी के संबंध की कथा लिखते हुए गोरा बादल के युद्ध का विशेष रूप से वर्णन किया है, इसी से उसका नाम 'गोरा बादल की बात', रखा गया। जायसी का ग्रंथ विस्तृत है और जटमल का संक्षिप्त। जायसी के समान उसमें स्थलों आदि का

विशद वर्णन नहीं मिलता। उसकी कथा का सारांश निम्नलिखित है—

जंबूद्वीप के अंतर्गत भरतखंड में चित्तौड़गढ़ नाम का एक बड़ा नगर है, जहाँ का राजा रत्नसेन शूर-वीरों का प्रेमी था और उसकी सेवा में बहुत से राजपूत रहते थे। यह चौहान राजा चतुर और दानी था, जिससे उसके यहाँ दूर-दूर से याचक लोग आया करते थे। एक दिन उक्त राजा के पास याचक (भाट) आए और उन्होंने उसकी प्रशंसा के विरुद सुनाए। तब राजा ने पूछा कि तुम कहाँ से आए हो। उन्होंने उत्तर दिया तुम्हारी कीर्ति सुनकर हम सिंहलद्वीप से आए हैं। राजा ने उनका सम्मान कर पूछा कि सिंहलद्वीप कैसा है। वहाँ क्या-क्या वस्तु पैदा होती है? उन याचक भाटों ने कहा कि समुद्र के पार वह अद्भुत नगर है, जहाँ ऐरावत हाथी और पद्मिनी स्त्रियाँ होती हैं।

राजा के पद्मिनी के गुण पूछने पर भाटों ने स्त्रियों में चित्रिणी, हस्तिनी, शङ्खिनी और पद्मिनी चार जाति होना कह, पद्मिनी के लक्षण, रूप, रंग का वर्णन किया, जिससे राजा पद्मिनी पर आसक्त हो गया। इतने में एक दिन वहाँ एक योगी आया और उसने राजद्वार पर धूनी लगा दी। राजा ने उसे बड़ा सिद्ध देख भक्तिपूर्वक उसकी पूजा की, जिससे योगी ने राजा को मनोवांछित वर माँगने को कहा। इस पर उसने कहा कि मेरा विवाह पद्मिनी स्त्री के साथ करा दीजिए। फिर योगी ने राजा को कहा कि सिंहलद्वीप में पद्मावती (पद्मिनी) है, वहाँ यदि तुमको चलना है तो राज-पाट तजकर चलो। राजा ने उसकी बात स्वीकार कर ली। तदनंतर योगी ने मृग-चर्म पर बैठ कर मन्त्र पढ़ा, जिसके प्रभाव से रत्नसेन तथा वह योगी उड़कर सिंहलद्वीप पहुंचे। योगी ने राजा को कहा कि तुम साधु का भेष कर लो और भिक्षा माँगने जाओ। फिर राजा साधु का भेष बना कर राजद्वार पर गया और राजकन्या पद्मावती को देख मूर्च्छित हो गया। राजकन्या ने अपनी दासी के द्वारा मूर्च्छित राजा पर पानी छिड़कवाया और बत्तीस लक्षणों से युक्त उसका अनुपम रूप देख मोतियों को तोड़कर मोतियों से उसे भिक्षा कराई। फिर वह सिद्ध योगी राजा के महलों में गया और उसने राजा से कहा कि तुम्हारी पुत्री पद्मिनी विवाह योग्य हुई है; इसलिये मैं उसके लिये वर लाया हूँ। रत्नसेन उसका नाम है और वह चित्तौड़गढ़ का स्वामी है, उसके साथ पद्मावती का विवाह कर दो। योगी के वचन सुनकर राजा ने पद्मावती का विवाह

रत्नसेन के साथ कर दिया और दहेज में बहुत से रत्न, सुवर्ण, मोती तथा वस्त्र आदि दिए। फिर रत्नसेन ने पद्मावती सहित चित्तौड़ जाने के लिये सिंहलद्वीप के राजा से सीख माँगी। उसने राघवचेतन नामक ब्राह्मण को भी साथ देकर रत्नसेन तथा पद्मावती को विदा किया। रत्नसेन, पद्मावती, योगी और राघव चेतन उड़नखटोले (विमान) में बैठकर चित्तौड़ पहुंचे। राजा अन्य सब रानियों को छोड़कर पद्मावती पर ऐसा मोहित हो गया कि वह उसको देखे बिना जल भी नहीं पीता था। एक दिन वह दो घड़ी रात्रि रहे, शिकार को चला। उस समय राघवचेतन को उसने अपने साथ लिया। शिकार के समय जंगल में राजा को प्यास लगी। पर उसका यह नियम था कि पद्मावती को देखे बिना वह जल नहीं पीता था, इसलिये राघवचेतन ने एक पुतली बनाई जो सब भाँति से पद्मावती के तुल्य थी; यहाँ तक कि पद्मावती के जंघा पर का तिल भी पुतली की जंघा पर विद्यमान था। उस तिल को देखकर राजा को राघव के विषय में संदेह उत्पन्न हुआ। निदान उसने चित्तौड़ लौट आने पर उसको वहाँ से निकाल दिया। तब वह साधु का भेष धारण कर दिल्ली पहुंचा, जहाँ अल्लावदी (अलाउद्दीन) बादशाह राज्य करता था। एक दिन बादशाह शिकार खेलने को चला, उस समय राघवचेतन ने अपना वाद्य बजाया, जिसकी ध्वनि सुन वन के सब जानवर उसके पास चले गए और शाह को कोई जानवर नहीं मिला। अलाउद्दीन भी उस वाद्य की ध्वनि सुन वहाँ पहुंचा और वहाँ का चरित्र देख उसे आश्चर्य हुआ। फिर वह घोड़े से उतरकर राघव के पास गया और उसके राग से प्रसन्न हो गया। उसने उसको अपने यहाँ चलने को कहा। पहले तो राघवचेतन ने जाना स्वीकार न किया, परंतु अंत में बादशाह का आग्रह देख वह उसके साथ हो गया। उसकी गानविद्या की निपुणता से बादशाह का प्रतिदिन उस पर स्नेह बढ़ने लगा।

एक दिन बादशाह के पास कोई व्यक्ति खरगोश लाया। उसके कोमल अंग पर हाथ फेरते हुए बादशाह ने राघव से पूछा कि इससे भी कोमल कोई वस्तु है? उसने उत्तर दिया कि इससे हजार गुनी कोमल पद्मिनी है। शाह ने उससे पूछा कि स्त्रियाँ कितनी जाति की होती हैं। राघव ने स्त्रियों की चार जातियों के नाम चित्रिणी, हस्तिनी, शंखिनी और पद्मिनी बतलाए, और उनके लक्षणों का वर्णन करते हुए सबसे पहले पद्मिनी जाति की स्त्री की चढ़ावे के साथ प्रशंसा की; जैसे कि

उसके शरीर के पसीने से कस्तूरी की सी बास फैलना, मुख से कमल की सी सुगंध का निकलना और भौरों का उसके चारों ओर मँडराना आदि। तत्पश्चात् चित्रिणी, हस्तिनी और शंखिनी जाति की स्त्रियों का वर्णन करते हुए शंखिनी की बुराइयाँ बतलाने में उसने कसर नहीं रखी। फिर शश, मृग, वृषभ और तुरंग जाति के पुरुषों के लक्षण बताते हुए शश जाति का पुरुष पद्मिनी के, मृग जाति चित्रिणी के, वृषभ जाति का हस्तिनी के और तुरंग जाति का पुरुष शंखिनी के लिये उपयुक्त बतलाया। बादशाह ने राघव की बात सुन कर कहा कि हमारे अंतःपुर में दो हजार स्त्रियाँ हैं। उनको महल में जाकर देखो। उसने उनको प्रत्यक्ष देखना अस्वीकार कर तेल के कुंड में उन सुंदरियों के प्रतिबिम्ब देखकर कहा कि इनमें चित्रिणी, हस्तिनी और शंखिनी जाति की स्त्रियाँ तो बहुत हैं, पर पद्मिनी जाति की एक भी नहीं है। इस पर सुलतान ने कहा कि जहाँ कहीं हो वहाँ ले जाकर मुझे पद्मिनी जाति की स्त्री शीघ्र दिखलाओ। उसके लिये जो मांगो वह मैं तुम्हें दूँगा। उसने कहा कि पद्मिनी समुद्र के परे सिंहलद्वीप में रहती है। समुद्र को देखकर कायरों के हृदय कंपित होते हैं। राघव का यह कथन सुनकर सुलतान ने पद्मिनी के लिये प्रस्थान कर समुद्र के किनारे पड़ाव डाला और पद्मिनी को देखने के लिये हठ किया। तब राघव ने सुलतान से कहा कि पद्मिनी समीप में तो रत्नसेन चहुवान के पास है। यह सुनकर शाह ने बड़ी भारी सेना के साथ रत्नसेन पर चढ़ाई कर दी और वह चित्तौड़ के समीप आ ठहरा। वह १२ वर्ष तक किले को घेरे रहा, परंतु रत्नसेन ने उसकी एक न मानी। तब उस (सुलतान) ने राघव से पूछा कि अब क्या करें। चित्तौड़गढ़ बड़ा बाँका है, वह बलपूर्वक नहीं लिया जा सकता। राघव ने सुलतान से कहा कि अब तो कपट करना चाहिए; डेरे उठाकर लौटने का बहाना करना चाहिए, जिससे राजा को विश्वास हो जाय। फिर सुलतान ने अपने खवास को भेजकर रत्नसेन से कहलाया कि "मैं तो अब लौटता हूँ। मुझे एक प्रहर के लिये ही चित्तौड़ का किला दिखला दो और मेरे इस वचन को मानो तो मैं तुम्हे सातहजारी (मंसबदार) बना दूँ; पद्मिनी को बहिन और तुम्हें भाई बनाऊँ तथा बहुत से नए इलाक़े भी तुम्हें दूँ।"

राजा ने जब देखा कि सुलतान डेरे उठा रहा है, तब उसको गढ़ पर बुलाया। वह (बादशाह) अपने साथ दस-बीस बहादुरों को लेकर कपट-पूर्वक वहाँ पहुंचा। राजा ने शाह की बड़ी खातिर की। बादशाह ने राजा से कहा कि तुम

भाई हो गए हो, मुझे पद्मिनी दिखलाओ ताकि मैं घर लौट जाऊँ। रत्नसेन चहुवान ने पद्मिनी को कहा कि सुलतान ने तुमको बहिन बनाया है सो तुम उसको अपना मुँह दिखला दो। इस पर उसने अपनी एक अत्यंत सुंदरी दासी को अपने वस्त्राभरण पहिना कर बादशाह के पास भेजा, जिसे देखकर वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। राघव ने शाह से कहा कि हे सुलतान यह पद्मिनी नहीं है, ऐसा कहकर उसने पद्मिनी के रूप, गंध आदि की प्रशंसा की। इस पर शाह ने राजा का हाथ पकड़कर कहा कि तुमने मुझ से कपट कर अन्य स्त्री दिखलाई है। पद्मिनी से कहो कि वह मुझे अपना मुँह दिखलावे। तब पद्मिनी ने खिड़की से अपना मुँह बाहर निकाला, जिसे देखते ही शाह ने गिरते-गिरते एक स्तंभ को पकड़ लिया। फिर उसने कहा—भाई रत्नसेन क्षण भर के लिये आप मेरे डेरे पर चलो, ताकि मैं भी आपका सम्मान करूँ। सुलतान वहाँ से लौटकर रत्नसेन के साथ पहले दरवाजे पर पहुंचा, उस समय उस (सुलतान) ने उसको लाख रुपए दिए। दूसरे दरवाज़े पर पहुंचने पर उसने उसको दस क़िले देकर लालच में डाला। फिर इस प्रकार वह राजा को लुभाकर उसे क़िले से बाहर ले गया और उसे कपटपूर्वक पकड़ लिया, जिससे गढ़ में आतंक छा गया। बादशाह राजा को नित्य पिटवाता, चाबुक लगवाता और कहता कि पद्मिनी को देने पर ही तुझे आराम मिलेगा। चित्तौड़ के निवासियों को दिखलाने के लिये राजा को दुर्ग के सामने लाकर लटकवाता, जिससे वहाँ के निवासी दुखी हो गए। अंत में मार खाते हुए राजा ने कायर होकर पद्मावती देना स्वीकार किया और रानी को लेने के लिये खवास भेजकर कहलाया कि मेरे जीवन की आशा करती हो तो एक क्षण भी विलंब मत करो! रानी ने राजा से कहलाया कि प्राण चले जायँ तो भी अपनी स्त्री दूसरे को नहीं देनी चाहिए। मृत्यु से कोई नहीं बच सकता, इसलिये प्राण देकर संसार में यश लेना चाहिए, मुझको देने में आप कलंकित होंगे और मेरा सतीत्व नष्ट होगा। फिर रानी पद्मावती पान का बीड़ा लेकर बादल के पास गई और कहा कि अब मेरी रक्षा करनेवाला कोई नहीं दीखता, केवल तुझसे ही आशा है। उसने उसको कहा कि आप गोरा के पास जायँ, मैं बीड़ा सिर पर चढ़ाता हूँ, निश्चिंत रहें। फिर वह तुरन्त ही गोरा के पास गई और पति को विपत्ति से छुड़ाने के विचार से कहा कि मन्त्रियों ने मुझे बादशाह के पास जाने की सलाह

दी है। इस स्थिति में जैसा तुम्हारी समझ में आवे वैसा करो, जिससे राजा छूटे। गोरा ने बीड़ा उठाकर कहा कि अब आप घर जायँ। फिर गोरा और बादल परस्पर विचार करने लगे कि बादशाह की अपार सेना से किस प्रकार युद्ध किया जाय। बादल ने कहा कि पाँच सौ डोलियों में दो-दो योद्धा बैठें और चार-चार योद्धा प्रत्येक डोली को उठावें। उन (डोलियों) के भीतर सब भाँति के शस्त्र रख सिंगारे हुए कोतल घोड़े आगे कर उनको बादशाह के पास ले जा कहें कि हम पद्मिनी को लाए हैं, पर कोई तुर्क उसको देखने के लिये आने की इच्छा न करे। अनंतर योद्धा लोग डोलियों को छोड़ शस्त्र धारण करें, रण में पीठ न दिखाकर राजा के बन्धन काटें और शाह का सिर उड़ावें। बादल के इस कथन को सभी ने स्वीकार किया। डोलियाँ सुसज्जित हो जाने पर मखमल आदि के कीमती पर्दे उन पर लगाए गए, फिर उनमें सशस्त्र वीरों को बिठला राजपूत वीर ही उन्हें अपने कंधों पर उठा कर ले चले। एक वकील को बादशाह के पास भेज कर कहलाया कि रत्नसेन आज तुम्हें पद्मिनी सौंपता है। सुलतान यह बात सुन बड़ा ही प्रसन्न हुआ, उसने बादल को कहलाया कि पद्मिनी शीघ्र ही लाई जाय। सुलतान के ये वचन सुनकर बादल डोलियों के समीप आया और अपने वीरों को कहने लगा कि ज्योंही मैं कहूँ, त्योंही भाला हाथ में लेकर शत्रुओं पर टूट पड़ना। भाला टूट जाने पर गुरज और गुरज के टूट जाने पर कटार का वार करना।

जब अल्पवयस्क बादल लड़ने को चला तो उसकी माता ने आकर कहा कि हे पुत्र! तूने यह क्या किया। तू ही मेरा जीवन है, तेरे बिना संसार मेरे लिये अंधकार है और सब कुछ सूना तथा नीरस है। तेरे बिना मुझको नहीं सूझता। मेरे गात्र टूटते हैं, छाती फटती है, जहाँ कठोर तीर बरसते हैं वहाँ तू आगे बढ़कर शाह की सेना से कैसे लड़ेगा? बादल ने अपनी माता को कहा—"हे माता! तू मुझे बालक क्यों कहती है? बादशाह के सिर पर तलवार का प्रहार करूँ तो मुझे शाबाश कहना। सिंह, बाज-पक्षी और वीर पुरुष कभी छोटे नहीं कहलाते। मेरी प्रतिज्ञा है कि मैं आगे बढ़कर खूब युद्ध करूँगा। स्वामी के लिये अनेक योद्धाओं को मारूँगा, हाथियों को गिराकर, बख्तरों को तोड़, तलवार चलाता हुआ बादशाह को मारूँगा। यदि मर गया तो जगत् में मेरा यश होगा और युद्धस्थल से मुँह मोड़कर मैं तुझे कभी न लजाऊँगा।" बादल की माता

उसकी प्रतिज्ञा की प्रशंसा कर 'तेरी जय हो' यह आशीष देती हुई लौट गई। फिर उस (माता) ने बादल की स्त्री के पास जाकर कहा कि तेरा पति मेरे समझाए तो समझता नहीं, अब तू जाकर उसको रोक। उसकी नवोढ़ा स्त्री ने उससे कहा कि हे पति ! अभी तो आपने शय्या का सुख भी नहीं भोगा। जहाँ साँगों के प्रहार होते हैं, निरंतर तोपों से गोले चलते हैं और सिर टूट-टूटकर धड़ों पर गिरते हैं, ऐसे युद्ध में आपको नहीं जाना चाहिए। बादल ने उत्तर दिया कि यदि युद्ध में मृत्यु हुई तो श्रेष्ठ कहलावेंगे और जीते रहे तो राज्य का सुख भोगेंगे। हे स्त्री ! दोनों प्रकार से लाभ ही है। यदि सुमेरु पहाड़ चलायमान हो, समुद्र मर्यादा छोड़ दे, अर्जुन का बाण निष्फल जाय, विधाता के लेख मिट जायँ, तभी होनहार टल सकती है। मैं रण से कभी विमुख न होऊँ। फिर उसने अपना जूड़ा (मस्तक के बाल) काटकर अपनी स्त्री को इस अभिप्राय से दिया कि उसके युद्ध में काम आने पर वह इस जूड़े के साथ सती हो जाय।

गढ़ से डोलियाँ नीचे लाई गईं। उन पर सुगंधित अरगजा छिड़का हुआ था, जिससे चारों ओर भौंरे मँडराते थे। असली भेप बादशाह को मालूम नहीं हुआ। गौरा और बादल दोनों घोड़े पर सवार हुए। बादशाह के पास पहुँच उन्होंने सलाम किया और अर्ज की कि पद्मिनी के आने की खबर सुनकर आपके अमीर उसको देखने की इच्छा से दौड़ने लगे हैं, जो आपके एवं हमारे लिये लज्जा की बात है। इस पर बादशाह ने आज्ञा दी कि कोई उठकर पद्मिनी को देखने की चेष्टा करेगा तो वह मारा जायगा। तदनंतर उन्होंने शाह से कहा कि रत्नसेन को हुक्म हो जाय कि वह पद्मिनी से मिलकर उसे आपके सुपुर्द कर दे। सुलतान ने इस बात को स्वीकार कर लिया।

फिर रत्नसेन जहाँ पर क़ैद था, वहाँ जाकर बादल ने अपने मस्तक को उसके चरणों पर रख दिया। उस पर राजा ने क्रोधित हो उससे कहा कि तूने बुरा काम किया कि पद्मावती को ले आया। इस पर बादल ने कहा कि पद्मावती को यहाँ नहीं लाये हैं। डोलियों को भीतर ले जाकर लुहार से राजा की बेड़ियाँ कटवाईं। तबल के बजते ही सुभट डोलियों से निकल आए। रण-वाद्य बजने लगे। जिसमे शूर वीरों का चित्त उत्साहित होने लगा। शाही सेना में कोलाहल मच गया। बात और की और हो गई। पद्मिनी अपनी ही ठौर रह गई और युद्ध

के लिये राजपूत आ डटे। अफीम का सेवन किए हुए तीन सहस्र क्षत्रिय वीर मरने-मारने को उद्यत हो गए। बादशाह भी अपनी सेना को सज्जित कर हाथी पर सवार हो गया। युद्ध आरंभ हुआ। गोरा और बादल वीरता दिखलाकर शत्रुओं के सिर उड़ाने लगे। तलवार, तीर, भाले आदि शस्त्रों की वर्षा होने लगी और एक शाही अमीर के हाथ से गोरा मारा गया। बादल ने बहुत से शत्रुओं का संहार किया और राजा को बंधन से मुक्त कर घोड़े पर बिठला चित्तौड़ को भेज दिया। लोहू की नदियाँ बहने लगीं, दोनों ओर के अनेक वीर मारे गए, अन्त में बादल विजयी होकर लौटा। पद्मिनी ने आकर बादल की आरती की और मोतियों का थाल भरकर उसके मस्तक पर वारा। उस (पद्मिनी) ने उसको चिरजीव होने की आशीष दी। वह गोरा बादल की वीरता की प्रशंसा करने लगी। बादल की स्त्री उसको बधाई देकर शाह के हाथी के दाँतों पर घोड़े के पाँव टिकाने तथा शाह पर तलवार चलाने की प्रशंसा कर उसके उत्साह को बढ़ाने लगी। बादल की चाची (गोरा की स्त्री) बादल से आकर पूछने लगी कि मेरा पति युद्ध में लड़ता हुआ मारा गया, या भागता हुआ? उसके उत्तर में बादल के मुख से गोरा की वीरता का वर्णन सुन गोरा की स्त्री अपने पति की पगड़ी के साथ सती हो गई।

उपर्युक्त अवतरण से पाठकों को इस कथा का सारांश ज्ञात होगा। जायसी और जटमल के लेखों में जो अंतर है, उसके कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

मलिक मुहम्मद हीरामन तोते के द्वारा पद्मिनी का रूप सुनकर उस पर मोहित होना बतलाता है और जटमल भाटों द्वारा पद्मिनी का परिचय कराता है।

जायसी कहता है कि पद्मिनी पर आसक्त बना हुआ राजा, योगी बनकर सिंहल को चला, अनेक राजकुमार भी चेले होकर उसके साथ हो गए और तोते को भी अपने साथ ले लिया। विविध संकट सहता हुआ प्रेम-मुग्ध राजा सिंहल में पहुंचा। इस विषय में जटमल का यह कथन है कि योगी ने मृगचर्म पर बैठकर मन्त्र पढ़ा, जिसके प्रभाव से रत्नसेन तथा योगी सिंहल में पहुंचे।

जायसी तोते के द्वारा पद्मिनी का रत्नसेन से परिचय होना और वसंत पंचमी के दिन विश्वेश्वर के मंदिर में रत्नसेन तथा पद्मिनी के परस्पर साक्षात् होने पर उसका मोहित हो जाना और अनेक प्रकार से आपत्तियाँ उठाने के बाद शिव की

आज्ञा से सिंहल के राजा का रत्नसेन के साथ पद्मिनी के विवाह होने का वर्णन करता है; तो जटमल कहता है कि जब रत्नसेन सिंहल में पहुँच गया, तब उस योगी ने वहाँ के राजा को रत्नसेन का परिचय देकर पद्मिनी के लिये उसे योग्य वर बतलाया, जिससे सिंहल के राजा ने उसका विवाह उसके साथ कर दिया।

जायसी बतलाता है कि रत्नसेन सिंहल में कुछ काल तक रह गया। इस बीच में उसकी पहले की रानी नागमती ने विरह के दुःख से दुःखित होकर एक पक्षी के द्वारा उसके पास संदेश पहुँचाया, तब रत्नसिंह को चित्तौड़ का स्मरण हुआ, फिर वहाँ से विदा हो कर अपनी नई रानी (पद्मिनी) सहित चला। मार्ग में समुद्र के भयंकर तूफ़ान आदि आपत्तियाँ उठाता हुआ बड़ी कठिनता से अपनी राजधानी को लौटा; तो जटमल का कहना है कि राजा, पद्मावती और योगी आदि उड़नखटोले (विमान) में बैठकर चित्तौड़ को पहुँचे।

जायसी राघवचेतन नामक ब्राह्मण का (जो जादू-टोने में निपुण था) राजा के पास आ रहना और जादूगरी का भेद खुल जाने पर उसका राजा द्वारा वहाँ से निकाला जाना तथा उसका अलाउद्दीन के पास जाकर पद्मिनी के सौंदर्य की प्रशंसा करना बतलाता है और जटमल राघवचेतन का राजा के साथ, सिंहल से उड़नखटोले में बैठ चित्तौड़ आने का उल्लेख कर कहता है कि राजा पद्मिनी पर इतना अधिक आसक्त हो गया कि उसको देखे बिना जल तक नहीं पीता था। एक दिन वह शिकार को गया, जहाँ प्यास से व्याकुल हो गया; जिस पर राघव ने ठीक पद्मिनी के सदृश पुतली बनाई, यहाँ तक कि पद्मिनी की जंघा पर का तिल भी विद्यमान था। उस तिल को देखकर राजा को उस पर संदेह हुआ और उसको उसने अपने यहाँ से निकाल दिया।

जायसी ने राघवचेतन के दिल्ली जाने और पद्मिनी के रूप की बादशाह से प्रशंसा करने पर बादशाह के उस पर आसक्त होने और रत्नसिंह के पास दूत भेज पद्मिनी दे देने के लिये कहलाने तथा उसके इनकार करने पर चित्तौड़ पर चढ़ाई करने का उल्लेख किया है। जटमल ने राघवचेतन का साधु बनकर दिल्ली जाना, उसकी गान-विद्या से अलाउद्दीन का उससे प्रसन्न होना, एवं पद्मिनी आदि चारों जाति की स्त्रियों का वर्णन करने पर बादशाह का पद्मिनी जाति की स्त्री पर आसक्त होना और पद्मिनी के लिये चित्तौड़ पर चढ़ आना बतलाया है।

जायसी का कथन है कि आठ वर्ष तक चित्तौड़ को घेरे रहने पर भी सुलतान उसको फतह नहीं कर सका। ऐसे में दिल्ली पर शत्रु की पश्चिम की ओर से चढ़ाई होने की खबर पाकर उसने कपट-कौशल से राजा को कहलाया कि हम आपसे मेल कर लौटना चाहते हैं, पद्मिनी को नहीं माँगते। इस पर विश्वास कर राजा ने उसको चित्तौड़ के दुर्ग में बुलवाकर आतिथ्य किया। वहाँ पर शतरंज खेलते समय अपने सामने रखे हुए एक दर्पण में पद्मिनी का प्रतिबिंब देखकर उसकी दशा और की और हो गई। दूसरे दिन राजा के प्रति अत्यंत स्नेह दिखला कर उसके वहाँ से बिदा होते समय राजा भी उसको पहुँचाने चला। प्रत्येक द्वार पर वह राजा को भेंट देता गया और सातवें दरवाजे से बाहर निकलते ही गुप्त रीति से तैयार रखी हुई सेना के द्वारा उसे पकड़वा लिया। फिर उसको बन्दी कर दिल्ली ले गया, जहाँ पर वह राजा से कहता कि पद्मिनी के देने पर ही तुम क़ैद से मुक्त हो सकोगे। इस विषय में जटमल कहता है कि १२ वर्ष तक लड़ने पर भी सुल्तान क़िलेको फतह नहीं कर सका, तब उसने दिल्ली जाने के बहाने से डेरे उठाना शुरु कर दिया और रत्नसेन से कहलाया कि मैं तो अब लौटता हूँ, मुझे एक प्रहर के लिये ही चित्तौड़ का क़िला दिखला दो और मेरे इस बचन को मानो तो मैं तुम्हें सात हजारी मंनसबदार बना दूँ, पद्मिनी को बहिन और तुम्हें भाई बनाऊँ तथा बहुत से नए इलाक़े भी तुम्हें दूँ। सुलतान के इस प्रस्ताव को राजा ने स्वीकार किया और बादशाह को अपना मिहमान बना क़िले में बुलाया। वहाँ उसने पद्मिनी को देखना चाहा। फिर खिड़की के बाहर निकला हुआ पद्मिनी का मुख देखते ही उसकी पापमय वासना बढ़ गई। उसने राजा को लोभ में डाल अपना मिहमान बनाने की इच्छा प्रकट कर उसको अपने साथ लिया। प्रत्येक दरवाजे पर पारितोषिक आदि देकर राजा का मन बढ़ाता गया और क़िले के अंतिम दरवाजे से बाहर जाते ही उसने राजा को पकड़वा लिया।

जायसी लिखता है कि कुंभलनेर के राजा ने पद्मिनी को लुभाकर ले आने के लिये एक वृद्धा दूती को चित्तौड़ में भेजा। वह तरुणी-वेष धारण कर पद्मिनी के पास पहुंची और युवा अवस्था में पति का वियोग हो जाने से कुंभलनेर के राजा के पास चलने और भोग-विलास में दिन बिताने की बात कही। यह सुनकर पद्मिनी ने उसे अपने यहाँ से निकलवा दिया। पति को कैद से छुड़ाने का

संकल्प कर अपने वीर सामंत गोरा बादल से सम्मति माँगी, उस पर उन्होंने जिस भाँति सुलतान ने छल किया, उसी प्रकार उससे छल कर राजा को क़ैद से छुड़ाने की सलाह दी। फिर उन्होंने सोलह सौ डोलियों में पद्मिनी की सहेलियों के नाम से वीर राजपूतों को बिठलाया। अब वे पद्मिनी के स्थान पर लोहार को बैठाकर चित्तौड़ से दिल्ली को चले। वहाँ उन्होंने पद्मिनी के दिल्ली आने की खबर देकर सुलतान को कहलाया कि एक घड़ी के लिये उसको अपने पति से मिलकर गढ़ की कुंजियाँ सौंपने की आज्ञा दी जाय; फिर वह आपकी सेवा में उपस्थित हो जाय। सुलतान के यह स्वीकार करने पर वे राजा रत्नसेन के पास पहुंचे और अपने साथ के लोहार से उसकी बेड़ी कटवाने के बाद उसे घोड़े पर सवार करा ससैन्य नगर से बाहर निकल गए। इस पर सुलतान की सेना ने पीछा किया और गोरा लड़ता हुआ मारा गया। परन्तु बादल ने राजा सहित चित्तौड़ में प्रवेश किया। यहाँ जटमल का कहना है कि सुलतान राजा को नित्य पिटवाता और कहता कि पद्मिनी को देने पर ही तुम्हारा निस्तार होगा। चित्तौड़ के निवासियों को दिखलाने के लिये वह राजा को दुर्ग के सामने ले जाकर लटकवाता; इससे वहाँ के निवासी अधीर हो गए। अन्त में मार खाते-खाते राजा ने भी दुखी होकर पद्मिनी को दे देना स्वीकार किया। निदान रानी को लेने के लिये खवास को भेजा, जिस पर पद्मिनी ने उस प्रस्ताव को अस्वीकार किया; किन्तु मंत्रियों ने राजा को बंदीगृह से मुक्त करने की इच्छा से पद्मिनी को सुलतान को सौंपने का विचार कर लिया। तब वह अपने सतीत्व की रक्षार्थ बीड़ा लेकर बादल के पास गई, जिसने उसको गोरा के पास जाकर उसे भी उद्यत करने को कहा, यद्यपि बादल छोटी अवस्था का था, तो भी वह पद्मिनी के सतीत्व की-रक्षार्थ तथा अपने राजा को छुड़ाने के लिये तैयार हो गया। उसकी माता और स्त्री ने बहुत कुछ कहा, किंतु वह अपने संकल्प पर दृढ़ रहा। गोरा और बादल ने पाँच सौ डोलियों में दो-दो सशस्त्र राजपूत बिठलाकर प्रत्येक डोली को चार-चार राजपूतों से उठवाया और सुलतान के शिविर में ले जाकर अलाउद्दीन से कहलाया कि पद्मिनी को ले आए हैं। बादशाह की तरफ से क़ैदखाने में जाकर पद्मिनी को रत्नसिंह से मिल लेने की आज्ञा हो जाने पर सब डोलियाँ वहाँ पहुंचाई गई, जहाँ रत्नसेन क़ैद था। फिर राजा की बेड़ी काटी जाकर उसे घोड़े पर सवार करा चित्तौड़ को रवाना किया। अनंतर संकेतानुसार राजपूत डोलियों से निकल पड़े। सुलतान को यह भेद मालूम होने

पर वह भी अपनी सेना को ले खड़ा हुआ और युद्ध होने लगा, जिसमें गोरा मारा गया। अंत में बादल विजयी होकर लौटा और गोरा की स्त्री बादल के मुँह से युद्ध के समय के गोरा के वीरोचित कार्यों की कथा सुनकर सती हो गई। यहीं पर जटमल अपना ग्रंथ समाप्त करता है।

ऊपर की दोनों कथाओं में इतना तो अवश्य ही ऐतिहासिक तत्त्व है कि रत्नसिंह (रत्नसेन) चित्तौड़ का राजा, पद्मिनी उसकी रानी, गोरा बादल उसके सरदार और अलाउद्दीन खिलजी दिल्ली का सुलतान था, जिसने पद्मिनी के लिये चित्तौड़ पर चढ़ाई की थी।

जटमल अपने विषय में लिखता है कि पठान सरदारों के मुखिए नासिरखाँ के बेटे अलीखाँन न्याजी के समय नाहर जाति के धर्मसी के पुत्र जटमल कवि ने सबला नामक गाँव में रहते हुए संवत १६८० (ई० स० १६२४) फाल्गुनसुदि १५ को ग्रंथ समाप्तकिया। उसके काव्य की भाषा सरस है और उसमें राजस्थानी डिंगल भाषा के भी बहुत से शब्दों का प्रयोग हुआ है।

ओसवाल महाजनों की जाति में नाहर एक गोत्र है, अतएव संभव है, कि जटमल जाति का ओसवाल महाजन हो[1]। संबला गाँव कहाँ है, इसका पता

---

१ कलकत्ते के सुप्रसिद्ध विद्वान् बाबू पूर्णचंद्रजी नाहर एम० ए०, बी० एल० 1 से ज्ञात हुआ कि उनके संग्रह में जटमल का रचा हुआ एक और भी काव्य-ग्रन्थ है, जिसमें जटमल का कुछ विशेष परिचय मिलता है। यह लेख लिखते समय वह ग्रन्थ हमारे पास नहीं पहुँचा, जिससे जटमल का पूर्ण परिचय नहीं दिया जा सका। नाहरजी के यहाँ से उक्त पुस्तक के आने पर ग्रन्थकर्ता के विषय में कुछ अधिक ज्ञात हो सका तो फिर कभी वह पृथक् रूप से प्रकाशित किया जायगा।

I इसही संबंध में श्री पूर्णचद्रजी नाहर (स्वर्गवासी) ने 'कुएँ में भांग' शीर्षक एक छोटासा लेख प्रकाशित किया था, जिसका आशय यही है कि श्री ओझाजी को जटमल तथा उसके ग्रन्थ के विषय निर्णय करने में कुछ भ्रम हुआ है। परंतु ग्रन्थ की मूल कथा वही है, जो श्री ओझाजी ने बतलाई है और उससे इस ग्रन्थ की अधिक प्राचीनता और प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती। अलाउद्दीन-खिलजी के मुकाबिले में चित्तौड़ पर युद्ध करने वाला गुहिलवंशी राजा (रत्नसिंह) था, न कि चौहानवंशी। स० टि०

अभी तक नहीं चला, पर इतना तो निश्चित है कि वह (जटमल) मेवाड़ का निवासी नहीं था। यदि ऐसा होता तो चित्तौड़ के राजा रत्नसेन को, जो गुहिल-वंशी था, कदापि वह चौहानवंशी नहीं लिखता। वह बारह वर्ष (जायसी ८ वर्ष) तक बादशाह का निरर्थक ही चित्तौड़ को घेरे रहना बतलाता है, जो निर्मूल है। इस समय तक मंसबदारी की प्रथा भी जारी नहीं हुई थी। छः महीने तक चित्तौड़ का घेरा रहने के बाद सुलतान अलाउद्दीन ने वह क़िला फतह कर लिया, जिसमें रत्नसिंह मारा गया और पद्मिनी ने जौहर की अग्नि में प्राणाहुति दी।

जायसी ने पद्मिनी के पिता को सिंहल (लंका) का राजा चौहान वंशी गन्धर्वसेन (गंध्रवसेन) बतलाया है, किंतु जटमल ने पद्मिनी के पिता के नाम और वंश का परिचय नहीं दिया है। पद्मिनी कहाँ के राजा की पुत्री थी, इसका निश्चय करने पूर्व रत्नसिंह (रत्नसेन) के राजत्वकाल पर भी दृष्टि देना आवश्यक है। इस कथा का चरित्र-नायक रत्नसिंह (रतनसी, रत्नसेन) चित्तौड़ के गुहिलवंशी राजा समरसिंह का पुत्र था। समरसिंह के समय के अब तक आठ शिलालेख मिले हैं, जिनमें सबसे पहला वि० सं० १३३० (ई० स० १२७३) कार्तिक सुदी १–का है और अंतिम वि० सं० १३५८ (ई० स० १३०२) माघसुदी १० का है, जिससे यह तो स्पष्ट है कि वि० सं० १३५८ के माघसुदि १० तक मेवाड़ का राजा समरसिंह ही था। उसके पुत्र रत्नसिंह का केवल एक ही शिलालेख दरीबा नामक गाँव के देवी के मंदिर में मिला है, जो विक्रमी सं० १३५९ (ई० स० १३०३) माघसुदी ५ बुधवार का है। इन लेखों से प्रकट है कि वि० सं० १३५८ के माघ-सुदी ११ और वि० सं० १३५९ माघसुदी ५ के बीच किसी समय रत्नसिंह मेवाड़ का स्वामी हुआ। फ़ारसी इतिहास लेखक मलिकखुसरो, जो चित्तौड़ की चढ़ाई में शरीक था, लिखता है कि सोमवार ता० ८ जमादिउस्सानी हि० स० ७०२ वि० सं० १३५९ माघसुदी ९ ता० २८ जनवरी ई० स० १३०३) को चित्तौड़ पर चढ़ाई करने के लिये दिल्ली से सुलतान अलाउद्दीन खिलजी ने प्रस्थान किया और सोमवार ता० ११ मुहर्रम हि० स० ७०३ (वि० सं० १३६० भाद्रपद सुदी १४ ता० २६ अगस्त ई० स० १३०३) को चित्तौड़ का क़िला फतह हुआ। इस हिसाब से रत्नसिंह का राज्य समय कठिनता से लगभग १ वर्ष ही आता है। संभव नहीं कि इस थोड़ी सी अवधि में समुद्र पार लंका जैसे दूर के स्थान में वह जा सका हो।

काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'जायसी-ग्रंथावली' (पद्मावत और अखरावट) के विद्वान् संपादक पं० रामचन्द्र शुक्ल ने उक्त ग्रन्थ की भूमिका में सिंहलद्वीप के विषय में लिखा है कि 'पद्मिनी सिंहल की नहीं हो सकती। यदि सिंहल नाम ठीक मानें तो वह राजपूताने या गुजरात में कोई स्थान हो' यह कथन निर्मूल नहीं है। चित्तौड़ से अनुमान २५ कोस पूर्व सिंगोली नाम का प्राचीन स्थान है, जहाँ प्राचीन खँडहर और क़िले आदि के चिह्न अब तक विद्यमान हैं। सिंगोली और उसका समीपवर्त्ती मेवाड़ का पूर्वी प्रांत रत्नसिंह के समय चौहानों के अधिकार में था। जायसी पद्मिनी के पिता को चौहानवंशीय गंध्रवसेन लिखता है, यदि यह ठीक हो तो वह मेवाड़ के पूर्वी भाग सिंगोली का स्वामी हो सकता है। सिंगोली और सिंहल के नामों में विशेष अंतर न होने से संभव है कि जायसी और जटमल ने सिंगोली को सिंहलद्वीप (लंका) मान लिया हो। सिंहल अर्थात् लंका पर कभी चौहानों का राज्य नहीं हुआ, इसके अतिरिक्त रत्नसिंह के समय वहाँ का राजा गंध्रवसेन भी नहीं था। उस समय लंका में राजा कीर्तिनिश्शंक देव (चौथा) या भुवनैकबाहु (तीसरा) होना चाहिए।

नागरी-प्रचारिणी सभा की हिंदी पुस्तकों की खोज संबंधी सन् १६०१ ईस्वी की रिपोर्ट के पृ० ४५ में संख्या ४८ पर बंगाल एशियाटिक सोसाइटी में जो जटमल रचित 'गोरा बादल की कथा' है उसके विषय में लिखा है कि यह गद्य और पद्य में है; *किन्तु स्वामी नरोत्तमदासजी द्वारा जो प्रति अवलोकन में आई वह पद्यमय* है। इन दोनों प्रतियों का आशय एक होने पर भी रचना भिन्न-भिन्न प्रकार से हुई है। रचना-काल भी दोनों पुस्तकों का एक है और कर्ता भी दोनों का एक ही है। संभव है, जटमल ने कथा को रोचक बनाने के लिये ही बंगाल एशियाटिक सोसाइटीवाली प्रति में गद्य का प्रयोग किया हो।

ना० प्र० प०, (त्रै०, न० सं०) काशी भाग १३

दूसरा प्रकरण

इतिहास और पुरातत्त्व

भाटों की ख्यातें और महाराणियों के नाम[1]

राजपूताना आदि में राजाओं, सरदारों तथा अनेक दूसरी जातियों का वंश विवरण लिखने वाले लोग भाट, बड़वे, जागे आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। वे लोग अपने यजमानों के यहाँ समय-समय पर आते जाते, उनके नवजात पुत्र, पुत्रियों तथा नवविवाहितों के नाम आदि अपनी पुस्तकों में दर्ज करते रहते हैं। ये लोग पूज्य दृष्टि से देखे जाते हैं और जब ये जाते हैं, तब उनकी पुस्तकें सुन कर इनको भेंट दी जाती है। रईस लोग घोड़े सिरोपाव नकद आदि देते हैं और अन्य लोग

---

[1]इस लेख से भाटों की ख्यातों और शिलालेखों में दिये हुए राणियों के नामों की जाँच करने में केवल उदयपुर राज्य के शिलालेखों में मिलने वाले नामों की जाँच कीगई है, जिसका कारण यही है राजपूताना, गुजरात, मालवा, काठियावाड़ आदि प्रदेशों में वर्तमान हिन्दु राज्यों में सबसे प्राचीन उदयपुर (मेवाड़) का राज्य है। इस राज्य में भी प्राचीन शोध का कार्य जैसा होना चाहिये, वैसा नहीं हुआ, तो भी जो हुआ है, उससे विक्रम संवत् ७०३ से लगाकर विक्रम की बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के इतने शिलालेख मिल गये हैं कि यदि वे प्रकाशित किये जाय तो इनसे कई जिल्दें भर जाय। अन्य वर्तमान राज्यों में किसीके भी ऐसे पुराने शिलालेख नहीं मिले, जिनमें वहाँ की राणियों के नाम मिलते हैं, जिनके आधार पर वहाँ के भाटों की ख्यातों में दिये हुए नामों की जाँच की जा सके। प्राचीन राजवंशों में गुप्तों, वैसवंशियों, कन्नौज के रघुवंशी सम्राट् प्रतिहारों आदि कई राजवंशों के शिलालेखों तथा दानपत्रों में उन वंशों की कई राणियों के नाम मिलते हैं; परंतु भाटों की ख्यातों में उन वंशों का नाम तक नहीं है; इसीसे उदयपुर के लेखों का ही सहारा लेना पड़ा।

(आ) महाराणा मोकल के पीछे उनके पुत्र महाराणा कुम्भा (कुम्भकर्ण) मेवाड़ के स्वामी हुए। ये महाराणा बड़े प्रतापी, विजयी, वीर, संस्कृत के विद्वान्, सङ्गीत में पारंगत और शिल्प के बड़े अनुरागी थे। इन्होंने 'गीतगोविन्द' पर रसिकप्रिया नाम की विस्तृत टीका लिखी, जिसके प्रारम्भ तथा अंत में अपने वंश का तथा अपना परिचय दिया है, जिसमें अपनी माता का नाम सौभाग्य-देवी[1] दिया है, परन्तु उसका नाम भी मेवाड़ के बड़वे की ख्यात में नहीं है। महाराणा मोकल की इन दो राणियों के निश्चित नामों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जैसे ख्यात में दिया हुआ महाराणा मोकल का समय विश्वास योग्य नहीं है, वैसे ही उनमें दिये हुए राणियों के नाम भी विश्वसनीय नहीं हैं। राणियों के नामों के अंत में कँवर शब्द उस समय तक सामान्य रूप से प्रयोग में नहीं आता था। या तो उनके नाम प्राचीन शैली के होते थे, या उनके अन्त में 'देवी' शब्द का प्रयोग होता था, जैसे कि मेवाड़ के राजा भर्तृभट (द्वितीय) की राणी का नाम महालक्ष्मी, अल्लट की राणी का हरियादेवी, विजयसिंह की राणी का नाम श्यामलदेवी और तेजसिंह की राणी का नाम जयतल्लदेवी शिलालेखों में उत्कीर्ण मिलता है।

(इ) महाराणा कुम्भा (कुम्भकर्ण) ने गीतगोविन्द की टीका के अन्त में अपने को महाराज्ञी (महाराणी) अपूर्वदेवी का हृदयाधिनाथ कहा है, जिससे निश्चित है कि कुम्भा की राणियों में अपूर्वदेवी उनकी सबसे प्रिय राणी थी[2]। ख्यात में महाराणा कुम्भा की चार राणियों के नाम दिये हैं, उनमें अपूर्वदेवी का नाम नहीं है।

---

१ सूर्यत्रितयवेदितराजचक्रचूड़ामणिना महाराज्ञीहृदयसौभाग्यदेवीहृदयनन्दनेन ....-...महाराजाधिराजमहाराज(राणा)श्रीकुम्भकर्णमहीमहेन्द्रेण विरचितायां रसिकप्रियानाम्न्यां श्रीगीतगोविन्दटीकायां द्वादशः सर्गः समाप्तः ॥

वम्बई के निर्णयसागर प्रेस में छपा हुआ सटीक गीतगोविन्द काव्य, पृ० १७४।

२ महाराज्ञीश्रीअपूर्वदेवीहृदयाधिनाथेन......

वही पृ० १७४।

(ई) महाराणा कुम्भा को मार कर उनका ज्येष्ठ पुत्र ऊदा (उदयसिंह) मेवाड़ का स्वामी हुआ। इस पितृघाती को निकालकर उसका छोटा भाई रायमल चित्तोड़ के राज्य का स्वामी बना। उसकी राणी शृङ्गारदेवी ने चित्तौड़ से ७ मील उत्तर में घोसुंडी ग्राम में वि० सं० १५६१ में एक वापी (बावड़ी) बनवाई, जिसकी प्रशस्ति आज तक वहाँ विद्यमान है। उसमें शृङ्गारदेवी मारवाड़ के राठोड़ राजा रणमल के पुत्र राजा योध (राव जोधा) की पुत्री लिखी गई है।[3] उदयपुर की ख्यात में रायमल की सात राणियों के नाम है, जिनमें शृंङ्गारदेवी का नाम नहीं है और न मारवाड़ (जोधपुर) की ख्यात में ही कहीं उसके नाम का उल्लेख मिलता है।

ख्यातों में वि० संवत् की तेरहवीं शताब्दी तक के राजाओं की राणियों के नाम तो मिलते ही नहीं। यदि कुछ नाम मिलते हैं तो शिलालेखों में ही। ऊपर उद्धृत किये हुए थोड़े से उदाहरणों से पाया जाता है कि वि० सं० १५०० और उसके कुछ पीछे तक राणियों के जो नाम ख्यातों में दिये हुए हैं, वे बहुधा विश्वास योग्य नहीं है। वि० सं० १६०० के पीछे के नाम विश्वास योग्य है। इससे यह भी अनुमान हो सकता है कि या तो भाटों की पुरानी पुस्तकें न होने के कारण उन्होंने जो कुछ इधर-उधर मिल सका, वही वृत्तान्त अपनी नई पुस्तकों में वि० सं० १६०० के आस-पास उद्धृत किया, या उक्त संवत् के आस-पास उन्होंने अपनी

---

३ राष्ट्रवर्यवरनाथमंडली मौलिय रान मणिर्मरुस्थली (लीं)।
उद्धृता लिख त्रिपत्नकेटका माशसास रणमल्लभूपति (तिः)॥ ४ ॥
एतस्मिन्न मरस दस्यताम वादो तत्सूनु (र्ध) रणि मरं वमार सद्यः।
श्री योध क्षितिपति रुग्रः (उग्रः) खड्गधारां निघत्ति प्रहत पठाण पारशीकः॥ ५ ॥
आजलराशि महीतल महीपति वाकलय्य निरटंकि।
तैरनुरूपगुण श्री रे तस्या राजमल्ल नरनाथः॥ १० ॥
तदनु मरुधराधिनाथै युवतीरत्न मिमाम या नयद्भिः।
सहजभातुरगा दिवस्तु जातै (जातैः) सुतरां तोषमलंभि राजमल्लः॥ १७ ॥
शृङ्गारदेवीत्यभिधां मनोहरं प्रेम्णोपनीता मनुताम भापतः।
तयासमंपुष्पशरोमवेकृति कलाकलापैःकलयत्यनेहसं॥ १८ ॥

भी अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार इनको विदाई के समय भेंट देते हैं। इन लोगों की पुस्तकें 'ख्यात' कहलाती है और राजपूताने में प्राचीन शोध के काम के पहले इन्हीं की पुस्तकें इतिहास की मुख्य साधन समझी जाती थीं और अब भी साधारण लोगों में बहुधा आदर है। राजपूताना के इतिहास की सामग्री एकत्र करते हुए मैंने ऐसी कई ख्यातें एकत्र की। उनमें हमें एक ही वंश के सम्बन्ध की एक से अधिक ख्यातें मिली। अतएव उस वंश के मूल पुरुष से लगा कर विक्रम संवत् की १२ वीं शताब्दी तक के राजाओं के नामों का जब परस्परमें मिलान किया, तब हमें अधिक तर नाम परस्पर नहीं मिले। फलतः उन (ख्यातों) में कुछ प्रसिद्ध पुरुषों के नाम तो ठीक है, बाकी विशेषतर कल्पित हैं। दसवीं शताब्दी के पूर्व के नामों में शुद्ध नाम बहुत ही कम संख्या में मिलते हैं। संवत् का तो उनमें बहुत ही कम उपयोग हुआ है। विक्रम की १४ वीं शताब्दी के पूर्व के जो संवत् उनमें मिलते हैं, वे बहुधा कल्पित ही हैं, उस समय के पीछे के संवत् विशेष कर शुद्ध मिलते हैं। उनमें राजाओं की राणियाँ, कुंवरों और कुंवरियों के नाम भी मिलते हैं। राणियों के पिता का नाम और उनके वंश का परिचय भी दिया हुआ होता है और कहीं-कहीं कुंवरियों का विवाह जिन-जिन के साथ हुआ था, उनके नाम तथा उनके वंशों का उल्लेख भी मिलता है। उनमें एक ही राजा की कई राणियों के नाम मिलते हैं। शिलालेखादि में राणियों के नामों का उल्लेख कम मिलता है, जिससे उनके नामों की पूरी जाँच नहीं हो सकती। कभी-कभी राणियों के बनवाये हुए मन्दिर, वापी (बावड़ी) आदि के शिलालेख भी मिल जाते हैं, जिनमें ऐसे स्थान बनाने वाली राणी के पति के वंश-वर्णन के अतिरिक्त उसके पिता का नाम तथा उसके वंश का उल्लेख भी मिलता है। कभी-कभी संस्कृत पुस्तकों में भी राजा की माता या किसी राणी का नाम मिल जाता है। इस प्रकार भाटों की ख्यातों में दिये हुए राणियों के नामों की जांच के थोड़े से साधन मिल जाते हैं। इस लेख में मैं प्राचीन शिलालेखादि से कुछ राणियों के नाम उद्धत कर भाटों की ख्यातों में वे नाम मिलते है या नहीं, यह बतलाने का यत्न करता हूं—

(अ) उदयपुर राज्य में एकलिंगजी के प्रसिद्ध मन्दिर से लगभग छः मील दूर शृङ्गीऋषि (ऋष्यशृङ्ग) नाम का एक तीर्थ स्थान है, जहाँ एक कुण्ड भी बना हुआ है। वहां एक प्रशस्ति वि०सं०१४८५ श्रावणसुदि ५ रविवार की लगी

हुई है। उसमें ३१ पंक्तियां हैं, जिनमें २६ श्लोक और अन्त में थोड़ा सा गद्य है। उसका कुछ अंश नष्ट हो गया है, तो भी विशेषतया सुरक्षित है। यह प्रशस्ति मेवाड़ के महाराणा मोकल के समय की है और उसमें महाराणा हम्मीर से लगाकर मोकल तक के राजाओं का वर्णन है और यह भी लिखा है कि राणा मोकल ने बाघेला वंश की अपनी प्रिय राणी गौराम्बिका (गौरादेवी; गोरादे); के स्वर्ग लोक प्राप्ति के निमित्त विभाण्ड ऋषि के पुत्र (ऋष्यश्रृङ्ग) के स्थान पर यह वापी (बावड़ी) बनवाई।[1] इससे निश्चित है कि महाराणा मोकल की एक राणी का नाम गौराम्बिका था। वह बघेल वंश की थी और मोकल वि०सं० १४८५ तक जीवित था।

उदयपुर राज्य के बड़वे की ख्यात में राणा मोकल की पांच राणियों के नाम नीचे लिखे अनुसार दिये हुए हैं—

१ माया कँवर, सांखला (परमार) राजा जैतमल की पुत्री।

२ केसरकंवर, सोलंकी राव सेढा की पुत्री।

३ अतरूपकंवर, चौहान चंद्रसेन की पुत्री।

४ हमेरकंवर, कछवाहा महरा की पुत्री।

५ मदालसा, खैराड़ा मालवे (मालदेव) की पुत्री।

इनमें बघेल वंश की राणी गौराम्बिका का नाम नहीं है; परन्तु उसका होना उक्त पशस्ति से निर्विवाद है। उक्त ख्यात में महाराणा मोकल का संवत् १४५४ से १४७५ तक राज्य करना लिखा है। वह भी विश्वास के योग्य नहीं; क्योंकि उक्त प्रशस्ति से वि० सं० १४८५ के श्रावण तक तो मोकल का विद्यमान होना निर्विवाद है।

---

१ वाघेलान्वयदीपिकात्रितरण प्रख्यात हस्ता

"भूमिपालतनया पुष्पायुध प्रेयसी।.........॥ २२ ॥

गौराम्बिकाया निजवल्लभायाः

सल्लोकसंप्राप्तिफलैक हेतोः।

एषा पुरस्ता.........विभाण्ड सूनो

र्व्वापी निबद्धा किल मोकलेन ॥ २४ ॥

(शृङ्गी ऋषि के स्थान की अप्रकाशित प्रशस्ति से)

पुस्तकों का लिखना प्रारम्भ कर उनको पुरानी बतलाने के लिए बहुत से कृत्रिम और कल्पित संवत् भी उनमें धर दिये हों।

[सरस्वती, प्रयाग; जनवरी १६२६, विशेषांक
विविध स्तम्भ पृ० ६३-६५]
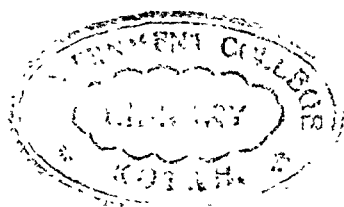
श्रीशृङ्गारदेव्यासहराजमल्लः सन्नीरपूर्णपिचवापिकेयं ।
यावद्धरासागर सूर्य चन्द्रं राजन्तुसानन्दमनंतरायाः ॥ २२ ॥

[बंगाल ऐशियाटिक सोसाइटी का जर्नल, जि० ५६, भाग १, पृ० ८०-८१]

२ डॉ० फ्लीट और भीमदेव का दानपत्र

बम्बई की एशियाटिक सोसाइटी के संग्रह में बहुत से शिलालेख, दानपत्र सिक्के और प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकें हैं। उक्त संग्रह का एक दानपत्र डॉ०फ्लीट ने ई०स०१८८६ में प्राचीन खोज की इन्डियन एंटिक्वेरी नामक अंगरेजी मासिक पत्रिका में प्रकाशित किया था (पृ० १०९-११०), जिसका आवश्यक अंग नीचे दिया जाता है—

"ओं राजावली पूर्ववत् ॥ संवत ९३ चैत्रशुदि ११ रवौ अद्येह श्रीमदणहिल-पाटके समस्तराजावलीविराजितमहाराजधिराजश्रीभीमदेवःस्व(स्व)भुज्यमानकच्छ मंडलातः पातिसमस्तराजपुरुषान् ब्रा(ब्रा)ह्मणोत्तरान् तन्निवाशि(सि) जनापदांश्च वो(वो)धयत्यस्तु वः संविदितं यथा ॥ अद्यसंक्रातिपर्व्वाणि चराचरगुरु भगवंतं-भवानीपतिमभ्यर्च्य संसारस्यासारतांविचिंत्य प्रसन्नपुरस्थानविनिर्गताय: (य) वच्छ(त्स)सगोत्राय दासोदरसुतगोविंदाय सहसचाणाग्रामे वापीपुटके भूमि-हलवाहा १ एका शुल्केन सहा (ह) शासनेप्रदत्ता (॥) ····· लिखितमिद-कायस्थकांचनसुतवटेश्वरेण ॥ दूतकोत्र म (म) हासांधिविग्रहिक श्रीचंडशर्म्मणः (र्म्मा) ॥ श्री भीमदेवस्य" ।

हिंदी-आशय-"संवत ९३ चैत्रसुदि ११ रविवार को समस्त राजपरंपरासे भूषित महाराजाधिराज श्री भीमदेव अणहिलपाटक[1] (में रहते समय) अपने

---

१ अणहिलपाटक प्राचीन काल में गुजरात के चावड़े और सोलंकी राजाओं की राजधानी थी, जिसको अणहिलवाड़ा भी कहते थे। मुसलमान लेखकों का नहरवाला भी उसी का सूचक है। अब इसको पाटण कहते हैं और यह बड़ौदा राज्य के अंतर्गत है।

अधीन के कच्छ-मंडल (देश) के सब राजपुरुषों, ब्राह्मणों तथा वहां की प्रजा को यह सूचित करता है कि आज संक्रांति (मेष-संक्रांति) के पर्व पर चराचर के गुरु भगवान शंकर का पूजन और संसार की असारता का विचार कर प्रसन्नपुर स्थान से निकले हुए वच्छ (वत्स)गोत्र वाले दामोदर के पुत्र गोविंद को सहचाणा गांव में धावड़ी के पिछोर की एक हलवाहा[1] भूमि शासन के साथ दान की।......... इस (दान पत्र) को कायस्थ कांचन के पुत्र वटेश्वर ने लिखा। इसका दूतक[2] महासांधिविग्रहिक[3] श्री चंडशर्मा है। (हस्ताक्षर) श्री भीमदेव के"

इस लेख से, निश्चित रूप से, इतना ही पाया जाता है कि भीमदेव-नामक किसी राजा ने, जो अणहिलपाटक में रहता था (अर्थात् जिसकी राजधानी वह नगर था) और जिसके अधीन कच्छ-देश था, संवत् ९३ में भूमि-दान किया।

अणहिलपाटक को चावड़ा (चापोत्कट, चाप)-वंशी राजा वनराज ने वि० सं० ८२१ वैशाख शुक्ला २ को[4] को बसाया था। अतएव विक्रम-संवत् ९३ में तो उक्त नगर का विद्यमान होना सर्वथा असंभव है। उक्त दानपत्र की लिपि वि० सं० की ११ वीं शताब्दी के आसपास की है। ऐसी दशा में या तो उसका संवत ९३ विक्रम-संवत नहीं, किंतु और कोई संवत् हो, या वि० सं० की शताब्दियों के अंक छोड़ कर उसमें ऊपर के ही अंक लिखे गये हों। ये ही कल्पनाएँ उसके संवत् के विषय में हो सकती हैं। अणहिलपाटक

---

१ राजपूताने और गुजरात के पुराने दानपत्रों में कभी-कभी भूमि की नाप हलवाहों में दी हुई मिलती है। एक हलवाहे में कितनी भूमि गिनी जाती थी, इसका यथार्थ निर्णय तो नहीं हुआ; परन्तु ऐसा माना जाता है कि एक हल से एक दिन में जितनी भूमि जोती जाय, उसको एक हलवाहा कहते थे। एक हलवाहे में आधुनिक १० बीघे जमीन मानी जाती है।

२ दूतक उस पुरुष को कहते थे, जिसके द्वारा भूमि-दान की सनद (दानपत्र, ताम्रपत्र), तैयार करने की राजाज्ञा पहुँचती थी। दूतक के लिये देखो 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला, दूसरा संस्करण पृष्ठ १५२, और टिप्पण १०।

३ महासांधिविग्रहिक उस राजमंत्री को कहते थे, जिसको संधि (सुलह) और विग्रह (युद्ध) का अधिकार होता था।

४ बंबई गजेटियर, जि० १, पृ० १५१।

पर वि० सं० ८२१ से १०१७ तक[1] चावड़ों का राज्य रहा, और उसके पीछे सोलंकियों (चोलुक्यों) का, जिसकी समाप्ति वि०सं० १३५६, या उसके कुछ ही पीछे हुई। सोलंकी-वंश में भीमदेव नामके दो राजा वहाँ हुए, जिनमें से पहला भीमदेव सुलतान महमूद गजनवी की सोमनाथ की चढ़ाई के समय अणहिलपाटक का स्वामी था, और उसने वि०सं०१०७८ से ११२० तक राज्य किया। दूसरा भीमदेव, जिसको भोलाभीम भी कहते थे, वि०सं० १२३५ से १२९८ तक नाम मात्र को गुजरात का राजा रहा[2]। भीमदेव नाम वाले उक्त दो राजाओं में से वह दानपत्र किसका है, यही निर्णय करने की आवश्यकता है।

डॉ० फ़्लीट ने उक्त दान-पत्र का सम्पादन किया है। उसमें उन्होंने उसके राजा भीमदेव को उक्त नाम का दूसरा सोलंकी राजा माना है, और उसके सं० ९३ को सिंह सं. मानकर उक्त दान-पत्र को अमांत (दक्षिणी) वि.सं. १२६४ वर्तमान (१२६३ गत) का ठहराया है। परन्तु उक्त विद्वान् का यह अनुमान ठीक नहीं है। कारण, ई०स०१८७७ में डा० बूलर ने अणहिलपाटक (अणहिलवाडे) में राज्य करने वाले चौलुक्य (सोलंकी) राजों के ११ दान-पत्र इन्डियन एन्टिक्वेरी की छठी जिल्द (पृ०१९१–२१२) में प्रकाशित किए, जिन में एक भीमदेव पहले का भी है, जो वि० सं० १०८६ कार्तिकसुदी १५ का है। उसका लेखक कायस्थ कांचन का पुत्र वटेश्वर और दूतक महासांधिविग्रहिक चंडशर्मा है[3]। डॉ० फ्लीट वाले दान-पत्र के लेखक और दूतक भी वे ही दोनों पुरुष हैं। ऐसी दशा में वे दोनों दान-पत्र एक ही राजा, अर्थात् भीमदेव पहले, के हो सकते हैं। डॉ० फ्लीट वाले दान-पत्र का संवत् ९३ सिंह सं० नहीं, किंतु वि०स० १०९३ है, जिसमें शताब्दियों के सूचक अंक छोड़ दिए गए हैं। कितने ही और शिलालेखों में भी इसी तरह शताब्दियों के अंक छोड़ कर केवल बाकी के ही अंक लिखे मिलते हैं[4]। इस समय भी कभी-कभी शताब्दियों के अंकों

---

१ खड्गविलास प्रेस (बाँकीपुर) का छपा हुआ टॉड-राजस्थान, प्रथम खंड, पृ० ४५४-५६।

२ वही; पृ० ४३१–४०।

३ इंडियन् एंटिक्वेरी, जि० ६, पृ० १९४।

४ भारतीय प्राचीन लिपि-माला, पृ० १८२ और टिप्पण ६।

को छोड़ कर बाकी के ही अंक लिखे जाते हैं; जैसे कि ईस्वी सन् १६२२ को केवल २२, और वि०सं० १६७६ को ७६ लिखते हैं।

जिन शिला-लेखादि में इस तरह शताब्दियों के अंक छोड़ कर बाकी के ही अंक दिए गए हैं, उनके समय की संगति मिलाने के लिए कोई-कोई प्राचीन खोज करने वाले विद्वान् उनके संक्षेप से लिखे हुए संवतों को सिंह-संवत् मान लेते हैं, परन्तु उसमें वे बहुधा धोखा ही खाते हैं। ऐसे संवतों का निर्णय करने में यह ध्यान रखना परम आवश्यक है कि सिंह-संवत् का प्रचार काठियावाड़ से बाहर कभी नहीं हुआ।[1]

माधुरी, लखनऊ [मा०पत्रिका]
(वर्ष १, खण्ड १, संख्या १, वि०सं० १६७६, ई०स०१६२२)

---

१ वही; पृ० १८२ (सिंह-संवत् के विशेष वृत्तांत के लिये देखो भारतीय प्राचीन लिपि-माला, पृ० १८२–८४)।

३ भीमदेव के दान-पत्र का समय

'माधुरी' की प्रथम संख्या में[1] मैंने 'डाक्टर फ्लीट और भीमदेव का दान-पत्र' शीर्षक लेख प्रकाशित किया था; जिसमें यह बतलाने का यत्न किया गया है कि "बंबई की एशियाटिक सोसाइटी के संग्रह के संवत् ९३, चैत्र-सुदि ११, रविवार, के दान-पत्र संपादन करते समय प्रसिद्ध पुरातत्व-वेत्ता डॉ० फ्लीट ने उसके संवत् को 'सिंह-संवत्' मान कर उसका ठीक समय वि० सं० १२६४ वर्तमान (१२६३ गत) माना और उसे भीमदेव (दूसरे) का ठहराया है। परंतु उस दान-पत्र के प्रकाशित होने से १२ वर्ष पूर्व डॉ० बूलर ने, गुजरात के चौलुक्य (सोलंकी) वंशी राजों के, जो ११ दान-पत्र प्रकाशित किए थे, उनमें एक भीमदेव (प्रथम) का वि० सं० १०८६, कार्त्तिकसुदि १५, का भी था। डॉ० बूलर के प्रकाशित किए हुए राजा भीमदेव (प्रथम) के दान-पत्र को कायस्थ कांचन के पुत्र वटेश्वर ने लिखा था और उसका दूतक महासांधिविग्रहिक चंड शर्मा था। डॉ० फ्लीट के प्रकाशित किऐ हुए दान-पत्र का लेखक भी वही कायस्थ कांचन का पुत्र वटेश्वर और दूतक भी वही महासांधिविग्रहिक चंड शर्मा होने से वह दान-पत्र भी भीमदेव (प्रथम) का ही होना चाहिए और उसका संवत् ९३ 'सिंह-संवत्' नहीं, किंतु वि० सं० १०९३ होना चाहिए; जिसमें शताब्दियों के अंकों को छोड़ कर बाक़ी के ही अंक लिखे गए हैं। ऐसे उदाहरण कभी-कभी प्राचीन शिलालेखों तथा दान-पत्रों में मिल जाते हैं।"

जोधपुर-निवासी प्रसिद्ध इतिहास-वेत्ता मुंशी देवीप्रसादजी ने गुजरात में चौलुक्यों का राज्य स्थिर करने वाले मूलराज (प्रथम) के एक दान-पत्र के आधार

---

१ पृ० ९-११।

पर मेरे कथन के ठीक होने[1] की सूचना माधुरी के विद्वान् संपादकों को दी।

फिर श्रीयुत महावीरप्रसाद श्री वास्तवजी बी० एस० सी० ने माधुरी की चौथी संख्या में, 'भीमदेव के दान-पत्र का समय'-शीर्षक लेख में, दीवान बहादुर स्वामी कन्नु पिल्ले की 'इंडियन् क्रॉनॉलॉजी' नाम अँगरेजी सारणी की सहायता से उक्त दान-पत्र के संवत् का निर्णय करने का यत्न करते हुए मेरे कथनानुसार उसका भीमदेव (दूसरे) का होना तो स्वीकार किया, परंतु उसके संवत् ६३ को वि० सं० १०६३ न मान कर उसका ठीक समय वि० सं० १११६ होना बतलाया[2]। हिंदी-साहित्य में प्राचीन-शोध-सम्बन्धी विषय अभी प्रारंभिक दशा में ही है और उसमें अनुराग रखने वाले हिंदी-प्रेमियों की संख्या भी बहुत अल्प है। ऐसी दशा में श्री वास्तवजी का यह लेख पढ़ कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। यदि सामयिक पत्रों में ऐसी चर्चा होती रहे, तो हमारे साहित्य में प्राचीन शोध की श्री-वृद्धि अवश्य होगी। किंतु ऐसे विषयों पर लेख लिखने वालों के लिये यह बहुत ही आवश्यक है कि जो कुछ लिखा जाय, वह स-प्रमाण हो। श्री वास्तवजी के उक्त लेख में कुछ ऐसी बातें लिखी गई हैं, जिनसे प्राचीन शोध में रुचि रखने वाले विद्यार्थियों को लाभ की अपेक्षा हानि होने की विशेष संभावना है। अतएव उक्त दान-पत्र के संवत् ६३ के विषय में विचार करने से पूर्व मैं उन बातों पर संक्षेप से लिखना आवश्यक समझता हूँ—

(अ) श्री वास्तवजी ने लिखा है "सूर्य-सिद्धांत के अनुसार दिन का प्रारंभ १२ बजे रात से ही होजाता है।" मुसलमानों की तारीख़ का प्रारंभ सदा सूर्यास्त से और ईसाइयों की तारीख़ का मध्य-रात्रि से होता है; परंतु हिंदुओं के दिन, अर्थात् तिथि, का प्रारंभ किसी नियत समय से होता ही नहीं। कारण, हमारे यहाँ तिथि की गणना इस प्रकार से है कि जब सूर्य और चंद्रमा का ठीक समागम होता है, अर्थात् दोनों बिंबों का केन्द्र ज्योतिष की परिभाषा के अनुसार-एक सीध में आता है, तब उसको 'दर्श' या 'अमावास्या' कहते हैं। फिर चंद्रमा अपनी स्पष्ट गति से आगे बढ़ता है और जितने काल में सूर्य और

१ माधुरी वर्ष १, संख्या ३, पृ० ३१३।

२ माधुरी, वर्ष १, खंड १, संख्या ४, पृ० ३६४-६६।

चंद्र के बीच का अंतर १२ अंश अर्थात् ७२० कला, का हो जाता है, उतने ही समय को एक तिथि कहते हैं। यह अंतर बढ़ते-बढ़ते १८० अंश का हो जाता है, अर्थात् सूर्य और चंद्रमा ठीक आमने-सामने आजाते हैं, तव पूर्णिमा होती है। सूर्य और चंद्रमा की स्पष्ट गति, उनकी कक्षा पर के उनके स्थान के अनुसार, घटती-वढ़ती रहती है। इससे हमारी तिथि का प्रारंभ सदा निश्चित समय पर नहीं होता। तिथियों की लंबाई घटती-वढ़ती रहती है और उनमें क्षय और वृद्धि भी होती रहती है। यदि हमारी तिथियों का प्रारंभ मध्य-रात्रि से माना जाता, तो हमें जटिल पंचागों की आवश्यकता ही न रहती, ईसाइयों की जंत्री-जैसे छोटे-से पंचाग से ही हमारा काम चल जाता और श्राद्ध-व्रत आदि धार्मिक कार्य उसी दिन होंगे, या तिथि की सूर्योदय के वाद की घड़ियों के अनुसार उससे एक दिन पहले होंगे,यह जानने का झंझट ही न रहता। हिंदुओं के दिन अर्थात् तिथि-का प्रारंभ मध्य-रात्रि से नहीं होता।

श्री वास्तवजी ने यह लिखने की कृपा भी न की कि कौन से सूर्य-सिद्धान्त के अनुसार हमारे दिन, अर्थात् तिथि का प्रारंभ १२ बजे रात से ही हो जाता है। सूर्य-सिद्धान्त दो हैं; एक तो वह, जिसका विवरण वराहमिहिर ने अपनी 'पंच-सिद्धांतिका' में किया है– जो प्राचीन था, परन्तु अब मिलता नहीं और दूसरा नवीन, जो अब उपलब्ध है।

ऊपर का विषय ज्योतिष का है, जिसमें मेरी कुछ भी गति नहीं है। यदि कोई ज्योतिष-शास्त्र के विद्वान् इस विषय पर अधिक प्रकाश डालने की कृपा करें, तो हिंदी के प्रेमियों को उससे विशेष लाभ होगा।

(आ) श्री वास्तवजी ने भीमदेव के उक्त दान-पत्र को वि०सं० १११६ का ठहराने की खींच-तान में यह लिखा है कि "इस दान-पत्र की प्रति-लिपि में 'संसारस्यासारतांविचिंत्य'–शब्दावली वड़े महत्व की है। इससे यह ध्वनि निकलती है कि राजा काफी वूढ़े हो चुके थे और उन्हें संसार से वैराग्य हो चुका था। इस विचार से भी दान-पत्र का समय १११६ वि० सं० उचित प्रतीत होता है; क्योंकि इसके एक वर्ष वाद ही, ११२० वि०में, राजा का राज्य-काल अथवा राजा स्वयं समाप्त हो जाता है।"

श्री वास्तवजी का यह कथन न तो ठीक है और न भीमदेव का काफी बूढ़ा होना सूचित करता है। दान का देने वाला संसार को असार या अनित्य और दान की कीर्ति को नित्य या चिरस्थायी मानकर भूमि-दान करता है। पुराने दान-पत्रों में बहुधा ऐसे वाक्य मिल जाते हैं; परन्तु उनका दान करने वाले की युवा या वृद्धावस्था से कोई संबंध नहीं रहता। उदाहरण के लिए हम कुछ दान-पत्रों से ऐसे अवतरण नीचे उद्धृत करते हैं; जिनसे यह बात स्पष्ट हो जायगी—

(१) मालवे के प्रसिद्ध विद्यानुरागी राजा भोजदेव के वि० सं० १०७६, माघसुदि ५, के दान-पत्र में—

"यथाऽस्माभिः कोंकणविजयपर्वणि श्ना (स्ना) त्वा चराचरगुरुं भगवंतं भवानीपतिं समभ्यर्च्य संसारस्यासारतांदृष्ट्वा[1] × × ×"

भोज का देहांत वि० सं० १११० के आस-पासहुआ था, इसलिए वि०सं० १०७६ में वह काफी बूढ़ा नहीं हुआ। बल्कि उसे राज्य सिंहासन पर बैठे भी अधिक समय व्यतीत नहीं हुआ था।

(२) श्रीमद्धारायामवस्थितैरस्माभिःस्नात्वा चराचरगुरुं भगवंतं भवानीपतिं समभ्यर्च्य संसारस्यासारतांदृष्ट्वा[2] × × ×"

(३) उसी राजा भोज के पिता सिंधुराज के बड़े भाई वाक्पतिराज देव (मुंज, अमोघवर्ष) के वि०सं० १०३१, भाद्रपदसुदि १४, के दानपत्र में—

"श्रीमदुज्जयिनीसमावासितैःशिवतडागाम्भसि स्नात्वा चराचरगुरुं भगवंतं भवानीपतिं मभ्यर्च्य संसारस्याभारतांदृष्ट्वा[3] × × ×"

(४) उसी राजा भोज के वंशधर अर्जुनदेव के वि०सं०१२७२, भाद्रपदसुदि १५, के दान-पत्र में—

---

१ एपिग्राफिया इंडिका, जि० ११, पृ० १८२-१८३।

२ महामहोपाध्याय पंडित दुर्गाप्रसादजी और काशीनाथ पांडुरंग पर्व-संपादित प्राचीन लेख माला, भाग १, पृ० ५।

३ वही; पृ० ३।

"रेवाकपिलयाः संगमे स्नात्वा भगवंतं भवानीपतिं ओंकारं लक्ष्मिपतिं चक्रस्वामिनं चाभ्यर्च्यं संसारस्यासारतांदृष्ट्वा[1] × × ×"

इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं; परन्तु उनसे लेख को बढ़ाने की आवश्यकता नहीं।

(इ) श्री वास्तवजी ने उक्त दान-पत्र के संवत ९३ को न तो सिंह-संवत् ९३ और न वि०सं० १०९३ ही माना; किंतु उसके संवत् को १११९ ठहराने की खींच-तान में एक नए ही संवत् की शृष्टि खड़ी करके लिखा कि "रही दान-पत्र में लिखे ९३ संवत् की बात। इसके विषय में तो यही जान पड़ता है कि यह संवत वहीं का स्थानीय संवत् है। इसका आरंभ शायद, इसी वंश की राजगद्दी पूर्ण रूपसे स्थापित होने पर, १०२६ वि० (१११९–९३) में, किया गया हो; क्योंकि अणहिलपाटक में १०१७ वि० तक तो चावड़ों का ही राज्य रहा। उसके पीछे ८-९ वर्ष सोलंकी-घराने के प्रथम राजा को अपना राज्य दृढ़ करने में लगे होंगे और राज्य के दृढ़ होने तथा छोटे-छोटे राजों के पूर्णतया अधीन होने के पश्चात् यह संवत् चलाया गया होगा।"

यह कथन भी प्रमाण-शून्य कल्पना-मात्र है। जिन-जिन बड़े राजों ने नया संवत् चलाया, उन्होंने उसको बड़े महत्व की घटना समझ कर, उसके साथ अपना या अपने वंश का नाम जोड़ने में अपना गौरव समझा; जैसे–हर्ष-संवत, लक्ष्मणसेन-संवत्, चालुक्य-विक्रम-संवत्, गुप्त-सम्वत्, गांगेय-सम्वत्, कलचुरि-संवत् आदि। यदि गुजरात में चौलुक्यों का राज्य स्थिर करने वाले मूलराज (प्रथम) ने कोई स्थानीय या नया संवत् चलाया होता तो मूलराज और उसके वंशजों के शिलालेखों तथा दान-पत्रों में वही संवत मिलना चाहिए था; परंतु वैसा कहीं पाया नहीं जाता। स्वयं मूलराज (प्रथम) के तीन दान-पत्र मिल चुके हैं, जिनमें से एक वि० सं० १०३०, भाद्रपदसुदि ५, का[2] है; दूसरा वि० सं० १०४३, माघवदि १५ (अमावस्या), का[3] है; तीसरा वि० सं० १०५१, माघ-

---

१ म. म. पं० दुर्गाप्रसादजी और काशीनाथ पांडुरंग पर्वणि संपादित; प्राचीन लेखमाला, भाग १, पृ० ८।

२ वियेना ओरिएंटल जर्नल्, जि० ५, पृ० ३००।

३ इंडियन एंटिक्वेरी, जि० ६, पृ० १९१।

सुदि १५ का[3] है। यदि मूलराज ने अपनी राजगद्दी पूर्ण-रूप से स्थापित होने पर, श्री वास्तवजी के कथनानुसार, वि० सं० १०२६ में अपना नया संवत् चलाया होता तो वह अपने दान-पत्रों में जो तीनों, वि० सं० १०२६ के पीछे के हैं, अपने चलाये हुए नए संवत् का ही अवश्य प्रयोग करता। परंतु ऐसा न करके उसका वि० सं० को ही अपने दान-पत्रों में लिखना यही बतलाता है कि उसने कोई नया संवत् नहीं चलाया और न किसी अन्य स्थानीय संवत् का ही प्रयोग किया। मूलराज (प्रथम) के स्थापित किए हुए गुजरात के चौलुक्यों (सोलंकियों) के राज्य की समाप्ति अलाउद्दीनखिलजी के समय, वि० सं० १३५३ में हुई। उस समय तक के मूलराज के वंशज चौलुक्य-राजों के कई दान-पत्र और बहुत से शिला-लेख मिल चुके हैं; जिनमें वि० सं० का ही प्रयोग होने से मूलराज के चलाए हुए नए या स्थानीय संवत् की कल्पना सर्वथा असंभव है। यदि ऐसा हुआ होता, तो कहीं-न-कहीं तो उसका नाम या प्रयोग अवश्य मिलता।

श्री वास्तवजी ने उक्त दान-पत्र के संवत् ९३ पर मुझ से फिर विचार करने का आग्रह किया है, अतएव उस विषय में फिर कुछ कहना आवश्यक है। जब कि यह निश्चित है कि यह दान-पत्र भीमदेव (प्रथम) का ही है और जिसे श्री वास्तवजी भी स्वीकार करते हैं, तब उसका संवत् ९३ सिंह-संवत् तो नहीं है। यह भी ऊपर बतलाया जा चुका है कि मूलराज (प्रथम ने कोई नया या स्थानीय संवत् भी नहीं चलाया। ऐसी दशा में यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि संवत् ९३ किसी संवत् का सूचक नहीं है। जब भीमदेव (प्रथम) का एक दान-पत्र वि० सं० १०८६ का मिल चुका और उसी लेखक का लिखा हुआ सं० ९३ वाला दान-पत्र है और दोनों का दूतक भी एक ही पुरुष है, तो उक्त दान-पत्र को वि० सं० १०९३ का मानने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। अब रही बात तिथि, वार और संक्रांति के मिलने की। इस विषय में श्री वास्तवजी का कथन है कि "ओझाजी का यह तर्क कि दोनों दान-पत्र भीमदेव पहले के हैं; ज्योतिष से भी सिद्ध होता है; परंतु संवत का मेल नहीं मिलता। वि० सं० १०९३ में सूर्य-सिद्धान्त के अनुसार मेष की संक्रांति वैशाख वदि ८, मंगलवार, को होती है। परंतु दान-पत्र

---

१ एपिग्राफिया इंडिका, जि० १०, पृ० ७८।

में यह स्पष्ट लिखा है कि दान चैत्रसुदि ११, रविवार को, संक्रांति -पर्व के समय किया गया। इसलिये इसका संवत् १०६३ वि० नहीं हो सकता। × × × अब देखना यह है कि पहले भीमदेव के राज्य-काल में ऐसा संयोग कब पड़ा था। ओझा-जी के कथनानुसार इसका राज्य काल १०७८ वि० से १२२० तक है। इस अवधि में मेष की संक्रांति संवत् १११६ वि० की चैत्रसुदि ११ शनिवार, की रात को, १२ बजे के पीछे, ४५ मिनट के लगभग पर, लगी थी। इसलिये संक्रांति का पुण्य-काल दूसरे दिन, रविवार को प्रातः काल था। सूर्य-सिद्धांत के अनुसार दिन का प्रारंभ १२ बजे रात ही से हो जाता है; इसलिये यह मेप संक्रांति असल में इतवार को ही पड़ी। चैत्र-सुदि ११ शनिवार की रात को, ५५ घड़ी ३० पल, अर्थात् सवा चार बजे प्रातः काल तक थी, जब कि रविवार का ब्राह्म-मुहूर्त था। इसलिये अब इसमें तनिक भी संदेह नहीं रह जाता कि रविवार का ब्राह्म-मुहूर्त, संक्रांति और एकादशी के संयोग से, दान के लिये बड़ा शुभ समझा गया होगा और इसी समय भूमि-दान का संकल्प किया गया होगा।"

श्री वास्तवजी का यह कथन भी संदेह रहित नहीं है। शिला-लेखों और दान-पत्रों में विक्रम संवत् के साथ के मास, पक्ष, तिथि, वार आदि की जांच करने में कई बातों का विचार करना पड़ता है; क्योंकि कभी वि० सं० के वर्ष वर्त-मान लिखे मिलते हैं, तो कभी गत। कहीं मास अमांत होते हैं, तो कहीं पूर्णिमांत; कहीं वर्ष का प्रारंभ चैत्र-शु० १ से, कहीं आषाढ़-शु० १ से और कार्तिक-शु० १ से होता है। इन सब बातों को ध्यान में रखकर प्रत्येक प्रकार से जाँच करना परम आवश्यक है। श्री वास्तवजी ने यह कहीं नहीं लिखा कि उन्होंने उक्त दान-पत्र के संवत् आदि को कौन-सी शैली का मानकर, सारिणी से उक्त दान-पत्र को वि०सं० १११६ का ठहराया। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि राजा लोग दान का संकल्प तो समय पर ही करते हैं, परन्तु दान-पत्र खुदवाने का कोई निश्चित समय नहीं होता। ऐसी दशा में यदि दान-पत्र के खुदवाए जाने के समय पक्ष, तिथि, वार आदि में कहीं कुछ भी अशुद्धि रह गई, तो उनका गणित से ठीक मिलना असंभव हो जाता है। दान-पत्र क स्याही से लिखने वाले भी कई अशुद्धियाँ कर जाते हैं, जो खोदते समय ज्यों की त्यों रह जाती हैं। यदि लेखक ने पक्ष, तिथि, वार आदि लिखने में कुछ भी अशुद्धि की, तो उनका जाँच की कसौटी पर मेल खाना भी

सम्भव नहीं। दान-पत्र सैकड़ों बरसों के पुराने होने से कभी-कभी जंग से भरे हुए मिलते हैं और कहीं-कहीं तो अक्षर भी अस्पष्ट हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में यदि सुदी, बदी या तिथि के अंक सन्देह-युक्त हों और उनके पढ़ने में कुछ भी फर्क रह गया, तो भी वैसा ही होता है। श्री वास्तवजी के कथनानुसार वि० सं० १११६ में चैत्रसुदि ११ को, १२ बजे के पीछे ४५ मिनिट के लगभग पर मेष-सक्रांति लगी थी। उस दिन भी रविवार नहीं, किंतु शनिवार था; जो ताम्रपत्र के वार से नहीं मिलता। यदि संक्रान्ति का प्रवेश रात्रि में होने के कारण सक्रांति का पुण्यकाल दूसरे दिन, अर्थात रविवार को माना गया, तो उस दिन एकादशी नहीं, किन्तु द्वादशी थी। अतएव श्री वास्तवजी का कथन ठीक नहीं कहा जा सकता। पंचांगों में जिस उदयात् तिथि को सक्रांति का प्रवेश होता है, उसी तिथि और वार के साथ उसका उल्लेख करने की परिपाटी अब तक चली आती है, चाहे सक्रांति के प्रवेश के पूर्व ही वह तिथि समाप्त क्यों न हो चुकी हो। पं० श्रीधर शिवलाल के वि०सं०१६७६ के चंडांशु चंडू-पंचांग में माघशु० ११ शनिवार, को ८ घड़ी, ४२ पल होना लिखा है। उसी रात को ४६ घड़ी ५५ पल पर मकर-संक्रांति का प्रवेश है, तो भी नीचे संक्रांति के वर्णन में लिखा है कि "माघ-कृष्णा ११ शनौ मकरेऽर्कः प्रवे०।"

उत्तरी (पूर्णिमांत) वि०सं० १०६३ वर्तमान (१०६२ गत) चैत्रसुदि १२ को रविवार था और उसी रात्रिको मेष-सक्रांति भी लगी थी। सम्भव है ताम्रपत्र के खुदने या पढ़ने में १२ के स्थान पर ११ हो गया हो। इसी अशुद्धि के कारण ११ के साथ गणित से योग नहीं मिलता; किंतु ताम्र-पत्र का सम्वत् १०६३ ही होना चाहिए।

माधुरी, लखनऊ [मासिक पत्रिका],
वर्ष १, खंड २, संख्या १, वि.सं. १६७६, ई.स.१६२२

———

४ चित्तौड़ के क़िले पर गुजरात के सोलंकी राजाओं का अधिकार

चित्तौड़ के इतिहास प्रसिद्ध दुर्ग से गुजरात के सोलंकी राजा कुमारपाल के दो शिलालेख मिले हैं, जिनमें से एक विक्रम संवत् ११०७ क है। उसमें सपादलक्ष (अजमेर राज्य) के राजा अनाक (आना; अर्णोराज) को जीत कर चित्तौड़ की शोभा को देखने के लिये कुमारपाल के वहां जाने और वहां के शिव-मन्दिर को एक गांव भेंट करने का उल्लेख है[1]। यह लेख छोटा है और २८ पंक्तियों में लिखा गया है। दूसरा बड़ा शिलालेख, जो मुझे वहां मिला, वह इस समय उदयपुर के विक्टोरियाहाल नामक संग्रहालय में सुरक्षित है। उसके मध्य का कुछ अंश घिस गया है, तो भी उसका अधिकांश बचा हुआ है। उस लेख में संवत नहीं है, तो भी उससे जान पड़ता है कि अपुत्र होने के कारण सिद्धराज (जयसिंह) ने सोमनाथ जाकर पुत्र प्राप्ति के लिये शिव से प्रार्थना की, जिस पर सोमनाथ ने उससे कहा कि तेरे पुत्र न होगा और तेरे बाद कुमारपाल गुजरात का स्वामी बनेगा। कुमारपाल की तरफ से चित्तौड़ में जो शासक रहता था, उसका भी उसमें उल्लेख है[2]। इस लेख से यह निश्चय होता है कि चित्तौड़ के सुप्रसिद्ध दुर्ग पर कुमारपाल का अधिकार था और वहां उसका एक अधिकारी भी नियत था।

मेरुतुंग-रचित 'प्रबंधचिंतामणि' में लिखा मिलता है कि कृतज्ञ चक्रवर्ती

---

१ एपिग्राफिया इंडिका; जिल्द २ पृ० ४२२-२४।

२ यह लेख अब तक प्रकाशित नहीं हुआ।

राजा कुमारपाल ने अपनी रक्षा करने वाले आलिंग कुम्हार को सात सौ[1] गांव-वाला चित्रकूट (चित्तौड़) का पट्टा दिया। उसके वंशज कुम्हार होने से शरमाते थे[2]। यह कथन भी कुमारपाल के उक्त दुर्ग पर अधिकार होने की पुष्टि करता है।

अब यह निर्णय करने की आवश्यकता है कि चित्तौड़ के क़िले पर कुमार-पाल का अधिकार किस तरह हुआ। 'कुमारपालचरित', 'कुमारपालप्रबंध', गुज-रात के सोलंकी राजाओं के इतिहास-सम्बन्धी अन्य संस्कृत ग्रंथों तथा शिलालेखों में कहीं भी इस बातका उल्लेख नहीं मिलता कि चित्तौड़ का क़िला, किस सोलंकी राजा ने किस से और कब लिया था। इस जटिल समस्या को हल करना कठिन है, तो भी मेवाड़ (उदयपुर राज्य), मारवाड़ (जोधपुर राज्य) तथा आबू के शिलालेखों और जिनप्रभसूरि-रचित 'तीर्थकल्प' से इस सम्बन्ध में सहायता मिल सकती है।

उदयपुर राज्य के चीरवा गांव के विष्णु-मन्दिर में मेवाड़ के गुहिल वंशी राजा समरसिंह के राज्य-समय का विक्रम संवत १३३० कार्तिकसुदि १ का शिलालेख है। उसमें मेवाड़ की प्राचीन राजधानी नागदा (नागद्रह) और चित्तौड़ के तलारक्षों (फौजदारों) के वंश का विस्तारपूर्वक वर्णन है। चित्तौड़ के फौजदार मदन के सम्बन्ध में उसमें लिखा है कि निष्पापी मदन, रत्न का छोटा भाई था, उसने राजा समरसिंह की कृपा से चित्तौड़ की वंश परम्परागत तलारता (फौजदारी) प्राप्त की और श्री भोजराज[3] के बनवाये हुए 'त्रिभुवननारायण' नामक शिव-मंदिर में अपने कल्याण के लिये वह सदाशिव-पूजन किया करता था[4]।

---

१ संभव है इस संख्या में अतिशयोक्ति हो।

२ प्रबंधचिन्तामणि; पृष्ठ १६६, (बंबई का संस्करण)।

३ यह भोजराज मालवे का परमारवंशी राजा था।

४ रत्नानुजोस्ति रुचिराचारप्रख्यातधीरसुविचारः।
मदनःप्रसन्नवदनः सततं कृतदुष्टजनकदनः ॥ २७ ॥........॥
श्रीचित्रकूटदुर्गे तलारतां यः पितृक्रमायतां।
श्रीसमरसिंहराजप्रसादतः प्राप निः पापः ॥ ३० ॥

इस लेख पर से अनुमान होता है कि मालवे के परमारवंशी राजा भोज ने चित्तौड़ के क़िले में त्रिभुवननारायण नामक शिव-मन्दिर बनवाया था। त्रिभुवन-नारायण उस राजा का उपनाम[1] (विरुद) था, जिससे सम्भव है कि उक्त विरुद से उस मन्दिर का नाम भी 'त्रिभुवननारायण' रक्खा गया हो।

चित्तौड़ के क़िले के रामपोल दरवाज़े के बाहर नीम के वृक्ष वाले चबूतरे पर पड़ा हुआ मेवाड़ के राजा समरसिंह के समय का विक्रम संवत् १३०८ माघ-सुदि[1] १० का एक शिलालेख संवत् १९७८ में मुझे मिला। उसकी दाहिनी ओर का कुछ अंश नष्ट होजाने से प्रत्येक पंक्ति के अन्त में कहीं एक और कहीं दो अक्षर जाते रहे और बीच के कुछ अक्षर भी कहीं-कहीं बिगड़ गये हैं, तिस पर भी उसका संवत् बच गया है और उससे पाया जाता है कि 'महाराजाधिराज श्री समरसिंह देव के राज्य-समय प्रतिहार (पडिहार) वंशी महारावत राजश्री······राज० पाता के पुत्र राज० (राजपुत्र) धारसिंह ने श्री भोजस्वामी देव जगती ('भोज-स्वामी' नामके अथवा राजा भोज के बनवाये हुए देव मंदिर) में प्रशस्ति पट्टिका सहित बनवाया[2]।

अब यह निश्चय करना आवश्यक है कि मालवे के राजा भोज ने चित्तौड़ में मंदिर बनवाया, जिसका कारण क्या है? इस प्रश्न का समाधान जोधपुर राज्य के हस्तिकुंडी (हथुंडी) गांव से प्राप्त राष्ट्रकूट (राठोड़) राजा धवल और उसके पुत्र बालप्रसाद के समय के वि० सं० १०५३ माघसुदी १३ के शिलालेख से हो सकता है। उसमें लिखा है-'जब राजा मुंजने[3] मेदपाट (मेवाड़ के मदरूपी

श्रीभोजराजरचितत्रिभुवननारायणाख्य देवगृहे।
यो विरचयतिस्म सदाशिवपरिचर्यां स्वशिवलिप्सुः ॥ ३१ ॥

(चीरवा का शिलालेख)

१ भोजके उपनाम 'त्रिभुवननारायण' के लिये देखो 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (संवत् १९७६)[2] पृ० १-१८ में प्रकाशित 'परमार राजा भोज और उसका उपनाम त्रिभुवननारायण' शीर्षक मेरा लेख।

२ यह शिलालेख आजकल उदयपुर के विक्टोरिया हाल में सुरक्षित है।

३ मुंज मालवे के परमार राजा भोज के पिता सिंधुराज (सिंधुल) का बड़ा भाई था और उसका उपनाम 'वाक्पतिराज' था।

आघाट (आहाड़ मेवाड़ की प्राचीन राजधानी) नगर को नष्ट किया, तब धवल ने मेवाड़ के सैन्य की रक्षा की थी[1]।

इस कथन से अनुमान हो सकता है कि जब मालवे के राजा मुंज ने मेवाड़ पर चढ़ाई कर आहाड़ नगर को नष्ट किया, उस समय उसने चित्तौड़ का दुर्ग और उसके आसपास का मालवे से जुड़ा हुआ प्रदेश अपने राज्य में मिला लिया होगा, जिससे राजा भोज किसी-किसी समय चित्तौड़ में रहता हो और इसी कारण उसने वहां शिवालय बनवाया हो।

आबू पर विमलशाह के जैन मन्दिर के जीर्णोद्धार की वि० सं० १३७८ ज्येष्ठसुदि ६ की प्रशस्ति तथा जिनप्रभसूरि के 'तीर्थकल्प' से इस अनुमान की पुष्टि होती है।

इस प्रशस्ति में लिखा है कि 'चन्द्रावती नगरी का राजा धंधु (धंधुक) वीरों में अग्रणी था। जब उसने राजा भीमदेव की सेवा स्वीकार न की, तब भीमदेव उस पर अप्रसन्न हुआ। इसलिये वह मनस्वी (धंधुक) धारा के राजा भोज के पास चला गया। इसीसे राजा भीम ने प्राग्वाट (पोरवाल) वंशी मंत्री विमल को अर्बुद (आबू) का दंडपति (सेनापति) नियुक्त किया। उसने वि० सं० १०८८ में आबू शिखर पर आदिनाथका मन्दिर बनवाया[2]।

---

१ भंक्त्वाघाटं घटाभिः प्रकटमिव मदं मेदपाटे [3] भटानां।
जन्ये राजन्य जन्ये जनयति जनताजं (?) रणं मुंजराजे।
श्री ·····माणे प्रणष्टे हरिण इव मिया गुर्ज्जरेशे विनष्टे
तत्सैन्यानां स (श) रण्यो हरिरिव शरणे यः सुराणां व (ब) भूव॥ १०॥

एपिग्राफिया इंडिका; जिल्द १०, पृष्ठ १२-२१।

२ तत्कुलकमलमरालः कालः प्रत्यर्थिमंडलीकानां।
चन्द्रावतीपुरीशः समजनि वीराग्रणीर्धुंधुः॥ ५॥
श्रीभीमदेवस्य नृपस्य सेवामलभ्य (?) मानः किल धंधुराजः।
नरेशरोषाच्च ततो मनस्वी धाराधिपं भोजनृपं प्रपेदे॥ ६॥
प्राग्वाटवंशामरणं बभूव रत्नप्रधानं विमलाभिधान·· ॥ ७॥

इसी प्रसंग का वर्णन करते हुए जिनप्रभसूरि ने अपने तीर्थकल्प में लिखा है- "जब गुर्जरेश्वर (भीमदेव) राजानक धांधूक (.राजा धंधुक) पर क्रुद्ध हुआ, तब विमल ने उसे भक्ति-पूर्वक प्रसन्न किया और धंधुक को चित्रकूट (चित्तौड़) से लाकर उसकी आज्ञा से वि० सं० १०८८ में बड़े खर्च से विमलवसही नामक (आदिनाथ का) मन्दिर बनवाया [1]"।

उल्लिखित दोनों प्रमाणों पर विचार करते हुए ऐसा कह सकते हैं कि गुजरात के सोलंकी राजा भीमदेव (प्रथम) के साथ विरोध होने से आबू का परमार राजा धंधुक मालवे के परमार वंशी राजा भोज के पास, जो उस समय चित्तौड़ में रहता था, चलागया। उसे समझा कर उस समय विमल चित्तौड़ से वापस लाया और भीमदेव को सेवा स्वीकार कराने के बाद उसकी आज्ञा से उसने आदिनाथ का मन्दिर बनाया। इससे यह भी सिद्ध होता है कि उस समय चित्तौड़ का क़िला राजा भोज के आधीन था।

अब यह जानना जरूरी है कि मालवे के परमारों से चित्तौड़ का क़िला सोलंकियों के अधिकार में किस प्रकार आया।

गुजरात के ऐतिहासिक संस्कृत ग्रन्थों तथा गुजरात के और मालवे से मिले हुए शिलालेखों से जान पड़ता है कि जब सिद्धराज (जयसिंह) सोमेश्वर (सोम-

---

ततश्च भीमेन नराधिपेन प्रतापवह्निर्विमलो महामतिः।
कृतोर्बुदे दण्डपतिः सतां प्रियो प्रियंवदो नन्दतु जैनशासने ॥ ८ ॥
श्री विक्रमादित्य नृपाद्व्यतीते ऽष्टाशीतियाते शरदां सहस्रे।
श्री आदिदेवं शिखरेर्बुदस्य निवेसी(शि)तं श्रीविमलेन वंदे ॥ ११ ॥

आबू का शिलालेख (अप्रकाशित)

[1] राजानकश्रीधांधुके क्रुद्धं श्रीगुर्जरेश्वरं।
प्रसाद्य भक्त्या तं चित्रकूटादानिय तद्गिरा ॥ ३६ ॥
वैक्रमे वसुवस्वाशा १०८८ मितेऽब्देभूरि रैव्ययात्।
सत्प्रासादं सविमलवसत्याह्वं व्याधापयत् ॥ ४० ॥

तीर्थकल्प का अर्बुदकल्प।

नाथ) की यात्रा को गया था, उस समय मालव देश के राजा नरवर्म्मा[1] ने गुजरात पर चढ़ाई की। जयसिंह के मंत्री सांतूने उससे पूछा कि आप किस प्रकार लौट सकते हैं। उत्तर में राजा ने कहा कि यदि तुम अपने स्वामी की सोमेश्वर की यात्रा का पुण्य मुझे अर्पण कर दो, तो मैं लौट जाऊँ। यह वचन सुन कर मन्त्री ने उस राजा के पैर धोये और जल लेकर अपने स्वामी की सोमेश्वर की यात्रा का पुण्य उसके हाथ में अर्पण किया और मालवे के राजा को गुजरात से वापस लौटाया। जब राजा को इस बात की सूचना मिली, तब वह अपने मन्त्री पर क्रुद्ध हुआ, तो मन्त्री ने कहा कि-"हे राजन् मेरा अर्पण किया हुआ आपका पुण्य यदि दूसरे को मिल जाता हो, तो मैं उस राजा का तथा अन्य पुण्यवान पुरुषों का पुण्य आपको अर्पण करता हूं। अपने देश पर आते हुए शत्रु सैन्य को रोककर किसी भी प्रकार से देश की रक्षा करनी चाहिये।" इस उत्तर से राजा संतुष्ट हुआ, किन्तु मालवपति पर क्रुद्ध होकर सहस्रलिंग धर्मस्थान के चलते हुए कार्य को शीघ्र पूर्ण कराकर उसने मालवे पर चढ़ाई करदी[2]।

---

१ प्रबन्धचिन्तामणि में गुजरात पर आक्रमण करने वाले मालवे के राजा का नाम यशोवर्मा दिया है (पृ० १४२-४३) किन्तु वह विश्वसनीय नहीं है। क्योंकि जिन मंडनगणिके 'कुमारपाल-प्रबन्ध'। 'जयसिंहसूरि-रचित 'कुमारपाल-चरित्र'। चारित्रसुन्दरगणि-कृत 'कुमारपाल-चरित्र' तथा मेरुतुङ्ग की 'प्रबन्धचिन्तामणि' एवं राजशेखर के 'चतुर्विंशति-प्रबन्ध' से स्पष्ट है कि मालवे के राजाकी उल्लिखित चढ़ाई का बदला लेने के लिये सिद्धराज ने मालवे पर चढ़ाई कर १२ वर्ष तक लड़ने के अनन्तर उस देश को जीत लिया। यशोवर्मा, नरवर्मा का पुत्र था और नरवर्मा का देहान्त वि० सं० ११६० कार्तिकसुदि ८ के दिन हुआ, जब यशोवर्मा मालवे का राजा बना। सिद्धराज (जयसिंह) का देहावसान वि० सं० ११९९ में हुआ, जिससे निश्चित है कि यशोवर्मा का राज्याभिषेक होने के बाद सिद्धराज १२ वर्ष तक तो जीवित भी न रहा था। उज्जैन से मिले हुए सिद्धराज के वि० सं० ११९५ ज्येष्ठसुदि १४ के शिलालेख से स्पष्ट ज्ञान पड़ता है कि जयसिंह ने मालवे के राजा यशोवर्मा से मालव देश जीता था। उस शिलालेख से यह भी निश्चय होता है कि जयसिंह ने वि० सं० ११९५ से पूर्व मालवे के राजाके साथके युद्ध में विजय प्राप्त की। इस युद्ध के अन्त में यशोवर्मा क़ैद हुआ था, इसलिये इसका आरम्भ नरवर्मा के समय में होना चाहिये। युद्ध के समय नरवर्मा का अवसान हुआ और उसके बाद यशोवर्मा भी लड़ता रहा।

२ प्रबंधचिन्तामणि; पृ० १४२।

मालवे के राजा (नरवर्मा और यशोवर्मा) के साथ ही यह लड़ाई १२ वर्ष तक चलती रही, किन्तु जब वह धारा नगरी को जीत न सका, तब एक दिन राजा ने प्रण किया कि आज धारा नगरी का ध्वंस करने पर ही मैं भोजन करूंगा। राजा की यह प्रतिज्ञा पूर्ण करने में परमार वंश के ५०० राजपूतों, कई बुद्धिमान मन्त्रियों तथा बहुत सी सेना का नाश हुआ; तो भी संध्या समय तक राजा का प्रण पूर्ण न हो सका, इसलिये मन्त्रियों ने कृत्रिम धारा नगरी बनवाई और उसका ध्वंस करवा कर राजा को शान्त किया। फिर धारा नगरी का दुर्ग किस प्रकार जीता जाय, इस विषय की चर्चा मुंजालमन्त्री ने अपने गुप्तचरों द्वारा सब जगह फैलाई। इतने में वहां के एक पुरुष ने कहा कि यदि त्रिपोलिया दरवाजे से हमला किया जाय तो क़िला टूट सकता है। इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है। जब मन्त्री ने राजा को इस बात की सूचना दी, तब उसने उस-तरफ सेना भेजी और स्वयं यशः पटह नामक हाथीपर सवार होकर सामल-नामक महावत को हाथी द्वारा दरवाज़ा-तुड़वाने की आज्ञा दी। इस पर सामने त्रिपोलिया दरवाज़े के दो कींवाड़ों की लोहे का अर्गल हाथी से तुड़वा डाला। इस प्रकार अधिक-ज़ोर लगाने से वह हाथी तो मर गया, किन्तु द्वार टूट जाने से धारा नगरी के दुर्ग पर जयसिंह का अधिकार होगया। जयसिंह ने यशोवर्मा को क़ैद कर लिया[1] और उसे साथ लेकर १२ वर्ष के अनन्तर वह वापस पाटण (अणहिलवाड़ा, गुजरात की राजधानी) आया[2]।

यशोवर्मा को क़ैद करके सिद्धराज ने सारा मालव देश अपने राज्य में मिला लिया, उसी के साथ मालवे के परमार राजाओं के अधिकार में रहा हुआ चित्तौड़ का क़िला भी सिद्धराज के हाथ में चला गया। सिद्धराज के पीछे कुमारपाल

---

१ सोमेश्वर (कीर्तिकौमुदी का कर्ता) जिनमण्डनगणि तथा जयसिंहसूरि ने मालवे के राजा नरवर्मा को क़ैद करने का उल्लेख किया है, वह मानने योग्य नहीं है। उसके विरुद्ध आचार्य हेमचन्द्र ने अपने 'द्व्याश्रय महाकाव्य' में, अरिसिंह ने 'सुकृतसंकीर्तन' में और मेरुतुङ्गाचार्य ने 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' में यशोवर्मा का क़ैद होना लिखा है, यही मानने योग्य है। हेमचन्द्रसूरि, सिद्धराज जयसिंह के समय में जीवित और उसके दरबार का प्रतिष्ठित विद्वान् था।

२ प्रबन्ध-चिन्तामणि; पृष्ठ १४२-४४।

गुजरात का राजा हुआ और उसके अधिकार में वह क़िला भी रहा, जहां उसने अपना हाकिम भी नियत किया था। कुमारपाल के उपर्युक्त दो शिलालेख चित्तौड से मिलने का कारण वहां उसका अधिकार होना ही है।

गुजरात के सोलंकी राजाओं के पास से चित्तौड़ का दुर्ग कब और किस राजा के समय में मेवाड़ के गुहिलवंशी राजाओं के अधिकार में पीछा आया, इस विषय में गुजरात के ऐतिहासिक ग्रन्थ, शिलालेख तथा गैज़ेटियर में प्रकाशित गुजरात का प्राचीन इतिहास जरा भी सहायक नहीं है, तो भी मन्त्री तेजपाल के बनवाये हुए आबू पर के लूणवसही (नेमिनाथ) नामक जैनमन्दिर की प्रशस्ति, जिसकी रचना नागर जाति के गुर्जरेश्वर-पुरोहित सोमेश्वर ने की थी और उसी विद्वान् के रचे हुए 'सुरथोत्सवकाव्य' से कुछ सहायता अवश्य मिल सकती है। उपर्युक्त प्रशस्ति में लिखा है कि आबू के परमार राजा धारावर्ष के छोटे भाई प्रह्लादन की तलवार ने गुजरात के राजा की, जब कि सामन्तसिंह ने रणक्षेत्र में उसका बल तोड डाला था[1], रक्षा की।

इस लेख से इतना तो पाया जाता है कि सामन्तसिंह मेवाड़ का गुहिलवंशी राजा था। सामन्तसिंह ने गुजरात के किसी राजा का पराभव किया था, किन्तु उसमें उसका नाम नहीं बताया।

गुर्जरेश्वर-पुरोहित सोमेश्वर 'सुरथोत्सव काव्य' में अपने पूर्वज कुमार के विषय में लिखता है कि उसने कटुकेश्वर नाम के (अर्द्धनारीश्वर) की आराधना-कर अजयपाल राजा के रणांगण में लगे हुए घाव की दारुण पीड़ा शान्त की

---

१ शत्रुश्रेणीगलविदलनोन्निद्रनिस्त्रिंशधारो
धारावर्षःसमजनि सुतस्तस्य विश्वप्रशस्यः। ......३६॥
सामन्तसिंहसमितिक्षितिविश्वतौजः—
श्रीगूर्ज्जरक्षितिपरक्षणदक्षिणासिः।
प्रहलादनस्तदनुजोदनुजोत्तमारि —
चारित्रमत्र पुनरुज्ज्वलयांचकार ॥ ३८ ॥

एपिग्राफिया इंडिका; जि० ८, पृ० २११।

थी।[१] गुजरात के किसी भी इतिहास में अजयपाल के युद्ध में घायल होने का वर्णन नहीं मिलता, तो भी सोमेश्वर के उस कथन से उसका घायल होना निश्चित है।

ऊपर के दोनों कथनों का सारांश यही है कि सामन्तसिंह के साथ वाले युद्ध में गुजरात का सोलंकी राजा अजयपाल घायल हुआ था। ये दोनों राजा समकालीन थे। सामन्तसिंह के दो शिलालेख मिले हैं, जो वि० सं० १२२८ और १२३६ के हैं और अजयपाल ने वि० सं० १२३० से १२३३ तक राज्य किया था। इसलिये यह मानने में कोई बाधा नहीं है कि मेवाड़ के राजा सामन्तसिंह ने गुजरात के राजा अजयपाल को घायल कर उससे चित्तौड़ का क़िला लेकर उसे पीछे अपने राज्य में मिला लिया होगा। सामन्तसिंह के पीछे के मेवाड़ के गुहिलवंशी राजाओं के शिलालेख चित्तौड़ से मिले हैं, वे भी इस कथन को पुष्ट करते हैं।

सारांश यही है कि सिद्धराज (जयसिंह) और कुमारपाल के समय में चित्तौड़ का क़िला गुजरात के सोलंकियों के अधिकार में रहा, किन्तु निर्बल अजयपाल के समय में गुजरात के राजाओं से छूटकर वह क़िला पीछे मेवाड़ के राजाओं के अधिकार में आ गया[२]।

विशालभारत (मासिक पत्र), कलकत्ता,
वर्ष १, खण्ड २, संख्या ५,
अगहन, वि० सं० १९८५, नवंबर १९२८
पृ० ६०५-९

---

(१) यः शौर्यसंयमपटुः कुटकेश्वराख्य —
मराध्य भूवरसुताघटितार्धदेहम्।
तां दारुणामपि रणाङ्गणजातघात —
व्रातव्यथामजयपालनृपादपास्थात्॥ ३२॥

काव्यमाला में प्रकाशित 'सुरथोत्सव'; सर्ग १५।

उसी पुस्तक में ऊपर उद्धृत किए हुए श्लोक की टिप्पणी में लिखा है —

"सामंतसिंहे युद्धेहि श्री अजयपालदेवः प्रहार पीड्या मृत्युकोटिमागतःकुमार नाम्नापुरोहितेन श्री कुटकेश्वरमाराध्य पुनःसजीवितः।"

और देखो परमार प्रह्लादनदेव-रचित 'पार्थपराक्रमव्यायोग' की चिमनलाल डी० दलाल-लिखित अंग्रेजी भूमिका, पृ० ४ (गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज में प्रकाशित)।

२ यह लेख गत अक्टूबर मास के अन्त में नवीं गुर्जर साहित्य-परिषद् (नड़ियाद) में पढ़े गये मेरे गुजराती निबंध का हिन्दी अनुवाद है।

सम्पादकीय टिप्पण

1 यह शिलालेख वि० सं० १३५८ माघसुदि १० का है (देखो 'पृथ्वीराज रासो का निर्माण काल' शीर्षक निवन्ध, पृ० ६३ टिप्पण ।) संभव है विशाल-भारत में निबंध छपते समय लेखक या प्रूफरीडिंग की असावधानी से यह भूल रह गई हो ।

2 'परमार राजा भोज उपनाम त्रिभुवननारायण' शीर्पक निवंध, काशी ना० प्र० पत्रिका (न० संस्करण) भाग ३, वि० सं० १९७९ = ई० स० १९२२-२३ में प्रकाशित हुआ है । मूल लेख में सं० १९७६, छापे के दोष से छपना संभव है ।

3 हस्तिकुंडी (हथुंडी) के वि० सं० १०५३ माघसुदि १३ शिलालेख के मूल श्लोक के अवतरण में 'मेदमाटेभटानां' पाठ छपा है, वह अशुद्ध है, 'मेदपाटे-भटानां' पाठ होना चाहिये । संभव है विशाल भारत के अंक में लेखक दोष या प्रूफरीडिंग की असावधानी से यह भूल रह गई हो ।

4 मेवाड़ के गुहिलवंशी राजा सामंतसिंह का चित्तौड़ पर अधिक समय तक अधिकार रहा हो, ऐसा पाया नहीं जाता । मेवाड़ तथा वागड़ (डूंगरपुर-बांसवाड़ा) से गुजरात के सोलंकी राजा भीमदेव (द्वितीय, भोला भीम) के समय के दानपत्र और शिलालेख मिले हैं, जिनसे स्पष्ट है वि०सं० १२६३ में मेवाड़ को प्रसिद्ध और प्राचीन राजधानी आहाड़ पर गुजरात के सोलंकी राजा भीमदेव का आधिपत्य था, एवं बागड़ पर भी । कुंभलगढ़ की मामादेव की वि० सं० १५१७ की प्रशस्ति से प्रकट है की सामंतसिंह के पीछे मेवाड़ की गद्दी पर बैठने वाले कुमारसिंह ने, जो सामंतसिंह का भाई था, अपना राज्य गुजरात के राजा की कृपा से प्राप्त किया, जिसको नाडोल की चौहान शाखा के कीर्तिपाल (कीतू) ने छीन लिया था । इन बातों को देखते हुए यह अनुमान किया जा सकता है कि सामंतसिंह के मेवाड़ का राज्य त्याग करने के पीछे थोड़े ही समय बाद कुमारसिंह पर शत्रुओं का आक्रमण हुआ, जिसमें मेवाड़ का राज्य उससे छीन लिया गया । फिर उसने गुजरात के सोलंकियों की सहायता से अपने राज्य का उद्धार किया, उस समय आहड़ आदि का शासन उसको गुजरात के सोलंकियों को सौंप देना पड़ा हो ।

सामंतसिंह और कुमारसिंह के पीछे मेवाड़ की गद्दी पर मथनसिंह, पद्मसिंह और जैत्रसिंह क्रमशः बैठे । मथनसिंह और पद्मसिंह का राज्य भी थोड़े ही वर्षों तक

रहा। जैत्रसिंह के प्राप्त शिलालेखों में सब से पहला शिलालेख वि० सं० १२७० का है, अतएव वह इस संवत् के आस-पास मेवाड़ का राजा होना स्पष्ट है। कुंभलगढ़ की उपरोक्त प्रशस्ति बतलाती है कि सामन्तसिंह और कुमारसिंह, मथनसिंह तथा पद्मसिंह के भाई क्षेमसिंह के पुत्र थे, एवं जैत्रसिंह, पद्मसिंह का पुत्र। मेवाड़के तेरहवीं शताब्दी में होने वाले गुहिलवंशी राजाओं में जैत्रसिंह बड़ा पराक्रमी राजा हुआ जिसने कुमारसिंह, मथनसिंह और पद्मसिंह के कंधो का गुजरात के सोलंकियों की अधीनता का जुड़ा उतार कर फैंक दिया और अपने उपर्युक्त चचाजाद भाई सामंतसिंह तथा कुमारसिंह की सोलंकियों तथा नाडोल के चौहानों द्वारा होने वाली पराजयों का उक्त दोनों राज्यों से बदला लेकर मेवाड़ को स्वतंत्र कर दिया, एवं वागड़ पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर दिया और इसही समय चित्तौड़ पर भी जैत्रसिंह ने अपना अधिकार कर लिया और जैत्रसिंह ने चित्तौड़ पर अपना अधिकार किस वर्ष में स्थापित किया, यह अनिश्चित् है; परंतु चीरवा गांव की वि० सं० १३३० कार्तिकसुदि १ की महारावल समरसिंह (जैत्रसिंह का पौत्र) के समय की प्रशस्ति में उल्लेख है कि उसने वहाँ का तलारक्ष (कोतवाल) मदन को नियत किया, जो टांटरड़ जाति के उद्धरण का प्रपौत्र था, एवं ये लोग मथनसिंह और पद्मसिंह के समय से ही नागदा के तलारक्ष होते आये थे, तथा उन्होंने कई लड़ाइयों में भाग लिया था।

---

५ चौलुक्य राजा भीमदेव (द्वितीय) के गुहिलवंशी सामंत महाराजाधिराज अमृतपालदेव का वि० सं० १२४२ का दानपत्र

उदयपुर राज्य के सुप्रसिद्ध विशाल जलाशय जयसमुद्र (ढेबर) के सुदृढ़ बाँध के नीचे अनुमान आध मील पर वीरपुर नाम का गाँव है। वहाँ के ब्राह्मण किशनाके पास एक दानपत्र होनेकी सूचना मिलने पर मैं वहाँ गया और उसकी छापें ले आया। अनंतर मैंने उसका आशय अपनी राजपूताना म्यूजियम, अजमेर की ई० स० १६२६-३० की वार्षिक रिपोर्ट में प्रकाशित किया[१]।

यह दानपत्र तांबेके दो पत्रों के एक ही तरफ खुदा हुआ है। प्रत्येक पत्र की लम्बाई १० इन्च और चौडाई १०½ इन्च है। पत्रोंके किनारे कुछ मुड़े हुए हैं, जो सम्भवत: लेख को सुरक्षित रखनेके लिए ऐसे बनाये गये हों। दोनों पत्रे दो कडियोंसे जुड़े हुए थे, जिन्हें अलग कर मैंने उनकी छापें ली थीं। प्रथम पत्रेमें बीस तथा दूसरेमें बाईस पंक्तियाँ हैं। अक्षर गहरे खुदे हुए हैं और उनका आकार औसत ⅜ इन्च का है। पत्रे साधारणतया अच्छी दशामें हैं, परन्तु दूसरे पत्रेकी पहली और दूसरी पंक्ति के कई अक्षर अस्पष्ट हैं।

लेख की भाषा संस्कृत और अक्षर नागरी हैं। लेख का अधिकांश भाग गद्यमें है। अंतिम भागमें तेरह श्लोक (पंक्ति २८ से ४०) तक हैं, जिनमें दान

---

१ पृष्ठ २-३।

देने और पालने वालेकी प्रशंसा एवं दान में दी हुई भूमिको छीनने अथवा ऐसा करने की अनुमति देने वालेकी निंदा है।

यह दानपत्र अशुद्धियोंसे परिपूर्ण है। कुछ अशुद्धियां खोदने वाले की अज्ञानता के कारण हुई हैं, जिनके शुद्ध रूप ताम्रपत्रोंके अक्षरान्तरके नीचे टिप्पणों में दिये गये हैं।

लेखन शैलीके सम्बन्धमें निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं–

सम्पूर्ण लेखमें 'ब'के स्थानमें 'व'का प्रयोग हुआ है। 'रेफ'के नीचेका व्यंजन बहुधा द्वित्व किया गया है, यथा-कार्त्तिक (पंक्ति २), मार्त्तंड (पं. ४), प्रवर्त्तमाने (पं. ६), पर्व्वणि (पं. १७), शासनपूर्व्वकः (पं. २४), पूर्व्वस्यां (पं. २४), स्वर्गो (पं. २९), पुण्यकर्म्माणो (पं. ३२), स्वर्ग० (पं. ३२), सुवर्ण्णं (पं. ३३), कृष्णसर्प्पा (पं. ३६), भूमिहर्त्ता (पं. ३७), निवर्त्तंते (पं० ३७), गर्त्ता (पं० ३९) आदि। संधिके नियमोंका कहीं-कहीं पालन नहीं हुआ है, यथा अधिकेषु अंकतोपि (पं० १) श्रीउमा पति (पं० ३) मार्त्तंड अभिनव (पं. ४) आदि। अवग्रहका प्रयोग केवल दो स्थलों पर हुआ है, यथा–स्वहस्तोऽयं (पं. ४१ तथा ४२)।

पृष्ठमात्राका जगह जगह उपयोग किया गया है, यथा–शतेषु (पं. १), अधिके (पं० १), अंकतोपि (पं. १), वर्षे (पं. २), अद्येह (पं. २), परमेश्वर पं. २) आदि। 'इ' का प्राचीन रूप (॰ु॰) भी दो जगह पाया जाता है, यथा वइजा (पं १४) तथा इहहि (पं. ३७)।

दानपत्रका आशय नीचे लिखे अनुसार है–

ॐ स्वस्ति। विक्रम संवत १२४२ कार्त्तिकसुदी १५ रविवारको, अणहिलपाटकमें रहते हुए, परमेश्वर परमभट्टारक शंकर के वर से राज्य और लक्ष्मी पाये हुए, चौलुक्य कुलरूपी उद्यान के लिए सूर्यके समान, अभिनव सिद्धराज, श्रीमहाराजाधिराज श्रीभीमदेवके कल्याणकारी विजयराज्य में, जब कि महामात्य श्री देवधर, श्रीकरण[1] आदि समस्त मुद्रा (=मोहरें) करता था; इस बड़े राजा (भीमदेव-

---

[1] राज्य की अनेक मुद्राओंमें से एकमें 'श्री' खुदा रहता था, जिसके लगानेको 'श्रीकरण' कहते थे। यह मुद्रा मुख्य मानी जाती थी। उदयपुर राज्यमें प्राचीन प्रथाके अनुसार अन्य मुद्राओंके अतिरिक्त एक मुद्रामें 'श्री' भी रहता है, जो रुपयोंके सम्बन्धके कागजों पर लगाई जाती है।

द्वितीय) की कृपापर निर्भर रहनेवाले (=सामंत) महाराजाधिराज श्रीअमृतपाल-देव का वागड़के वटपद्रकमंडल पर राज्य था। उस समय उसके नियत किये हुए महंत्तम केल्हण आदि पंचकुल[1] की अनुमतिसे, [यह] दानपत्र लिखा जाता है। श्री गुहिलदत्त (गुहिलोत) वंशमें भर्त्तृपट्टाभिधान (उपनाम[2]) वाले महाराज-धिराज विजयपालके पुत्र महाराजधिराज श्री अमृतपालदेव पुरोहित पाल्हा, ज्यो-तिषी यशदेव, पंचकुल (पंचोली) महिदिग, ज्योतिषी आमदेव, प्रतिहार मदन,

---

१ 'पंचकुल' एक महकमा था, जिसमें पांच पुरुष नियत रहते थे और उनका मुख्य काम राजकीय कर आदि उगाहना था। उनका मुखिया राज्यका मंत्री अथवा उसके समान उच्च अधिकार वाला व्यक्ति होता था। उसका प्रत्येक सभ्य 'पंचकुल' कहलाता था। इससे ही 'पंचोली' शब्द बना है। राजपूतानेमें ब्राह्मण, महाजन, कायस्थ और गूजर, पंचोली पाये जाते हैं। उदयपुर और जोधपुर राज्योंमें कायस्थोंके लिए पंचोली शब्दका प्रयोग होता है, जिसका कारण यह है कि कायस्थ लोग अधिक-तर पंचकुल आदि राजकीय पदों पर नियुक्त होते थे।

२ यह उपनाम ऐसा ही है, जैसा कि आजकल पाये जानेवाले शक्तावत, चूँडावत, सारंगदेवोत आदि हैं, जिनका आशय शक्तिसिंहका वंशज, चूँडाका वंशज और सारगदेवका वंशज है। भर्तृपट्टाभि-धानका अर्थ भर्तृपट्ट (भर्तृभट) का वंशज है। यह महाराजाधिराज विजयपालका दूसरा नाम नहीं है, इंगणोदा (देवास छोटा) से मिले हुए वि० सं० ११६० के शिलालेख में महाराजाधिराज पृथ्वीपाल को भर्तृपट्टाभिधान कहा है (इंडियन एन्टीक्वेरी; जिल्द ६, पृष्ठ ५५)। इसी प्रकार ठाकरडा (वागड़, डूंगरपुरराज्य) से मिले हुए वि० सं० १२१२ के शिलालेख में भी उसे भर्तृपट्टाभिधान कहा है (इंडियन एंटिक्वेरी; जि० ५६७ l पृ० २२६)। इन दोनों लेखोंमें भर्तृपट्टाभिधान वाले राजा का वंश परिचय नहीं दिया है, किन्तु वीरपुरके इस दानपत्रमें उसे स्पष्ट रूप से गुहिलदत्त (गहलोत) वंशी लिखा है। ठाकरडा और इंगणोदा उस समय गुहिलवंशियोंके अधिकार में थे। भर्तृपट्ट मेवाड़के गुहिलवंशी राजा खुँमाण (तीसरे) का पुत्र और अल्लटका पिता था। उसके समयके दो शिलालेख मिले हैं, जो वि० सं० ६६६ तथा १००० के हैं (मेरा उदयपुर राज्यका इतिहास; जि० १, पृ० १२१)। नामोंमें समानता होनेके कारण पहले मैंने भर्तृपट्टाभिधान वाले राजाओं को ग्वालियरके कछवाहे राजाओंका और पीछेसे कन्नौजके प्रतिहार राजाओंका वंशज मान लिया था; परन्तु प्रस्तुत दानपत्रके मिल जानेसे अब यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि वे मेवाड़के गुहिलवंशी भर्तृपट्टके वंशधर थे।

संगडेश्वरी मंदिरके भट्टारक मुनिभद्र, जल्हण, वटपद्रकके रहनेवाले सेठ सुपट, सेठ साढा सेठ धांधलके पुत्र सेठ सावंत, सेठ केसरीके पुत्र केल्हा, नायक[1] लाखूके पुत्र सहदेव, नायक[2] जोहड़,नायक वागड़सीह,नायक लखमणके पुत्र नरपति,भामद्रंती[3] ग्राम-निवासी द्रांगिक[2] सहजाके पुत्र द्रांगिक[4] साढा, मच्छिद्र ग्राम-निवासी द्रांगिक रणसीहके पुत्र द्रांगिक जयदेव, सुगहड ग्राम-निवासी पोपाके पुत्र वैजा झाडूली ग्रामीय द्रांगिक पाल्हा, गातउड ग्रामीय वोसाके पुत्र विसहरा, ठाकुर वासुदेवके पुत्र ठाकुर भालण, सेठ सलखण[3] तथावृद्ध अमात्यादिको बुलाकर सूचित करते हैं कि–हमने सूर्यग्रहणके पर्व पर पुण्यतीर्थमें स्नान कर; दो धुले हुए वस्त्र पहन; ग्रह, देवर्षि, मनुष्य और पितरों को तृप्त कर; चराचरके गुरु श्रीमहादेव और श्रीविष्णुकी आराधना और नमस्कार कर; इस जीवनको कमलके पत्ते पर स्थित जलकी बूंदके समान क्षणिक और संसारको असार समझ कर; माता, पिता एवं अपने कल्याण के हेतु तीन प्रवरवाले भारद्वाज गोत्रके रायकवाल ज्ञातिके ब्राह्मण यज्ञकर्त्ता ठाकुर शोभाके पुत्र मदनको,षट्पंचाशत मंडल[5]के गातोड़ ग्रामका लहसाडिया नामका एक अरहट, वाहरकी दो हलवाह भूमि तथा धान (चांवल) का खेत, दानपत्रके साथ संकल्प कर दिया है[4]। इसकी सीमा यह है–पूर्वमें ऊंबरुआ नामका रहट, दक्षिणमें गांव (गातोड), पश्चिममें ढीकोल नामका रहट और उत्तरमें गोमती नदी[5]। यह रहट तथा भूमि उपर्युक्त सीमा सहित, वृक्ष, घास, लकडी, तथा जल संयुक्त हमने

---

१ राजकीय पद। २ राजकीय पद।

३ ताम्रपत्रमें आये हुए ये नाम साक्षीरूप हैं। वागड़ (डूंगरपुर) में ऐसी प्रथा पहलेसे चली आती है और अब तक भी किसी कदर जारी है कि दानपत्रोंमें कुछ प्रसिद्ध नागरिकों आदिके नाम साक्षी रूपमें अवश्य रहते हैं।

४ वि० सं० १२४२ ज्येष्ठवदि ३० (ई. स. ११८५ ता. १ मई) बुधवारको सूर्यग्रहण था। उस समय किये हुए भूमिदानका यह दानपत्र है। प्राचीन कालमें ऐसी भी प्रथा थी कि दान का संकल्प तो ग्रहण अथवा किसी पर्व आदिके समय पर कर दिया जाता था, परन्तु दानपत्र पीछेसे सुविधानुसार लिखा जाता था।

५ गोमती नदी पहले गातोड़के पास होकर बहती थी। जयसमुद्र (ढेबर) का बांध बंध जाने पर यह उसी विशाल जलाशयमें लुप्त हो गई।

[दानमें] दी है, सो हमारे वंशवालों तथा दूसरों को पालना चाहिये। भगवान् व्यासने कहा है कि-सगर आदि अनेक राजाओं ने पृथ्वीको भोगा है। जब-जब जिसकी पृथ्वी रही है, तब-तब उसको इस (भूमिदान) का फल मिलता है (१)। पृथ्वीदेने का फल यह है कि स्वर्ग, कुबेरकासा कोष, राजसिंहासन, छत्र, गज, अश्व, रथ आदि वाहन, देनेवालेको प्राप्त होते हैं। (२)सूर्य, वरुण, वासुदेव, अग्नि और भगवान् महादेव भूमिदान देनेवालेका अभिनंदन करते हैं (३)। भूमिदान करनेवाला व्यक्ति राजा दिलीप और नहुष आदि दूसरे राजाओंके साथ रहेगा (४)। भूमि आदि देनेवाला और उसका पालन करनेवाला-दोनों पुण्यकर्मी पुरुष निश्चय स्वर्गमें जाते हैं (५)। सब दानोंका फल एक जन्म तक रहता है, किन्तु सुवर्ण, पृथ्वी और कन्यादान का फल सात जन्म तक रहता है (६)। जिसने भूमि दान की उसने मानो सुवर्ण, रजत,वस्त्र, रत्न और संपत्ति ये सब दिये (७)। भूमिदान देनेवाला साठ हजार वर्ष तक स्वर्गमें वास करता है और उसका हरण करने वाला अथवा ऐसा करने की अनुमति देने वाला उतने समय तक नर्क में रहता है (८)। अपनी दी हुइ अथवा दूसरोंकी दी हुई भूमिको छीननेवाला सौ बार खटानकी योनि भोग कर चांडालोंमें जन्म लेता है (६)। भूमिदानको लोपनेवाला, जलविहीन विंध्याटवीके सूखे वृक्षके कोटरमें रहनेवाला काला सर्प होता है (१०)। पृथ्वी छीननेवाले, कृतघ्न, पाकभेदी और भूमिदानको हरण करनेवालेकी नर्कसे कभी मुक्ति नहीं होती (११)। यह जीवन बादल की लीलाके समान चंचल और इस संसारके सब सुख तिनकेके समान सारहीन होनेसे, यहां बुरी इच्छावाला नर्कके गहरे खड्डे में पड़नेको तत्पर दुष्ट पुरुष ही ब्राह्मणोंको दानमें दी हुई भूमिका हरण करता है (१२)। अपने तथा अन्य वंशवालों से मैं प्रार्थना करता हूं कि वे मेरे इस दानको न लोपें (१३)। हस्ताक्षर महाराजाधिराज श्री अमृतपाल देव के। हस्ताक्षर महाकुमार श्रीसोमेश्वरदेव के। हस्ताक्षर पुरोहित पाल्हा पालापक के।

❀

प्रस्तुत दानपत्र में जिन जिन स्थानों का उल्लेख आया है, उनका परिचय नीचे लिखे अनुसार है—

अणहिल्लपाटक—यह वर्तमान अणहिलवाड़ा (पाटण) है, जो बड़ोदा राज्यके अन्तर्गत है और सोलंकियोंके समय उनकी राजधानी थी।

वागड़—डूँगरपूर और बाँसवाड़ा दोनों राज्योंका सम्मिलित नाम वागड़ है। पहले यह एक राज्य था, परन्तु राजा उदयसिंहने अपने राज्यके पिछले दिनोंमें उसके दो विभाग कर, माही नदीसे पूर्वका भाग अपने छोटे पुत्र जगमालको दिया और पश्चिमका भाग ज्येष्ठ पुत्र पृथ्वीराजके लिए रक्खा; तब से वागड़ के दो राज्य हो गये।

वटपद्रक—यह वर्तमान बड़ोदा है, जो वागड़की प्राचीन राजधानी थी। बड़ोदा नामके एकसे अधिक नगर होनेके कारण वागड़का बड़ोदा बतलानेके लिए उसके साथ वागड़ शब्द जोड़ देते थे, ताकि भ्रम न रहे।

भामद्रंति[7] और **मच्छिद्र** गामोंका ठीक पता नहीं लगता।

मुगहड—यह डूंगरपुर राज्यका मूंगेडा गाँव है।

झाडूली—यह वर्तमान झाडोल गाँव है, जो उदयपुर राज्यके अन्तर्गत जयसमुद्र के पास सलूम्बर ठिकानेमें है।

गातउड़—यह गाँव अब ऊजड़ हो गया है। यह वीरपुर गाँवसे, जहाँसे यह ताम्रपत्र मिला है, मिला हुआ था। वीरपुर गातोड़के ऊजड़ होनेके बाद बसा है। यहाँके गातोड़जीका मन्दिर वीरपुर गाँव के पास विद्यमान है। इस मन्दिरमें नागराज (सर्प) की विशाल मूर्ति है, जिसको गातोड़जी कहते हैं।

षट्पंचाशत् मंडल—इसको अब छप्पन कहते हैं। उदयपुर राज्यका जयसमुद्र के आसपास का प्रदेश अब भी छप्पन का परगना कहलाता है।

दानपत्रमें कई स्थलों पर सांकेतिक शब्दोंका उपयोग हुआ है, जिनका आशय इस प्रकार है—

पुरो०=पुरोहित, पंच०=पंचकुल; ज्योति०=ज्योतिषी; प्रती०=प्रतीहार; श्रेष्ठ०=श्रेष्ठि; उ०=उत. पुत्र; नाय०=नायक; द्रंगी०=द्रांगिक; ठकु०=ठाकुर।

❀

प्रस्तुत दानपत्रसे पाया जाता है कि वि० सं० १२४२ में गुहिलोत वंशके महाराजाधिराज श्री अमृतपालदेवका वागड़ पर राज्य था और वह गुजरातके

चौलुक्य राजा भीमदेव (द्वितीय) का सामंत था। उस (भीमदेव) का वहाँ कैसे राज्य हुआ और अमृतपालदेव कौन था, इस पर कुछ प्रकाश डालना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है।

मेवाड़के स्वामी क्षेत्रसिंहके बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र सामंतसिंह वहांका स्वामी हुआ। आबू परके देलवाड़ा गाँवके तेजपाल (वस्तुपालके भाई) के बनवाये हुए लूणवसही नामक नेमिनाथके जैनमन्दिर के शिलालेखके रचयिता गूर्जरेश्वर पुरोहित सोमेश्वरने लिखा है–'आबूके परमार राजा धारावर्ष के छोटे भाई प्रह्लादन की तीक्ष्ण तलवार ने गुजरात के राजा की उस समय सहायता की, जब उसका बल सामंतसिंहने रणक्षेत्र मे तोड़ा था[1]'। इससे स्पष्ट है कि सामंतसिंह ने गुजरात पर चढ़ाई कर वहांके राजाको परास्त किया था। यह राजा कौन था, यह उक्त प्रशस्तिमें नहीं लिखा है। वहीं सोमेश्वर अपने 'सुरथोत्सव' काव्यमें अपने पूर्वज कुमार के प्रसंग में लिखता है कि उसने कटुकेश्वर नामक शिव (अर्द्ध-नारीश्वर) की आराधना कर रणक्षेत्रमें लगे हुए अजयपाल राजाके अनेक घावों की पीड़ाको शांत किया[2]'। इससे अनुमान होता है कि सामंतसिंह की लड़ाई इसी अजयपालसे हुई होगी, जो उसका समकालीन भी था। इस लड़ाई में सामंतसिंह की शक्ति क्षीण हो गई और जब बदला लेनेके लिए गुजरातवालों ने उसपर चढ़ाई

---

१ शत्रुश्रेणीगलविदलनोन्निद्रनिस्त्रिं (स्त्रिं) शधारो
धारावर्षः समजनि सुतस्तस्य विश्वप्रशस्यः।......................॥ ३६ [॥
सामंतसिंहसमितिक्षितिविक्षतौजःश्रीगूर्ज्जरक्षितिपरक्षणदक्षिणासिः।
प्रह्लादनस्तदनुजो दनुजोत्तमारि चारित्रमत्र पुनरुज्ज्वलयां चकार ॥ ३८ ॥
आबूकी वि० सं० १२८७ की प्रशस्ति; एपिग्राफिया इन्डिका; जिल्द ८ पृष्ठ २११।

२ यः शौचसंयमपटुः कटुकेश्वराख्यमाराध्य भूधरसुताघटितार्धदेवम्।
तां दारुणामपि रणाङ्गणजातघातव्रातव्यथामजयपालनृपादपास्थत् ॥ ३२ ॥
काव्यमालामें छपा हुआ 'सुरथोत्सव' काव्य, सर्ग १५।

"सामंतसिंहयुद्धे हि श्री अजयपालदेवः प्रहारपीडया मृत्युकोटिमायातः कुमारनाम्ना पुरोहितेन श्रीकटुकेश्वरमाराध्य पुनः स जीवितः।" वही; टिप्पण ५।

परमार प्रह्लादन रचित 'पार्थपराक्रमव्यायोग' की चिमनलाल डी. दलाल लिखित अंग्रेजी भूमिका, पृ० ४ ('गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज' में प्रकाशित)।

की, तो उसे मेवाड़ को छोड़ना पड़ा। तब मेवाड़पर गुजरात वालोंका अधिकार हो गया[१] और नाडोलके चौहान राजा आल्हणदेवका तीसरा पुत्र कीतू (कीर्तिपाल) वहांका शासक नियत हुआ। कुछ समय पश्चात् सामंतसिंह के छोटे भाई कुमारसिंह ने गुजरात के राजाको प्रसन्न कर मेवाड़का राज्य पीछा प्राप्त किया। कुम्भलगढ़के मामादेवकी वि० सं० १५१७ की महाराणा कुम्भकर्ण की प्रशस्तिमें लिखा है कि कुमारसिंह ने गुजरात के राजाकी कृपा प्राप्त कर कीतूको निकाला और आहाड़ (मेवाड़) का राज्य प्राप्त किया[२]। कीतू की मृत्यु वि० सं० १२३६ के पूर्व होनी चाहिये[३] अतएव इसके पूर्व ही किसी समय कुमारसिंहने मेवाड़ का राज्य प्राप्त किया होगा।

मेवाड़ का राज्य खो कर सामंतसिंह ने वागड़ में नया राज्य कायम किया। गुजरातके राजा (भीमदेव द्वितीय) ने वहाँ भी उसका पीछा कर उसे वहांसे निकाल दिया और उसके कुटुम्बी महाराजाधिराज विजयपाल अथवा उसके पुत्र अमृतपालदेवको वागड़का राज्य दिया, जैसा कि प्रस्तुत दानपत्रसे स्पष्ट है। सामंतसिंहके

---

१२ मेवाड़ पर गुजरात वालोंका अधिकार होगया था, यह आबूके शिलालेखसे स्पष्ट है—

सामंतसिंह नामा।...॥ ३६ ॥

षों (खों) माणसंततिवियोगविलक्षलक्ष्मीमेनामदृष्टविरहां गुहिलान्वयस्य।

राजन्वतीं वसुमतीमकरोत्कुमारसिंहस्ततो रिपुगतामपहृत्य भूयः ॥ ३७ ॥

इंडियन एन्टिक्वेरी; जिल्द १६, पृष्ठ ३४६।

१३ .... सामंतसिंहनामा भूपतिर्भूतले जातः ॥ १४६ ॥

भ्राता कुमारसिंहोभूत् स्वराज्यग्राहिणं परं।

देशान्निष्कासयामास कीतूसंज्ञं नृपं तु यः ॥ १५० ॥

स्वीकृतमाघाटपुरं गूर्ज्जरनृपतिं प्रसाद्य ....।

(कुंभलगढ़का लेख, अप्रकाशित)

१४ जालोरसे मिले हुए वि० सं० १२३९ के शिलालेखसे पाया जाता है कि उस संवत्में कीर्तिपाल (कीतू) का पुत्र समरसिंह वहांका राजा था (एपिग्राफिया इंडिका; जिल्द ११, पृ० ५३-४), अतएव कीर्तिपाल (कीतू) का उस समयसे पूर्व मर जाना निश्चित है।

राज्य समयके वि० सं० १२२८[1] और १२३६[2] के दो शिलालेख मिले हैं। अमृतपालदेवको इस दानपत्रमें श्री गुहिलदत्त (गुहिलोत) वंशी भर्तृपट्टाभिधान महाराजाधिराज विजयपालका पुत्र लिखा है, अर्थात् वह मेवाड़के स्वामी भर्तृपट्ट (भर्तृभट) – जिसका परिचय ऊपर टिप्पणमें दिया है – का वंशधर था। स्पष्ट है कि वह मेवाड़ की छोटी शाखामें रहा होगा। उसका सामंतसिंहके साथ क्या सम्बन्ध था, इसका पता नहीं चलता। ठाकरड़ाके वि० सं० १२१२ के महाराज सुरपालदेवके शिलालेखमें उसे भर्तृपट्टाभिधान पृथ्वीपालदेवके पौत्र विजयपालदेवका पुत्र लिखा है [3]। संभवतः प्रस्तुत दानपत्रके अमृतपालदेवका पिता विजयपाल और सुरपालदेवका पिता विजयपालदेव एक ही व्यक्ति हों। ऐसी दशामें अमृतपालदेवको सुरपालदेवका भाई मानना पड़ेगा [4]।

---

१५ 'संवत् १३२८[10] वरिखे (वर्षे) फ (फा) ल्गुनसुदी ७ गुरौ श्री अंबिकादेवि (व्यै) महाराज श्री सामंतसिंघ (ह) देवेन सुवर्न (र्ण) मयकलसं प्रदत्त [म्]।' (मेवाड़के छप्पन जिलेके जगतगावके देवीके मंदिरके लेखकी छापसे)।

१६ संवत् १२३६ श्रीसावं (मं) तसिंह राज्ये। (डूंगरपुर राज्य के बोरेश्वर महादेव-सोलज गांवसे डेढ़ मील दूर–के लेख की छाप से।)

१७ 'ओं॥ संवत् १२१२ वर्षे॥ भाद्रपदसुदि १ रवि दिने समस्तराजावलीविराजितभर्तृपट्टाभिधान श्रीपृथ्वीपालदेव [वः] तत्सूनुमहाराजश्रीत्रिभुवनपालदेव [वः] तस्य पुत्रो महाराजश्रीविजयपालदेव [वः] तस्य पुत्रो [त्र] महाराजश्रीसुरपालदेव।'

(इंडियन एन्टिक्वेरी; जिल्द ५६, पृष्ठ २२६)

१८ इंगणोदा तथा ठाकरड़ाके लेखों एवं वीरपुरके दानपत्रमें मिलनेवाली वंशावलियां–

इंगणोदा (सं० ११९०)	ठाकरडा (सं० १२१२)	वीरपुर (सं० १२४२)
पृथ्वीपालदेव (भर्तृपट्टाभिधान)	पृथ्वीपालदेव (भर्तृपट्टाभिधान)	
|	|	
तिहुणपालदेव	त्रिभुवनपालदेव	
|	|	
विजयपालदेव	विजयपाल	विजयपालदेव (भर्तृपट्टाभिधान)
	|	|
	सुरपालदेव	अमृतपालदेव
	|	|
	महाराजपुत्र अनंगपालदेव	महाकुमार सोमेश्वरदेव

अमृतपालदेवका वि. सं. १२५१ का एक लेख, बड़ोदा गांवके बाहरकी एक हनुमानकी प्राचीन मूर्तिके आसन पर खुदा हुआ मिला है[१] । इससे स्पष्ट है कि उस समय तक तो उसका वहां राज्य था। डूंगरपुरके बड़ा दीवड़ा गांवके शिव-मन्दिरकी मूर्तिके आसन पर, वि. सं. १२५३ (ई. स. ११९६) का महाराजा भीमदेव (द्वितीय) का लेख है,[२] जिससे ज्ञात होता है कि उक्त संवत् तक तो बागड़ पर भीमदेवका अधिकार था। डूंगरपुरके बड़वेकी ख्यातमें सामंतसिंहके बाद सीहड़देवका नाम मिलता है, जिसका सबसे पहला लेख वि. सं. १२७७ (ई. स. १२२०) का मिला है[३] । उक्त लेख में उसके पिताका नाम नहीं है, परन्तु जगत गांवके माताके मंदिरके एक स्तम्भ परके वि० सं० १३०६ (ई० स० १२५०) के लेखमें उसके पिताका नाम जयसिंह[११] लिखा है[४] । इसकी पुष्टि डूंगरपुरके बनेश्वर के पासके विष्णु मंदिरकी आषाढ़ादि वि. सं. १६१७ (चैत्रादि १६१८) की महारावल आसकर्णकी प्रशस्ति[५] तथा वहांके गोवर्द्धननाथके मंदिरकी आषाढ़ादि

---

१ 'संवत (त्) १२५१ वर्षे माहा (माघ) वदि १ सोमे राज अमृतपालदेव वज्य (विजय) राज्ये' [मूल शिलालेखकी छाप से]।

२ 'सं० १२५३ वर्षेऽद्येह महाराजश्रीभीमदेवविजयराज्ये.......उव्वणके श्रीनित्यप्रमोदित (तं)....मह [०] एल्हासुतवइजाक [:] प्रणमति नित्यं । प्रतिमा कारपिता ।'

[मूल लेखकी छापसे]।

३ 'संवत् १२७७ वरिषे (वर्षे) चैत्रसुदि १४ सोमदिने विशाष (खा) नक्षत्रे श्रीअंबिका-देवी (व्यै) महाराऊ (रावल) श्रीसीहडदेवराज्ये महासां० (=सांधिविग्रहिक) वेल्हणाक राण (राणकेन) रउणीजाग्रामं । [मूल लेखकी छापसे]।

४ 'ॐ ॥ संवत् १३०६ वर्षे फागुण (फाल्गुन) सुदि ३ रविदिने रेवति (ती) नक्षत्रे मीन स्थिते चंद्रे देवी अंबिका [यै] सुवंन (सुवर्ण) डं (दं) ड (डं) प्रतिठि (ष्ठि) त (तं) । गुहिलवंसे (शे) रा० (=रावल) जयतसी (सिं) ह पुत्रसीहड पौत्र जयस्यंघ (सिंह) देवेन कारापितं ।'

[मूल लेखकी छापसे]।

५ 'सामंतसी (सिंह) रा० (=रावल) ३१ जीतसी (जयतसिंह) रा० ३२ सीहडदे (देव) रा० ।'

[मूल प्रशस्तिकी छापसे]।

वि. सं. १६७६ (चैत्रादि १६८०) की महारावल पुंजराजकी बृहत् प्रशस्ति[1] से भी होती है। जयसिंह कब तक जीवित रहा और उसने वागड़का राज्य वापस लिया या नहीं, इसके विषयमें निश्चय पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता; परन्तु इतना तो निश्चित है कि वि० सं० १२५३ के पश्चात् और वि० सं० १२७७ के पूर्व किसी समय सामंतसिंह के पुत्र जयसिंह अथवा पौत्र सीहड़देव ने वागड़ का राज्य पीछा लिया होगा।

ताम्रपत्र पर का मूल लेख

प्रथम पत्र

१ ॐ ॥ श्वस्ति[2] श्री नृपविक्रमकालातीतसंवत्सरद्वादशशतेषु द्विचत्वारिंशदधिकेषु अंकातोपि[3] ॥

२ संव [त्] १२४२ वर्षे कार्तिक सुदि १५ रवावद्येह श्रीमदणहिलपाटका [धिष्ठि] तपरमेश्वरपरमभट्टा-

३ रकश्रीउमापतिवरलब्धप्रसादराज्यराजलक्ष्मीस्वयंवरप्रौढप्रतापश्रीचौलुक्यकुलोद्या-

४ नि[4] मार्त्तंड अभिनवसिद्धराज श्रीमहाराजाधिराज[5]श्रीमद्भीमदेवीयकल्याण-विजयरा-

५ ज्ये तत्पादपद्मोपजीविनमहामात्यश्रीद्रेवधरि[6] श्रीश्रीकरणादि[7]समस्त[8]मुद्राव्यापारान्[9]

६ परिपंथयतीत्येवं कालु[10]प्रपर्त्तमान[11] अस्य च परमप्रभोःप्रसादपत्तलायां भुज्यमान वा[12]

७ वागडवटपद्रकमंडले महाराजाधिराजश्रीअमृतपालदेवीयराज्ये तन्नियुक्तमहं ॥

---

१ '..................... सामंतसिंहोस्य विभुर्विजग्ये (ज्ञे) ॥ ५३ ॥
सजि (जी) तसिंहं तनयं प्रपेदे य एव लोकं सकलं वियग्ये (ज्ञे) ॥
तस्य सिंहलदेवोभूत्.......................................॥ ५४ ॥
[मूल प्रशस्तिकी छापसे]

२ स्वस्ति. ३ अंकतोपि. ४ °कुलोद्यान°. ५ °धिराज°. ६ देवधरे. ७ श्रीकरणादि. ८ समस्त. ९ °व्यापारान्. १० काले. ११ प्रवर्त्तमाने.

८ केल्हणप्रभृतिपंचकुलप्रतिपत्तौ शासनपत्रमभिलिख्यते यथा ॥ श्रीगुहिलदत्तवंशे
९ श्रीमद्भूतृपट्टाभिधान[1]महाराजाधिराजश्रीविजयपालसुतमहाराजाधिराजश्रीअमृ-
लपा-
१० लदव[2] पुरो० पाल्हा ज्योति० यशदेव पंच० महिदिग ज्योति आमदेव स्थमि०
रतन प्रती
११ मदना श्री [मं] गडेश्वरीयभट्टारक [मु] निभद्र० जल्हण तथा वटपद्रकवास्त-
व्य श्रे० सूपट श्रे०
१२ साढा श्रे० धांधल उ० श्रे० सावंत श्रे० केशरि[3]सुत०[4] श्रे० केला नाय०
लाखु सुत सह-
१३ देव नायक जोहड़ नायक वागडसीह नायक लखमणउ० नायक नरपतिभा
भद्र [ति] ग्रा-
१४ मीय डंगी[5] सहजा उ० द्रंगि साढा मच्छिद्रहग्रामी० द्रं [गि०] रणसीह
सुत०[6] दंगि०[7] जगदेव
१५ मुगहडग्रामीय[8] पोपा उ० वहजा झाडउलि ग्रामीय दंगि०[9] पाल्हा। गात-
उडग्रीमीय[10] वो-
१६ सा सुत०[11] विसहरा ठकुर[12] वासुदेव सु० ठक्कु० भालण श्रे० सलषण[13]
वृद्धामात्यदींश्च समा-
१७ हूय सबोधयत्यस्तु[14] वः संविदितं यथा। यदस्माभिः सूर्यपर्व्वणि पुन्य[15]तीर्थो-
दकैः सुचि[16]स्ना-
१८ त्वा धौतवाससी परिधाय ग्रहमंत्रदेव[17]र्सि[18]षमनुष्यपिद्रन्[19] संतर्प्य चराचर
[गु]रु श्रीभवानीपतिं श्री-
१९ पतिं च समभ्यर्थ[20] नमस्कारं च विधाय नलिनीदलगेत[21]जललवतरलतरं
जीवि-

---

१ °पट्टाभिधान. २ °पालदेवः. ३ केसरि. ४ बिन्दु निरर्थक है. ५ द्रंगि. ६ बिन्दु निरर्थक है. ७ द्रंगि. ८ ग्रामीय. ९ द्रंगि. १० ग्रामीय. ११ बिन्दु निरर्थक है. १२ ठक्कुर. १३ सलखण. १४ संबोधयत्यस्तु. १५ पुण्य°. १६ शुची°. १७ देवर्षि. १८ निरर्थक अक्षर है. १९ °पितृन्. २० समभ्यर्च्य. २१ °गतजल°.

२० तव्यमाकलय्य संसारासारतां विनि [ज्ञा] त्वा मात्र[1] पित्रोरात्मनश्च श्रेयसे

द्वितीय पत्र

२१ .... तृ प्रवराय भरद्वाजगो [त्रा]-

२२ य राय [क] वाला[2] [ज्ञा] तीय ब्रा [ह्मण[3]] ठकु०[4] सोभासुत ठकु०[5] मदना जाजकायाः[6] षट्पंचाशन्मंडले

२३ गातउडग्रामे ल्हिसाडियाभिधान अरघट्टमेकं[7] तथा वाह्यभूमीहलद्व [यसम] न्विता[8] चतुराघाट-

२४ सीमासमन्विता[9] सकेदाराः[10] शासनपूर्वकाः[11] उदकेन प्रदत्ता[12]। अस्याः घाटाः। पूर्वस्यां सीमा ऊंवरऊआ

२५ अरघट्ट[13]। दक्षिणायां[14]ग्रामेण सीमा। पश्चिमायां ढीकोलरघट्टसीमा। उतरायां[15] गोमती नदी सीमा

२६ एतदरघट्टं[16] तथा भूमि च संतिष्ठमान[17] चतुसीमापर्यंतं[18] सवृक्षमाला-कुलं[19] सोद्रं[20] सपरिकरं[21] सकाष्टतृ-

२७ णोदकोपेतं[22] नवनिधानसहितं[23] अस्मद्वंसजै[24] रन्येरपि[25] च पालनीयं[26]। यतः उक्तवान् भगवान् व्यासः

२८ वहुभि[27]र्वसुधा भुक्ता राजभिः सगरादिभिः। यस्य यस्य यदा भूमी[28] तस्य तस्य तदा फल[29] ॥ भूमिद[15] त्रा[30] च

२६ चिह्नानि फलं स्वर्गे वसेन्नरः। शंखं भद्राशनं[31] छत्रं गजाश्वरथवाहना[32]। २ आदित्यो वरुणो ये[16] [33]वा-

३० सुदेवो हुताशनः। शूलपाणिस्तु भगवान् अभिनंदंति भूमिदं ॥ ३ राजेन्द्रौ[34] दिलीपस्य नृपस्य नहु-

---

१ मातृपित्रो°. २ रायकवाल. ३ ब्राह्मण. ४ ठक्कुर. ५ ठक्कुर. ६ याजकाय. ७ अरघट्ट एकः. ८ समन्वितः. ६ समन्वितः. १० सकेदारः ११ शासनपूर्व्वकः. १२ प्रदत्तः. १३ अरघट्टः. १४ दक्षिणस्यां. १५ उत्तरस्यां. १६ एष अरघट्टः. १७ चतुस्सीमा. १८ पर्यन्तः. १६ °मालाकुलः. २० सोद्रंगः. २१ सपरिकरः. २२ °तृणोदकोपेतः. २३ °सहितः. २४ वंशजैः. २५ °रन्यैरपि. २६ पालनीयः' २७ बहुभि°. २८ भूमिः. २६ फलम्. ३० भूमिदानस्य. ३१ भद्रासनं. ३२ रथवाहनं ३३ वायु. ३४ राजेन्द्रस्य.

३१ षस्य च। अन्येषां च नरेंद्राणां भूमिदः संगमिस्यति[१] । ४ दाता पालयता चैव [भूम्या] दीनां च यो[२] नरौ [तौ]
३२ वुभौ[३] पुण्यकर्म्माणौ नियतौ[४] स्वर्गगामिनौ । ५ सर्वेषामेव दानानामेक-जन्मानुगं फलं। हाटकक्षि-
३३ तिगौरीणां सप्तजन्मानुगं फलं । ६ सुवर्ण्णं रजतं प्रस्त्र[५] मणिरत्नं वसूनि च। सर्वमेतद्भवेद्दत्तं वसुधां
३४ यः प्रयच्छति।। ७ षष्टिवर्षसहस्त्राणि[६] स्वर्गे तिष्ठति भूमिदः।आच्छत्ता[७] चात्रु मंता[८] च तान्येव नरकं[९]
३५ व्रजेत् [१०] ॥ ८ ॥ स्वदत्तां परदत्तां वा यो हरेच्च वसुंधरां। [११]स्वानयोनिशतं गत्वा चंडालेष्वपि[१२] जायते
३६ ६ विंध्याटवीष्वतोयासु शुष्ककोटरवासिनः । कृष्णसर्प्पा प्रजायंते भूमिदानाप-हारकाः ॥ १०
३७ भूमिहर्त्ता कृतघ्नश्च पाकभेदी च यो नरः । नरकान्न निवर्त्तंते भूमिदानापहा-रकाः । ११ । इ-
३८ ह हि जलदलीलाचंचले जीवलोके तृणलवलघुसारे सर्वसंसारसौख्ये । अपरति[१३] दु-
३९ राशः शासनं ब्राह्मणानां[१४] नरकगहनगर्त्तावर्त्त पातोत्सुको यः ॥ १२ अस्मद्वंशे तु ये जाता
४० ये जाता चान्यवंशजा[१५]। तेषामहं करे लग्नो मम दत्तं न लोप्यतां ॥ १३
४१ स्वहस्तोऽयं महाराजाधिसुज[१६]श्रीअमृतपालदेवस्य ॥ स्वहस्तोऽयं महाकुमार-श्रीसोमेश्वरदेवस्य
४२ स्वहस्तोयं पुरो० पाल्हा पालापकस्य ॥ शुभंवतुः[१७] ॥ मंगलं महा श्रीः ॥

भारतीय विद्या; बंबई, वर्ष२, अंक २।

[१ संगमिष्यति. २ यौ. ३ तावुभौ. ४ नियतं. ५ वस्त्रं. ६ सहस्राणि. ७ आच्छेत्ता. ८ चानुमंता च. ९ नरके. १० वसेत्. ११ श्वान. १२ चांडालेष्वपि. १३ अपहरति. १४ ब्राह्मणानां. १५ वंशजाः. १६ महाराजाधिराज. १७ शुभं भवतु.

सम्पादकीय टिप्पण

1 इंडियन एंटिक्वेरी, जि० ५६७, पृ० २२६ में, ५६७ अशुद्ध है। यहां केवल ५६ अर्थात् जि० ५६ होना चाहिये। क्योंकि इंडियन एंटिक्वेरी की जि० ५६ में ही ठाकुरड़ा का लेख छपा है। संभव है ५६ के आगे ७ का अंक लिपि कर्त्ता अथवा मुद्रणकला दोष से छप गया हो।

2 नायक–यह शब्द पद विशेष का सूचक है। कालान्तर में वह जाति वाचक भी बन गया है और सम्मान वाची भी, जिसका अर्थ मुखिया होगा।

3 भामद्वंती पाठ अशुद्ध है। मूल में 'भाभद्वंती ग्राम' दिया है, संभव है 'भा'के आगे 'भ'के स्थान में 'म'मूल लेखक के दोष अथवा छापे की भूलसे छपा हो।

4 द्रांगिक–यह शब्द भी किसी पद विशेष का ही सूचक है। वर्त्तमान'डांगी-जाति' (कृषक) और ओसवाल वणिक वर्ग में 'डांगी गौत्र' द्रांगिक शब्द का ही लौकिक रूप है।

5 षट्पंचाशत मंडल, मेवाड़ के छप्पन प्रदेश का सूचक है, जिसमें सलूंबर, चांवड आदि स्थानों का समावेश होता है। यही नहीं, मेवाड़ के मेवल प्रदेश से उसकी सीमा मिलती थी। तेरहवीं शताब्दी विक्रमी में उक्त प्रदेश वागड़ के राजाओं के अधिकार में होकर उसको वागड़ वटपद्रक का भाग मानते थे।

6 सौ बार खान की योनि भोग कर चांडालों में जन्म लेता है। यहां 'खान' शब्द अशुद्ध है। 'श्वान' शब्द होना चाहिये। संभव है मूल लेख के लिपिकर्त्ता अथवा छापे का ही यह दोष हो।

7 भामद्वंवि शब्द अशुद्ध है,'भाभद्वंति'होना चाहिये, जैसा कि मूल में है।

8 मेवाड़ के गुहिलवंशी राजा चेत्रसिंह का पुत्र सामंतसिंह नहीं, किंतु क्षेम-सिंह का पुत्र सामन्तसिंह था। मूल लेख के लिपिकर्त्ता अथवा छापे के दोष से चेत्रसिंह नाम छपना पाया जाता है।

9 चौहानवंशी समरसिंह का जालौर से प्राप्त लेख वि० सं० १२२६ का न होकर वि० सं० १२३६ का है। मूल लेख के टिप्पण में १२२६ मूल लिपिकर्त्ता अथवा छापे की भूल से छपा है।

10 सामंतसिंह और अमृतपाल एक वंश के होने पर भी भिन्न २ शाखा के थे। उनमें कोई समीप का संबंध नहीं था।

11 जयसिंह के जगत गांव के वि० सं० १३०६ फा० सुदि १३ रविवार के लेख में सीहड़देव के पिता का नाम 'जयतसी' दिया है। अतएव यहां 'जयतसी' होना चाहिए।

12 यहां भी 'जयतसिंह' होना चाहिये, जैसा कि शिलालेखों के अवतरण में है।

13 श्री ओझाजी ने यहाँ डूंगरपुर के महारावल पुंजराज के समय की वि० सं० १६७९ (चैत्रादि १६८०) की गोवर्द्धननाथ के मंदिर की वृहत् प्रशस्ति (श्लोक ५३) के आधार पर सामंतसिंह का पुत्र जयसिंह और पौत्र सीहड़देव होने का उल्लेख किया है, पर मूल प्रशस्ति के पाठ में जितसिंह नाम है, जयसिंह नहीं। जितसिंह, जयतसिंह का ही सूचक है, जिसको जगत गांव के वि० सं० १३०६ के शिलालेख में सीहड़देव का पिता और जयसिंह का पितामह बतलाया है। संभव है इस निबंध को प्रेस में भेजते समय लिपिकर्ता की भूल से जयतसिंह के स्थान पर स्थान-स्थान पर जयसिंह लिखा गया हो अथवा छापे की भूलें हों।

डूँगरपुर के ऊपर गांव के जैन मंदिर की वि० सं० १४६१ वैशाखसुदि ५ शुक्रवार की महारावल प्रतापसिंह (पातारावल) के समय की प्रशस्ति (राजपूताना म्युजिअम अजमेर की वार्षिक रिपोर्ट, ई० स० १९१५-१६, अंग्रेजी) में लिखा है कि "गुहिल वंश में बापा का पुत्र खुंमाण हुआ। उसके वंश में वैरड, वैरिसिंह और पद्मसिंह राजा हुए जैत्रसिंह ने पृथ्वी (वागड) को विजय किया और सीहड़ के द्वारा वह राजन्वती हुई।"

बापा, खुम्माण, वैरड़, वैरिसिंह, पद्मसिंह और जैत्रसिंह मेवाड़ के राजा हुए हैं, जैसा कि वहां से प्राप्त शिलालेखों से प्रकट हैं। मेवाड़ के उपरोक्त राजाओं के नाम उपर्युक्त प्रशस्ति में होने से यह स्पष्ट है कि डूंगरपुर का राजवंश मेवाड़ की शाखा है और पद्मसिंह के पीछे होने वाले मेवाड़ के राजा जैत्रसिंह ने वागड़ को विजय कर सीहड़देव को वहां का राजा बनाया। मेवाड़ से मिले हुए वंशावली के शिलालेखों में जैत्रसिंह को पद्मसिंह का पुत्र बतलाया है और उक्त प्रशस्ति में

भी पद्मसिंह का नाम होकर उसके बाद जैत्रसिंह का नाम दिया है, अतएव जैत्रसिंह को सामंतसिंह का पुत्र होने का कथन ठीक नहीं है और न सीहड़देव, सामंतसिंह का पौत्र हो सकता है।

वागड़ से प्राप्त शिलालेखों के आधार पर श्री ओझाजी ने डूंगरपुर, राज्य का संस्थापक मेवाड़ के राजा सामंतसिंह को माना है, जिसने गुहिलवंश की अहाड़ा शाखा का वहां पर राज्य स्थापित किया, किन्तु वहां के राजा सामंतसिंह के वंशधर नहीं है, यह उपरोक्त वि० सं० १४६१ की प्रशस्ति से सिद्ध है।

यह माना जा सकता है कि सामंतसिंह ने वागड़ पर गुहिलवंश की अहाड़ा शाखा का राज्य स्थापित किया, जैसा कि वि० सं० १२२८ और १२३६ के शिलालेखों से प्रकट है। पर, सामंतसिंह उक्त राज्य का अधिक वर्षों तक उपभोग नहीं कर सका और गुजरात के सोलंकियों से उलझ गया, जिससे वागड़ का राज्य उसके हाथ से छूट गया। कुंभलगढ़ की मामादेव की प्रशस्ति की तीसरी शिला में उल्लिखित उसके चचे जाद भाई जैत्रसिंह (पद्मसिंह का पुत्र) ने वागड़ का उद्धार कर अपने पुत्र सीहड़देव को वहां का स्वामी बनाया और सीहड़देव के वंशधर डूंगरपुर-बांसवाड़ा के राजा हैं।

ऊपरगांव की प्रशस्ति में सामंतसिंह का नाम ही नहीं दिया, जिसका कारण यही जान पड़ता है कि उसका वंश ही नहीं चला और लोग उसकी कथा को भूल गये। फिर पद्मसिंह के पुत्र जैत्रसिंह ने वागड़ का उद्धार कर अपने पुत्र सीहड़देव को वहां का राजा बनाया, जिसका वंश क्रम पूर्वक चलता रहा, जिनका नाम प्रशस्ति में देकर उन्होंने वंशावली का क्रम पूरा किया। प्रशस्ति लेखकों को आवश्यक्ता ही क्या रही, वह सामंतसिंह का वंश न चलने पर भी उसका नामोल्लेख करें। सतरहवीं शताब्दी में डूंगरपुर में इतिहास की तरफ रुचि रखने वाले कुछ राजा हुए, जिन्होंने इधर-उधर से भी वंशावलियां मिली, उनका संग्रह करा प्रशस्तियां खुदवाई, तब उनको सामंतसिंह का नाम भी राज्य संस्थापक रूप में मिल गया। वे उसके वंशधर नहीं होने पर भी उसकी स्मृति को नहीं भूले और उसका नाम भी अपने पूर्व पुरुषाओं के साथ जोड़कर जैत्रसिंह को सामंतसिंह का क्रमानुयायी बना उससे अपना संबंध बना रखा। उनके इस क्रम से इतिहास में अधिक दोष तो नहीं आता; किंतु घटना क्रम बदल जाता है, जिससे आगे जाकर इतिहास

में अशुद्धि रह जाती है। यहाँ श्री ओझाजी को इस बात का श्रेय दिये बिना नहीं रहा जायगा कि सर्व प्रथम डूंगरपुर के राजवंश की वंशावली को शुद्ध रूप से प्रस्तुत करने वाले वे ही व्यक्ति हैं, जिन्होंने माहप-राहप की भाटों की कपोल-कल्पित कथा को निस्सार प्रमाणित की और अपने शोध से डूंगरपुर के राजाओं की शुद्ध वंशावली का रूप निरूपण किया।

14 ताम्रपत्र के मूल लेख के पाठ की ५ वीं पंक्ति में 'श्री श्री करणादि' पाठ छपा है, और मूल फोटो में 'श्री श्री करणादि' ही पाठ है, जिसकी पाद टिप्पण में शुद्धि की गई है। संभव है एक 'श्री' श्रीकरणादि' पर मूल ताम्रपत्र के लेखक और खोदनेवाले के दोष से बढाई गई हो।

15 दानपत्र की पंक्ति २८ के पाठ में 'भूमिदत्रा' छपा है। 'भूमिदात्रा' पाठ होना चाहिये।

16 दानपत्र की पंक्ति २६ के पाठ में 'आदित्यो वरुणो ये' छपा है। 'आदित्यो वरुणोयेन' होना चाहिये।

17 दानपत्र के मूल पाठ की पंक्ति ४२ में 'भंगल' के स्थान पर 'मंगलं' होना चाहिये।

---

६ राज्याभिषेक के समय पृथ्वीराज चौहान की अवस्था

'राजस्थानी' भाग ३, अंक २ (पृष्ठ १६-२०) में श्रीयुत अगरचंदजी नाहटा ने अपने-'पृथ्वीराज-रासो और उसकी हस्त-लिखित प्रतियाँ'-शीर्षक लेख में लिखा है—

"रासो की सबसे अधिक ऐतिहासिक आलोचना एवं परीक्षा श्रद्धेय ओझाजी महोदय ने की है, वह बहुत ही विद्वत्ता-पूर्ण है। पर हमारे खयाल से उनका यह लिखना कि 'सोमेश्वर के देहांत के समय (वि० सं० १२३६ में पृथ्वीराज बालक था, ठीक नहीं है, क्योंकि जिनपतिसूरिजी के शिष्य जिनपालोपाध्याय-रचित 'खरतरगच्छगुर्वावली' में पृथ्वीराज की सभा में सं० १२३९ में श्रीजिनपति-सूरिजी एवं पद्मप्रभ का बड़ा शास्त्रार्थ हुआ, उसका विस्तार से वर्णन है। उससे प्रगट है कि उस समय के पूर्व तो उक्त महाराजा ने भद्दाणक-देश[1] को विजय किया था, और शास्त्रार्थ के समय में भी उन्होंने जो कुछ संभाषण किया, वह युवावस्था का ही सूचक है, अतः सं० १२३६ में उनको बालक कहना युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता। अतएव हमारी सम्मति में पृथ्वीराज का जन्म-संवत १२२० माना जाता है, वह ठीक नहीं है। जन्म सं० १२१५ के लगभग होना चाहिए।"

राज्य प्राप्ति के समय सम्राट् पृथ्वीराज की आयु क्या थी, इसका निश्चय करना आवश्यक प्रतीत होता है।

---

1 'भद्दाणक' किसी प्रान्त का सूचक है। संभवतः 'भादरा' या 'भाद्राजूण' होना चाहिये। 'भादरा' बीकानेर में और 'भाद्राजूण' जोधपुर के अन्तर्गत है। पर उसकी स्थिति मरुभूमि में निश्चित है। स०टि०

पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर के समय के शिला-लेख वि० स० १२२६ फाल्गुनवदि ३,[1] वि० सं० १२२८ ज्येष्ठसुदि १०,[2] वि० सं० १२२६ श्रावणसुदि १३[3] और वि० सं० १२३४ भाद्रपदसुदि ४[4] के मिले हैं। पृथ्वीराज के राजत्व-काल के शिला-लेख[1] वि० सं० १२३६ आषाढ़वदि १२[5] वि० सं० १२३६ (चैत्रादि १२३७) प्रथम आषाढ़सुदि १० बुधवार[6] वि० सं० १२३६[7], वि० सं० १२४४ श्रावण[8], वि० सं० १२४५[9] और वि० सं० १२४५ फाल्गुन सुदि १२[10] के के मिले हैं, जिनसे निश्चित है कि वि० सं० १२३४ भाद्रपद सुदि ४ और वि० सं०

---

१ बीजोल्यां (मेवाड़) का। जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल; जि० ५५, भाग १, पृष्ठ ४० और आगे।

२ धौड़-गाँव (मेवाड़) का। एन्युअल रिपोर्ट ऑफ दि राजपूताना म्यूजियम, अजमेर; ई०स० १९२२-२३; पृष्ठ २, लेख-संख्या ३।

३ धौड़-गाँव (मेवाड़) का। एन्युअल रिपोर्ट ऑफ दि राजपूताना म्यूजियम, अजमेर, ई०स० १९२२-२३; पृष्ठ २, लेख-संख्या ४।

४ आम्लदा-गाँव (मेवाड़) का। वही; ई०स०१९२२-२३, पृष्ठ २, लेख-संख्या ५।

५ लोहारी-गाँव (मेवाड़) का। वही; ई०स०१९२२-२३, पृष्ठ २-३, लेख-संख्या ६।

६ पोकरण फलोदी का। मेरा जोधपुर राज्य का इतिहास; प्रथम खंड, पृष्ठ ४३।

७ मदनपुर (मध्य-प्रान्त) का। कनिंगहाम; रिपोर्ट ऑफ दि आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया; जि० १०, पृष्ठ ९८, प्लेट ३२।

८ बीसलपुर (जयपुर-राज्य) का। वही; जि० ६, पृष्ठ १५६, प्लेट २१।

९ बाजटा (ठिकाना सावर, जिला अजमेर) का। एन्युअल् रिपोर्ट ऑफ् दि राजपूताना म्यूजियम, अजमेर; ई० स० १९१२-१६; पृष्ठ २, लेख-संख्या १।

१० आमलदा-गाँव (मेवाड़) का। अप्रकाशित।

---

१ महाराजा पृथ्वीराज के प्राप्त शिलालेखों में सबसे पहला शिलालेख वि० सं० १२३४ चैत्रसुदि ····· का है, जो अजमेर के निकट वर्ती बरला गांव की एक बावड़ी में लगा हुआ था। यह शिलालेख राजपूताना म्युजिअम् अजमेर में सुरक्षित है; एवं उसमें दिया हुआ संवत् चैत्रादि वि० सं० १२३५ होना संभव है।

स० टि०

१२३६ भाद्रपदवदि १२ के बीच किसी समय सोमेश्वर का स्वर्गवास और पृथ्वीराज का राज्याभिषेक हुआ होगा[1]। शंकर पांडुरंग पंडित के 'प्रबंध-कोष' की एक प्राचीन प्रति के अंत की पुष्टिका में चौहानों की हम्मीर तक वंशावली दी है। उसमें पृथ्वीराज के राज्याभिषेक का संवत् १२३६[1] दिया है, जो शिला-लेखों से भी मिल जाता है।

वि०सं० १२३६ में पृथ्वीराज की अवस्था क्या थी ?

पृथ्वीराज के आग्रह से[2] ही वि०सं० १२४८ के आस-पास काश्मीर के

---

१ शंकर पांडुरंग पंडित- संपादित 'गउडवहो' की अँगरेज़ी-भूमिका ; पृष्ठ १३६ ।

२ गतस्पृहोऽप्यादिकविःप्रबन्धं
बबन्ध रामस्य भविष्यतोऽपि ;
सम्मान्यमानस्तु नरेश्वरेण
मादृक्कथं काव्यविधावुदास्ताम् ।

(पृथ्वीराज-विजय-महाकाव्यम् , प्रथम सर्ग, पृष्ठ १३, श्लोक ३१ (हमारे यहाँ से प्रकाशित संस्करण) ।

बाल्येऽपि लीलाजिततारकाणि
गीर्वाणवाहिन्युपकारकाणि ;
जयन्तिसोमेश्वरनन्दनस्य
षण्णां गिरां शक्तिमतो यशांसि ।
(वही; प्रथम सर्ग, पृष्ठ १४, श्लोक ३५)

---

१ महाराजा सोमेश्वर का अंतिम शिलालेख वि० सं० १२३४ भाद्रपदसुदि ४ और महाराजा पृथ्वीराज का सबसे पहला शिलालेख वि० सं० १२३४ (चैत्रादि १२३५) चैत्रसुदि का मिला है, जिनसे स्पष्ट है कि वि० सं० १२३४ के भाद्रपद मास के पीछे और वि० सं० १२३५ चैत्र सुदि के पूर्व, छः या सात मास के भीतर-भीतर सोमेश्वर का देहावसान होकर पृथ्वीराज का राज्याभिषेक हुआ हो।
सं०टि०

महाकवि जयानक ने 'पृथ्वीराज-विजय [1]-महाकाव्य की रचना की, जो चौहानों के इतिहास के लिये परमोपयोगी है। उसमें दी हुई चौहानों की वंशावली आदि शिलालेखों से भी मिल जाती है। उसके आठवें सर्ग में सोमेश्वर द्वारा बनवाए हुए मंदिरों आदि का उल्लेख करने के अनंतर उसकी मृत्यु के विषय में लिखा है कि (देवालय आदि बनाकर) ऋण (देव-ऋण) से मुक्त होकर परलोक को जीतने-वाला वह (सोमेश्वर) मेरा पिता अकेला स्वर्ग में कैसे रहे, इस विचार से शीघ्र ही पिता का दर्शन करने को गया (मर गया), साथ में उसको यह भी विचार रहा कि बालक पृथ्वीराज की मैं उपेक्षा कैसे करूँ? इस वास्ते उस (पृथ्वीराज) को राज्य देकर उसकी रक्षा के लिये अपनी पतिव्रता रानी को नियत कर पितृ भक्ति के कारण वह स्वर्ग को सिधारा[2]।

---

१ ई० स० १८७५-७६ (वि० सं० १९३२) में प्रसिद्ध पुरातत्त्व-वेत्ता डॉक्टर बूलर को काश्मीर में हस्त-लिखित संस्कृत-ग्रन्थों की खोज करते समय जोनराज की टीका-सहित पृथ्वीराज-विजय-महाकाव्य की भोजपत्र पर शारदा-लिपी में लिखी हुई एक प्राचीन अपूर्ण प्रति मिली। उसके प्रारंभ के दो पत्रे (३ पृष्ठ) जाते रहे हैं, और बीच में कहीं-कहीं अधिक और कहीं-कहीं कम भोजपत्र के अंश नष्ट हो गए हैं। उसमें केवल १२ सर्ग तक का ही अंश किसी प्रकार बचने पाया है। उसमें कुल सर्ग कितने थे, यह दूसरी कोई प्रति उपलब्ध न होने से ज्ञात न हो सका। इस काव्य का जो कुछ अंश बचने पाया है, वह भी चौहानों के इतिहास की अपूर्व सामग्री है और हमने जोनराज की टीका-सहित उसका संपादन किया है। मूल-पुस्तक इस समय पूना के भांडारकर ओरियंटल इंस्टिट्यूट में सुरक्षित है। इस अपूर्ण ग्रंथ को भी बहुत उपयोगी समझकर दीवान बहादुर हरबिलास सारड़ा ने जर्नल ऑफ़ दी रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, लंदन (ई० स० १९१३, पृष्ठ २५९-२८१ तक) में इसका अँगरेज़ी-सारांश और पं० शिवदत्त शर्मा ने 'नागरी--प्रचारिणी-पत्रिका' (नवीन संस्करण, भाग ५ संवत् १९८१, पृष्ठ १३३-१८२) में इसका हिंदी-सारांश प्रकाशित किया है।

२ ऋणशुद्धिं विनिर्माय निर्माणैरीशैः पितुः;

तत्वरे दर्शनं कर्तुं परलोकजयी नृपः ॥ ७१ ॥

ए[काकिना हि]मत्पित्रा स्थीयते त्रिदिवे कथम्;

बालश्च पृथिवीराजो मया कथमुपेक्ष्यते ॥ ७२ ॥

[इतीवास्याभिषिक्तस्य रक्षार्थं व्रतचारिणीम्;

सर्ग नौ के पहले श्लोक में लिखा है कि राजा (सोमेश्वर) की रानी ने अपने पुत्र की राज्यलक्ष्मी को धारण किया[1]। उसी सर्ग में आगे यह भी लिखा मिलता है कि उसका निपुण मंत्री कादंबवास (कैमास) था, जो राज्य-कार्य चलाता था[2]। तदनंतर उस छोटे बालक के कमल-रूपी मुख का यौवन-श्री ने चुंबन किया, अर्थात् वह युवावस्था को प्राप्त हुआ[3]। इससे यह निश्चित है कि सोमेश्वर के देहांत के समय पृथ्वीराज बालक था, और गद्दी पर बैठने के बाद वह युवा हुआ।

स्थापयित्वा निजां देवीं पितृ (?)] भक्त्या दिवं ययौ ॥ ७२ ॥

(सर्ग ८)

ऊपर ब्रैकेट में आए हुए अंश द्वितीय 'राजतरंगिणी' के कर्ता जोनराज की 'पृथ्वीराज-विजय' की टीका के आधार पर लिखे गए हैं।

१ इति हृदगतेन द[यितेन रु] द्रतामुपजग्मुषा मुषितमोहदोहदा;
अपवर्गपद्धतिमिवानुपप्लवां तनयश्रियं नृपवधूरशिश्रियत् ॥ १ ॥

(सर्ग ९)

२ स कदम्बवास इति वासवादिभिः
स्पृहणीयधीर्व्यसनमध्यपातिभिः ;
अत्रगाहते सहचरस्सुमन्त्रितां
परिरक्षितुं क्षितिधरस्य सद्गुणान् ॥ ३७ ॥

(सर्ग ९)

इसके आगे ४४वें श्लोक तक मंत्री कदंबवास का ही वर्णन है।

३ सचिवेन तेन सकलासु युक्तिषु
प्रवणेन तत्किमपि कर्म निर्ममे ;
मखपुष्करं शिशुमस्य यत् प्रभोः
परिचुम्ब्यते स्म नवयौवनश्रिया ॥४४॥

(सर्ग ९)

इसमें पृथ्वीराज के लिए "शिशुतमस्य" व्यवहार किया गया है, जिससे स्पष्ट है कि उसकी अवस्था बहुत छोटी रही होगी।

"श्रीयुत नाहटाजी लिखते हैं—'खरतरगच्छगुर्वावली' में, महाराजा पृथ्वीराज की सभा में, सं०१२३९ में, श्रीजिनपतिसूरि एवं पद्मप्रभ के बीच बड़ा शास्त्रार्थ होने का विस्तृत वर्णन है, जिससे प्रकट है कि उस समय के पूर्व महाराजा पृथ्वीराज ने बड़ी भारी सेना के साथ भद्दाणक-देश विजय किया था। उनके अनुसार शास्त्रार्थ के समय पृथ्वीराज ने जो कुछ संभाषण किया, वह उसकी युवावस्था का ही सूचक है।" गुर्वावली जैन आचार्यों के गुण-गान का ग्रंथ है और उसमें दी हुई घटनाएँ धर्म-भावना-प्रधान होने से एवं वह ग्रंथ पृथ्वीराज के समकालीन लेखक का लिखा हुआ न होने से इतिहास के लिये सर्वतोभाव से ठीक ही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। राजा चाहे बालक हो, तो भी उसके मंत्री आदि कर्मचारी उसी के नाम से राज्य-कार्य चलाते, युद्ध करते और देश विजय करते रहे हैं, जो उसी राजा के नाम से ही अंकित किए जाते हैं। ऐसे कई उदाहरण प्राचीन इतिहास से मिल जाते हैं। गुजरात के सोलंकी राजा कुमारपाल का देहांत वि० सं० १२३० में हुआ। उसके पीछे उसका भतीजा अजयपाल गद्दी पर बैठा, जिसका देहांत वि० सं० १२३३ में हुआ। उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र मूलराज (दूसरा) हुआ, जो बाल्यावस्था[1] में ही गद्दी पर बैठने के कारण 'बाल मूलराज' कहलाता है। उसका स्वर्गवास वि०सं० १२३५ में होने पर उसका छोटा भाई भीमदेव गुजरात का राजा हुआ, जिसने वि.सं.१२९८ तक राज्य किया। भीमदेव बालक[2] ही गद्दी पर बैठा था[3]। उपर्युक्त अजयपाल मेवाड़ के गुहिल-

---

१ धृतपार्थिवनेपथ्ये निष्क्रान्तेऽत्र शतक्रतौ ;
जयंताभिनयं चक्रे मूलराजस्तदंगजः ।
चापलादिव बालेन रिंखता समरांगणे ;
तुरुष्काधिपतेर्येन विप्रकीर्णा वरूथिनी ।
(सोमेश्वर; कीर्ति-कौमुदी ; सर्ग २, श्लोक ५६-७)

२ मन्त्रीभिर्मंडलीकैश्च बलवद्‌भिः शनैः शनैः ;
बालस्य भूमिपालस्य तस्य राज्यं व्यभज्यत ।
(वही; सर्ग २, श्लोक ६१)

३ मेरा राजपूताने का इतिहास; जिल्द १ (द्वितीय संस्करण), पृष्ठ २४९ और २५६ में दिया हुआ गुजरात के सोलंकियों का वंश-वृक्ष ।

वंशी राजा सामंतसिंह के साथ की लड़ाई में बुरी तरह घायल हुआ था। उसका बदला लेने के लिये गुजरात वालों ने मेवाड़ पर चढ़ाई कर सामंतसिंह से मेवाड़ छीन लिया, जिससे उसने बागड़ में जाकर नवीन राज्य की स्थापना की, जो इस समय डूंगरपुर-राज्य कहलाता है। वहां भी गुजरात वालों ने उसे टिकने न दिया[1] और उसके कुटुम्बी विजयपाल के पुत्र अमृतपाल को बागड़ का राजा बनाया, ऐसा उक्त भीमदेव के वि० सं० १२४२ कार्तिकसुदि १५ रविवार के अप्रकाशित दानपत्र1 से (जो हमें मिला) निश्चित है[2]। सामंतसिंह को बागड़ से निकाला, उस वक्त भीमदेव बालक था, पर इसका श्रेय उसे ही दिया गया है। ऐसे उदाहरण, जैसा हम ऊपर लिख आए हैं, इतिहास में अनेक मिलते हैं, पर विस्तार-भय से यहाँ केवल एक ही दिया गया है। यही पृथ्वीराज की भदानक की चढ़ाई के बारे में भी कहा जा सकता है, क्योंकि अब तक कोई संवत् उपलब्ध नहीं हुआ। जिनपतिसूरि और पद्मप्रभ के बीच जो शास्त्रार्थ हुआ, उसमें पृथ्वीराज का संभाषण किसी अवस्था-विशेष का सूचक नहीं माना जा सकता।

ऐसी दशा में हम पृथ्वीराज-विजय-महाकाव्य का कथन ही ठीक मानते हैं, क्योंकि वह समकालीन लेखक की रचना है। अतएव यह निश्चय-पूर्वक कहा जासकता है कि गद्दीनशीनी के समय पृथ्वीराज की बाल्यावस्था ही थी।

सुधा, लखनऊ (मा० प०) वर्ष १४, खंड १ सं० ४।

---

१ वही; जिल्द ३, भाग १ (डूंगरपुर-राज्य का इतिहास; पृष्ठ ३४-३८ और ४४-५१)

२ इसके अधिकांश के लिये देखो मेरा डूंगरपुर-राज्य का इतिहास; पृष्ठ ५० का टिप्पण १।

---

1 यह दानपत्र उदयपुर के जयसमुद्र (ढेबर) नामक विशाल सरोवर के निकटवर्ती वीरपुर नामक गांव से मिला है, जो गुहिलवंश की भटेवराशाखा के महाराज अमृतपालदेव का है। अमृतपाल, गुजरात के सोलंकी राजा भीमदेव (द्वितीय, भोला भीम) का आश्रित था, एवं उस की कृपा से ही उसको गुजरात का राज्य मिला था, ऐसा उक्त दानपत्र से प्रकट होता है। यह दानपत्र गुजरात के सोलंकी राजा भीमदेव (द्वितीय, भोला-भीम) का नहीं है। एवं अमृतपालदेव ने उस (भीमदेव) आदि के नाम कृतज्ञता प्रकाश करने के लिए ही खुदवाये हैं। उक्त ताम्रपत्र 'भारतीय विद्या', बंबई (त्रैमासिक) भाग २, संख्या २, में प्रकाशित होचुका है, जिसको इस निबंधसंग्रह में संख्या ५ पर छापा है। स०दि०

७ राठौड़ और गहरवार

राठौड़ों और गहरवारों (गाहड़वालों) के सम्बन्ध में एक भ्रांतिमूलक धारणा फैली हुई है, जिसका निराकरण करना आवश्यक है। कुछ लोगों का ऐसा मानना है कि, ये दोनों एक ही वंश के विभिन्न नाम हैं और एक ही जाति के सूचक हैं। इस धारणा की उत्पत्ति का मूल चन्द वरदाई-कृत 'पृथ्वीराज रासा' है, जिसमें उसने कन्नौज के राजा विजयचन्द्र को, जो गाहड़वाल थे, कमधज्ज तथा राठौड़ लिखा है।[1] उसके आधार पर कर्नल टॉड ने भी उक्त राजाओं को राठौड़ ही मान लिया[2] और वास्तविक इतिहास के अज्ञान में भाटों आदि ने भी अपनी वंशावलियों आदि में उन्हें राठौड़ लिख दिया। परिणाम यह हुआ कि राजपूताने के वर्तमान राठौड़, भाटों आदि के कथन को प्रामाणिक मानकर अपने आप को गाहड़वाल जयचन्द्र का वंशज मानते हैं।

कुछ समय पूर्व तक मैं भी टॉड के कथनानुसार राठौड़ों को गाहड़वालों का ही वंशज मानता था, पर क्रमशः इतिहास-क्षेत्र में शोध की वृद्धि होने के फल-स्वरूप इस सम्बन्ध में नई बातें प्रकाश में आईं, जिससे मुझे अपना पूर्व मत बदलने पर बाध्य होना पड़ा। टॉड-कृत 'राजस्थान' के प्रकाश में आने के बाद भारतीय विद्वानों में भी इतिहास प्रेम की जागृति हुई और यहां के निवासियों में वास्तविक

---

१ कमधज्ज के लिए देखो—'पृथ्वीराज रासा' (नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित); समय ४५, पृष्ठ १२५५ और राठौड़ के लिए समय १, पृ० ५४ तथा समय ५५ पृष्ठ १४१७। ये दोनों शब्द 'पृथ्वीराज रासा' में कई जगह आये हैं।

२ टॉड राजस्थान (ऑक्सफर्ड संस्करण); जिल्द १, पृष्ठ १०५।

इतिहास जानने की रुचि बढ़ी। शनैःशनैः शोध का कार्य आगे बढ़ा और कितने ही नये महत्व पूर्ण लेखों, ताम्र-पत्रों आदि का पता चला।

कन्नौज के राजाओं के पहिले के प्रकाशित ताम्र-पत्रों में उनका वंश-परिचय नहीं दिया था, जिससे बहुत समय तक टॉड के कथनानुसार सब विद्वान उन्हें राठौड़वंश का ही मानते रहे, पर पीछे से राजा गोविन्दचन्द्र के कितने ही ऐसे ताम्र-पत्र मिले, जिनमें उसे गाहड़वाल वंश का बतलाया है[1]। इसी प्रकार गोविन्दचन्द्र की राणी कुमारदेवी के शिला-लेख में भी उन्हें गाहड़वाल ही लिखा है।[2] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि, जयचन्द्र और उसके पूर्वज गाहड़वाल वंश के थे। इस ओर सर्व प्रथम विद्वानों का ध्यान आकर्षित करने का श्रेय डाक्टर हॉर्नली को है, जिसने गाहड़वालों को राठौड़ों से भिन्न बतलाने का प्रयत्न किया है।[3]

भाटों आदि का यह कथन है कि–जयचन्द्र आदि राठोड़ थे, प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। इस बात के लिए 'पृथ्वीराज रासा' के अतिरिक्त उनके पास और कोई आधार नहीं है। यही कारण है कि उनकी वंशावलियों में दो नामों को छोड़ कर शेष सभी नाम और सम्वत् कल्पित दिये हुए हैं। जयचन्द्र के पुत्र हरिश्चन्द्र का मछली शहर से वि० सम्वत् १२५३ (ई० सन् ११९६) का दान-पत्र मिला है,[4] परन्तु भाटों की वंशावलियों में उसका नाम भी नहीं मिलता, जिसका कारण यही है कि उनकी वंशावलियाँ 'पृथ्वीराज रासा' के आधार पर ही बनी हैं, जिसमें उसका नाम नहीं है। वर्तमान रूप में मिलने वाले विक्रम सं० की सोलहवीं सदी के आस-पास के बने हुए 'पृथ्वीराज रासा' के विषय में यहाँ इतना कह देना अप्रासंगिक न होगा कि, वह केवल कवि-कल्पना है। उसमें दी हुई कुछ

---

१ बसही का विक्रम संवत् ११६१ ताम्र-पत्र (इण्डियन एंटिक्वेरी जि० १४, पृष्ठ १०३); कमोली का वि० सं० ११६२ का ताम्र-पत्र (एपिग्राफिया इण्डिका जि० २, पृष्ठ ३५९); राहन का वि० सं० ११६६ का दानपत्र (इण्डियन एण्टिक्वेरी जि० १८, पृष्ठ १५) आदि।

२ एपिग्राफिया इण्डिका जिल्द ९, पृष्ठ ३२३।

३ इण्डियन एंटिक्वेरी जि० १४ पृष्ठ ८९।

४ एपिग्राफिया इण्डिका जिल्द १०, पृष्ठ ९५।

घटनाएँ भले ही ऐतिहासिक हों, पर अधिकांश कल्पित ही हैं। फलतः प्रगतिशील इतिहास के लिए यह ग्रन्थ सर्वथा उपयोगी नहीं कहा जा सकता।

भाटों को वास्तविकता का ज्ञान न होने के कारण उनके प्राचीन इतिहास-सम्बन्धी वर्णन अधिकांश अशुद्ध और काल्पनिक हैं। उन्होंने गाहड़वाल वंशियों को ही राठौड़ वंशी लिखने में गलती खाई, इतना ही नहीं, बल्कि उन्होंने कई दूसरे वंशों का वर्णन भी ऐसा ही निराधार लिख दिया है। काठियावाड़ के गोहिल वस्तुतः मेवाड़ के सूर्यवंशी गुहिल राजा शालिवाहन के वंशज हैं और मारवाड़ के खेड़ इलाके से ही उधर गये हैं[1]। गिरनार (काठियावाड़) के यादव राजाओं के सम्बन्ध के विक्रम संवत की पन्द्रहवीं शताब्दी के आस-पास के बने हुए "मंडलीक-महाकाव्य" में उन्हें सूर्यवंशी ही लिखा है,[2] पर भाटों ने उनको चन्द्रवंशी तथा शक संवत के प्रवर्तक शालिवाहन का जिसको जैन लेखक लकड़हारा[3] या कुम्हार का पुत्र[4] मानते हैं, वंशधर बना लिया[5]। पोरबन्दर (काठियावाड़ के जेठवा राजाओं को, जो कन्नौज के रघुवंशी प्रतिहारों के वंशधर हैं, भाटों ने हनूमान

---

१ मुहणोत नैणसी की ख्यात जि० २, पृष्ठ ४५७–६०। कालीदास देवशंकर पंड्या; गुजरात राजस्थान (गुजराती) पृष्ठ २४६। अमृतलाल गोवर्धनदास शाह और काशीराम उत्तमराम पंड्या; हिंद-राजस्थान (गुजराती) पृष्ठ ११३। मार्कण्ड एन० मेहता एण्ड मनु एन० मेहता; हिंद-राजस्थान (अंग्रेजी) पृष्ठ ४८७। नागरी प्रचारिणी पत्रिका (नवीन संस्करण) जि० ३ पृष्ठ ३६१-२।

२ गंगाधर; मण्डलीक महाकाव्य, सर्ग ६, श्लोक २३। मूल अवतरण के लिए देखो मेरा 'राजपूताने का इतिहास' जिल्द २, पृष्ठ १३५५, टि० ३।

३ मेरुतुङ्ग, प्रबन्ध चिंतामणि (सातवाहन, शालिवाहन प्रबन्ध) पृष्ठ १०, निर्णयसागर संस्करण।

४ राजशेखर, चतुर्विंशति (प्रबन्ध कोष) पत्र ७३-८२। श्री हेमचन्द्राचार्य ग्रन्थावली संख्या २०।

५ कालिदास देवशंकर पंड्या, गुजरात राजस्थान (गुजराती) पृ० २४६। अमृतलाल गोवर्द्धनदास शाह और काशीराम उत्तमराम पंड्या, हिंद राजस्थान (गुजराती) पृ० ११३। मार्कंड एन० मेहता एण्ड मनु एन० मेहता, हिंद राजस्थान (अङ्गरेजी) पृ० ४८७।

का वंशज माना है[1]। विक्रम सम्वत् की छठी से सोलहवीं शताब्दी तक सोलंकी अपने को चन्द्रवंशी मानते थे[2]। उनको भाटों ने अग्निवंशी लिख दिया[3]। मारवाड़ और कन्नौज के प्रतापी प्रतिहारों को, जो अपने को सूर्यवंशी लिखते रहे[4] तथा चौहानों को, जिनको बीसलदेव (चतुर्थ) के समय के चौहानों के इतिहास के शिलाओं पर खुदे हुए एक संस्कृत काव्य[5] तथा पृथ्वीराज (तृतीय) के "पृथ्वीराज विजय महाकाव्य[6]" में सूर्यवंशी लिखा है, भाटों ने अग्निवंशी मान लिया[7]। अब ये सब अपने को, जैसा भाटों ने लिखा, वैसा ही मानने लगे हैं। भाटों की तैयार की हुई गाहड़वालों की वंशावली और सम्वत् कहाँ तक कल्पित हैं, यह नीचे दिये हुए नक्शे से स्पष्ट हो जायगा:—

जोधपुर राज्य की ख्यात से नाम	ख्यात में दिया हुआ समय	ताम्रपत्रादि से नाम	ताम्रपत्रादि से निश्चित ज्ञात समय
सेतुग	... ...	यशोविग्रह	... ...
भरथ	वि. सं. ५१६-२६	महीचंद्र-महिपाल	... ...
पुंज	... ...	चन्द्रदेव	वि० सं० ११४८—५६
धर्म बभ	... ...	मदनपाल	वि० सं० ११६३—६६
अभयचंद	... ...	गोविंदचन्द्र	वि० सं० ११७१—१२११
विजयचंद	... ...	विजयचन्द्र	वि० सं० १२२४—२५
जयचंद	वि.सं. ११३२-८१	जयचन्द्र	वि० सं० १२२६—५०
वरदाईसैन	...	हरिश्चन्द्र	वि.सं.१२५३(जन्मवि.सं.१२३२)

---

१ गैजेटियर ऑफ दी बोम्बे प्रेसीडेंसी; जिल्द १, भाग १, पृ० १३५। कालीदास देवशंकर पंड्या, गुजरात राजस्थान, पृष्ठ २५३। अमृतलाल गोवर्द्धनदास शाह और काशीराम उत्तमराम पंड्या; हिंद-राजस्थान; पृष्ठ १६५। मार्कंड एन० मेहता; हिंद राजस्थान, पृष्ठ ७०२।

२ देखो मेरा सोलंकियों का प्राचीन इतिहास; भाग १, प्रकरण १, पृष्ठ १—१३।

३ पृथ्वीराजरासा; समय १, पृष्ठ ५४–५।

४ मेरा राजपूताने का इतिहास; जिल्द १, (द्वितीय संस्करण) पृष्ठ ७४–५।

५ मेरा राजपूताने का इतिहास; जिल्द १, द्वितीय संस्करण ७२ और ७३ टि० १।

६ मेरा राजपूताने का इतिहास; जिल्द १, द्वितीय संस्करण पृ० ७१ टि० १।

७ पृथ्वीराजरासा; समय, १ पृष्ठ ५४–५।

गाहड़वालों और राठौड़ों में समानता का अनुमान करना निरा भ्रम ही है। हम ऊपर बतला आये हैं कि राष्ट्रकूटों (राठौड़ों) का बड़ा प्रतापी राज्य सर्व प्रथम दक्षिण में रहा[1]। दक्षिण का राज्य सोलंकियों द्वारा छीने जाने पर भी उनका कई जगह अधिकार बना रहा। दक्षिण, गुजरात, काठियावाड़, सौंदत्ति, हथूंडी, गया, बेतुल, पथारी, धनोप आदि से उनके शिला-लेख एवं ताम्र-पत्र मिले हैं[2]। उनमें उन्होंने अपने आप को राष्ट्रकूट ही लिखा है। सौंदत्ति वाले अपने को बहुधा 'रट्ट' लिखते रहे, जो 'राष्ट्र' या 'राष्ट्रकूट' (राठौड़) का संक्षिप्त रूप है और दक्षिण के ताम्रपत्रों में भी कभी-कभी मिलता है। यदि गाहड़वालों के साथ उनकी किसी प्रकार की भी समानता होती, तो इसका उल्लेख उन (राठौड़ों) के ताम्रपत्रों आदि में अवश्य होता। अथवा यदि गाहड़वाल ही अपने को राठौड़ों का वंशज मानते होते तो भी वे अपने ताम्रपत्रों आदि में इसका उल्लेख गर्व के साथ अवश्य करते, क्योंकि राठौड़ वंश गाहड़वालों से अधिक प्रतापी रहा, जैसा कि उनके दक्षिण के इतिहास से स्पष्ट है।

जिन दिनों कन्नौज में गाहड़वालों का राज्य था, उन्हीं दिनों राष्ट्रकूटों की एक शाखा कन्नौज राज्य के अन्तर्गत बदायूँ में राज्य करती थी, जिसका प्रवर्तक चन्द्र था। उसके तथा कन्नौज के गाहड़वाल चन्द्रदेव के नामों में समानता होने के कारण कुछ लोगों ने दोनों को एक ही व्यक्ति मान कर उस (गाहड़वाल चन्द्रदेव) के दो पुत्रों-मदनपाल एवं विग्रहपाल[3]-से क्रमशः कन्नौज और बदायूँ की शाखाओं का चलना मान लिया है, पर यह निर्मूल ही है। कन्नौज के चन्द्रदेव के लेख वि०सं०११४८ से वि०सं० ११५६ तक के[4] और उसके पुत्र मदनपाल के

---

१ देखो मेरा राजपूताने का इतिहास; जिल्द ४, भाग १, पृष्ठ ८८।

२ देखो मेरा राजपूताने का इतिहास, जिल्द ४, पृष्ठ ८८- १३४।

३ विग्रहपाल कन्नौज के गाहड़वाल चन्द्रदेव का पुत्र नहीं, किन्तु उससे भिन्न, बदायूँ के राठौड़ चन्द्र का पुत्र था। इन दोनों को एक ही व्यक्ति का पुत्र मानना सरासर गलती है।

४ डा० देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर, ए लिस्ट ऑफ दी इन्स्क्रप्शन्स ऑफ दी नॉर्दर्न इंरिडया संख्या १५४, १५७, १६२ और १६४।

वि०सं०११६१, ११६२ (११६४) और ११६६ के मिले हैं[1]। उधर बदायूँ के चन्द्रदेव के पाँचवें वंशधर मदनपाल के समय का एक लेख वि०सं० ११७६ का मिला है[2]। यह मदनपाल कन्नौज के चन्द्रदेव के दूसरे वंशधर गोविन्दचन्द्र देव का समकालीन था, जिसके वि०सं०११७६ के कई ताम्रपत्र मिले हैं।[3] इससे बदायूँ के चन्द्र का वि०सं० १०७६ में विद्यमान होना निश्चित है। ऐसी दशा में बदायूँ का चन्द्र और कन्नौज का चन्द्रदेव समकालीन एवं एक नहीं हो सकते। बदायूँ के चन्द्र को वहाँ के शिला-लेख में वोदामयूता (बदायूँ) का पहिला राजा लिखा है[4] और गाहड़वाल चन्द्रदेव को उसके ताम्रपत्र में गाधीपुर (कन्नौज) के राज्य को विजय करने वाला लिखा है[5]। इन विभिन्नताओं को देखते हुए तो यही अनुमान दृढ़ होता है कि ये दोनों एक नहीं, वरन् भिन्न २ व्यक्ति थे।

राजपूतों में एक ही वंश में परस्पर विवाह-सम्बन्ध नहीं होता। पहले भी राजपूताने में कोई गाहड़वाल नहीं था और न अब है, पर संयुक्तप्रान्त में गाहड़-वाल और राठौड़ दोनों ही हैं। वहाँ के राठौड़, राठौड़ों में[6] और गाहड़वाल, गाहड़-

---

१ उपर्युक्त संख्या १६८ और १७१।

२ आर्कियालाजिकल सर्वे ऑफ़ नॉर्दर्न इण्डिया (न्यू सीरिज) जि० १ पृष्ठ ७१।

३ डा० देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर 'ए लिस्ट ऑफ़ दी इन्स्क्रप्शन्स ऑफ़ नार्दर्न इण्डिया' संख्या २०१, २०२ और २०३।

४ ''प्रख्याताकिल राष्ट्रकूट कुल जक्ष्मा पाल दोः पालिता। पाञ्चालाभिध देशभूयशकरी वोदाम-यूतापुरी ॥ ···तत्रादितो भवदन्तु गुणो नरेन्द्र—श्चन्द्रः स्वखड्ग भयभीषित वैरीवृन्दः।

—एपिग्राफ़िया इण्डिका; जि० १, पृष्ठ ६४।

५ आसीदशीतद्युति वंशजातक्ष्मा पालमालासु दिवंगता सु। साक्षाद्विवस्वानिव भूरिधाम्ना नाम्ना यशो विग्रह इत्युदारः ॥ तत्सुतो भूत्महीचन्द्रश्चन्द्र धामनिभं निजम्। ···॥ तस्या भूत्तनयो नयैकरसिकः क्रान्तद्विषन्मंडलो विध्वस्तोद्धतधारियो धार्तमिरः श्रीचन्द्रदेवो नृपः। ये नो···श्रीमद् गाधिपुराधि-राज्यम समंदोर्विक्रमेणार्जितम् ॥

—चन्द्रदेव के वि० सं० ११४८ के दानपत्र से। (एपिग्राफ़िया इण्डिका; जि० ६, पृष्ठ ३०४।

६ ए० एच० बिंगले, राजपूतस् पृष्ठ १२१।

वालों में [1]शादी नहीं करते, पर इन दोनों वंशों में वहाँ परस्पर विवाह-सम्बन्ध होते हैं[2], जिसके कई ताजे उदाहरण भी विद्यमान हैं[3]। यदि गाहड़वाल और राठौड़ एक ही वंश के होते, तो ऐसा कभी न होता। इन दोनों वंशों के गौत्र भी भिन्न हैं, पर गौत्र नये पुरोहित बनाने के साथ बदलते रहे हैं, जिससे इन पर विचार करना निरर्थक है।

गाहड़वाल राजपूताने में आये हों, ऐसा पाया नहीं जाता। यदि वे राजपूताने में आये होते, तो उनकी बड़ी ख्याति हुई होती, परन्तु बाँकीदास के समय तक गाहड़वाल भी राठौड़ हैं, ऐसा कोई मानता न था, क्योंकि उसने राठौड़ों की शाखाओं और उप-शाखाओं के जो नाम दिये हैं, उनमें गाहड़वालों का नाम नहीं है[4]। अन्य ख्यातों आदि में न तो इनका अलग नामोल्लेख किया है और न इन्हें राठौड़ों की शाखाओं अथवा उपशाखाओं (खांपों) में ही लिखा है। मुंहणोत नैणसी की ख्याति में राठौड़ों के प्रसंग में गाहड़वालों का उल्लेख नहीं है[5], पर बुन्देलों के वृत्तान्त में उन्हें गाहड़वालों का वंशज लिखा है[6]। 'पृथ्वीराजरासा' में जहाँ छत्तीस राजवंशों के नाम दिये हैं, वहाँ तो गाहड़वालों का नाम नहीं है, परन्तु आगे चल कर एक स्थल पर गाहड़वालों का भी नामोल्लेख किया है[7]। टॉड ने

---

१ ए० एच० बिंग्ले, राजपूत्स पृष्ठ ७३।

२ ए० एच० बिंग्ले राजपूत्स पृष्ठ ७३, क्रुक, ट्राइब्स एंड कास्ट्स ऑफ दी नॉर्थवेस्टर्न प्राविंसेज जि० २, पृष्ठ ३७१। इलियट्, ग्लासरी (बीम्स) जि० १, पृष्ठ ४५ और १२१।

३ जुब्बल के राठौड़ राजा भगतचन्द की बहिन का विवाह वर्तमान ओरछा नरेश गाहड़वाल वीरसिंहजू देव के पिता स्वर्गवासी राजाबहादुर भगवंतसिंहजू के साथ हुआ था। पुराहाट (चक्रधरपुर) के राठौड़ राजा नरपतिसिंह की पुत्री का विवाह रामगढ़ (पदमा) के स्वर्गवासी राजा दुर्गानारायणसिंह गाहड़वाल के साथ हुआ था। दुर्गानारायणसिंह के पुत्र राजा कामाख्यानारायणसिंह गाहड़वाल इस समय विद्यमान हैं। ऐसे उदाहरण और भी मिलते हैं। —लेखक

४ कविराजा बाँकीदास; ऐतिहासिक बातें, संख्या १३५ और २३६।

५ मुंहणोत नैणसी की ख्यात; जिल्द २, पृष्ठ ४७।

६ नैणसी की ख्यात; जिल्द २, पृष्ठ २१२।

७ चन्देल बैस बांगरां सूर। चेरै सुमहस इक मल्हन नूर॥

अपने ग्रन्थ 'राजस्थान' में जहाँ राजपूतों के ३६ राजवंशों के परिशोधित नाम दिये हैं, वहाँ उसने इन दोनों को भिन्न माना है[1] और गाहड़वालों के विषय में तो यह लिखा है:—

'गहरवाल-राजपूत को राजस्थान में उसके राजपूत भाई कठिनता से जानते हैं, क्योंकि वे उसके अशुद्ध रक्त[2] को अपने में मिलाना स्वीकार नहीं करेंगे, यद्यपि वीर योद्धा होने के कारण वह उनकी समानता के योग्य है[3]।'

प्रो० देवदत्त भंडारकर ने उत्तर भारत के शिलालेखों आदि की एक सूची प्रकाशित की है। उसमें उसने जयचन्द्र और उसके पूर्वजों के मिले हुए समस्त ताम्र-पत्रों आदि में उनको गाहड़वाल ही लिखा है[4]। अब कोई पुरातत्व वेत्ता उनको गाहड़वाल मानने में संकोच नहीं करता। भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास लेखक वी० ए० स्मिथ ने स्वरचित 'अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' नामक ग्रन्थ में इन दोनों जातियों को भिन्न माना है और लिखा है—"कन्नौज राठौड़ वंश कल्पना मात्र है। वहाँ के राजा गाहड़वाल अथवा गहरवाल जाति के थे, जैसा कि गोविंदचन्द्र के वि० सं० ११६१ (ई० सन् ११०४) के बसाही के ताम्रपत्र से पूर्णतया स्पष्ट है

सोलंकी जद्दव सजि अनेक। सजि गहरवार गोहिल अनेक॥

—पृथ्वीराजरासा, महोबा पृष्ठ २५०६।

१ टॉड राजस्थान जिल्द १ पृष्ठ ६८ के सामने का नक्शा।

२ यह कर्नल टाड का भ्रम ही है, क्योंकि गाहड़वाल उच्चकुल के राजपूत हैं। कन्नौज का प्रसिद्ध राजा जयचन्द्र और उसके पूर्वज गाहड़वाल थे। संयुक्त प्रान्त में, जहाँ यह जाति अब तक विद्यमान है, उच्चकुल के शुद्ध राजपूत वंशों अर्थात् गौड़, बैस, चन्देल, चौहान, राठौड़, भदोरिया, कछवाहा, निकुंभ, पड़िहार आदि के साथ इनका विवाह सम्बन्ध होता है (कप्तान ए० एच० बिंग्ले, राजपूत पृष्ठ ७२, कप्तान लुअर्ड, सैन्ट्रल इण्डिया गैजेटियर सीरिज जिल्द ६ पृष्ठ १०, क्रुक, ट्राइब्स एण्ड कास्टस आफ दी नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज; जिल्द २, पृष्ठ ३७१। इलियट् ग्लासरी; (बीम्स) जिल्द १, पृष्ठ ४५ और १२१)।

३ राजस्थान जिल्द १ पृष्ठ १३६।

४ डा० डी० आर० भंडारकर ए लिस्ट आफ दी इंस्क्रिप्शन्स आफ दी नार्दर्न इंडिया संख्या १५४, १५७, १६२, १६४, १७१, १७४, १७८, १८५, १८७, १८८, १९२, १९३, १९५, २०१, २०२, २०३, २०५, २०७, २०९, २१७, २१८, २२१, २२७, २२८, २५१, २६२, २६६, २७१, २७६, २८१, ३३३, ३४५, ३६८, ३६९, ३७२, ३७४, ३७५, ३७८, ३८७, ३८८, ३८९, ४०९, ४३३ और १५२५।

और गौतम जाति की कथाओं से भी यही पाया जाता है। कन्नौज के राजाओं के साथ राठौड़ शब्द लगने का कारण मुख्यतया यह है कि जोधपुर के राठौड़ राजा अपने आपको राजा जयचन्द्र के वंश के एक बच कर निकले हुए बालक का वंशज मानते हैं। ऐसी बहुत सी कथाएँ प्रसिद्ध हैं, पर वे इतिहास के लिए सर्वथा निरुपयोगी है।"[1]

'मध्यभारत के विस्तृत गैजेटियर सीरीज' के कर्त्ता कैप्टिन ई० सी० लुअर्ड ने ओरछा राज्य के वृत्तान्त में राठौड़ों और गाहड़वालों को भिन्न २ लिखा है[2] तथा डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी और डॉ० हेमचन्द्रराय ने भी इन दोनों वंशों को भिन्न ही माना है।

इन सब बातों पर विचार करने से तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वस्तुतः गाहड़वाल और राठौड़ दो भिन्न-भिन्न जातियाँ हैं और इन में परस्पर किसी प्रकार की भी समानता नहीं है। गाहड़वाल एक अलग जाति है, जो सूर्यवंशी[3] हैं, और राठौड़ इसके विपरीत चन्द्रवंशी है[4]। जैसा कि उनके शिलालेखों, दानपत्रों तथा प्राचीन पुस्तकों से निश्चित है। इनमें आपस में विवाह सम्बन्ध होना भी इनके भिन्न होने का प्रबल प्रमाण है। राजपूताना के वर्तमान राठौड़ों के मूल पुरुष राव सीहा के मृत्यु स्मारक में उसे राठौड़ ही लिखा है[5], तथा बीकानेर के महाराजा रायसिंह की बीकानेर के क़िले की विक्रम सम्वत १६५० की बृहत् प्रशस्ति में उसने अपने वंश को राठौड़ वंश ही लिखा है। ऐसी दशा में बुन्देलों के समान राजपूताना के राठौड़ों को गाहड़वाल जयचन्द्रका वंशधर मानने के लिए हम किसी प्रकार भी प्रस्तुत नहीं हैं। संभवतः राजपूताना के वतमान राठौड़ बदायूं के राठौड़ों के वंशधर हों। राठौड़ सर्वत्र अपने लिये राष्ट्रकूट या राठौड़ ही लिखते रहे हैं। इसीलिए राठौड़ों के इतिहास में हमने गाहड़वालों का इतिहास दर्ज करना उचित नहीं समझा।

क्षत्रिय हितैषी, जयपुर, भाग २, खंड २, सं० १२।

---

१ वी० ए० स्मिथ अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया (चतुर्थ संस्करण), पृष्ठ ३६६, टि० ५।

२ जिल्द; ६, ए०, पृष्ठ १०

३ देखो हमारा लिखा राजपूताने का इतिहास; जिल्द ४, भाग १, पृ० १४१, टिप्पणी २

४ देखो हमारा लिखा राजपूताने का इतिहास; जिल्द ४, भाग १, पृ० ८६।

५ इण्डियन एंटिक्वेरी; जिल्द ४०, पृष्ठ १८१, तथा ३०१।

८ काठियावाड़ के गोहिल*

मेवाड़ के राजवंश का संस्थापक गुहिल (गुहदत्त) हुआ, जिसके वंशजों को संस्कृत लेखों में 'गुहिल', 'गुहिलपुत्र', 'गोभिलपुत्र', 'गुहिलोत' और गौहिल्य लिखा है तथा भाषा में उन्हें 'गुहिल', 'गोहिल', गहलोत' और 'गैहलोत' कहते हैं। संस्कृत के 'गोभिल'[1] और 'गौहिल्य'[2] शब्दों का भाषा में गोहिल रूप बना है।

काठियावाड़ के गोहिलों के दो प्राचीन शिलालेख मिले हैं, जिनमें से एक मांगरोल (काठियावाड़) में सोढली वाव (वापी, बावली) में लगा हुआ वि०सं० १२०२ (वर्तमान) और सिंह संवत ३२ आश्विनवदि १३ सोमवार (ई०स०

---

१ अस्ति प्रसिद्धमिह गोभिलपुत्रगोत्रन्तत्रा जनिष्ट नृपतिः किल हंसपालः।

मेराघाट का शिलालेख (ए०इ०; जि०२, पृ०११)।

२ यस्माद्धौ गुहिलवर्णनया प्रसिद्धां गौहिल्यवंशभवराजगणोऽत्रजातिम्।

रावल समरसिंह की वि० सं० १३३१ (ई० स० १२७४) की चित्तौड़ की प्रशस्ति, भावनगर इन्स्क्रिपशन्स; पृ० ७५)।

---

* यह निबन्ध डा० ओझा के राजपूताना का इतिहास (जि० २, भाग ४, पृ०१३५०-५ और उदयपुर राज्य का इतिहास (जि० २ दसवां अध्याय, पृ० १०४०-४५) में मुद्रित 'राजपूताने से बाहर के गुहिल (सीसोदिया) वंश के राज्य' शीर्षक प्रकरण के 'काठियावाड़ आदि के गोहिल' शीर्षक इतिवृत्त की प्रतिलिपि है, जिसको डा० ओझा ने उक्त इतिहास प्रकाशित होने के आस-पास ही सुधा पत्रिका, लखनऊ में प्रकाशित करवाया था। (स०टि०)

११४४ ता०२८ अगस्त) का है[१] और दूसरा मांगरोल के पास के घेलाणा गांव के कामनाथ के मन्दिर का वलभी संवत ९११ वि०सं०१२८७=ई०स०१२३० का[२] है।

पहले लेखका आशय यह है कि (सोलंकी राजा) सिद्धराज (जयसिंह) अपनी उत्तम कीर्ति से पृथ्वी को अलंकृत कर स्वर्ग को गया तो उसके राज सिंहासन पर कुमारपाल बैठा। गुहिल के वंश में बड़ी कीर्तिवाला साहार हुआ। उसका पुत्र सहजिग (सेजक) चौलुक्य राजा का अंगरक्षक हुआ। उसके बलवान पुत्र सौराष्ट्र (सोरठ) की रक्षा करने में समर्थ हुए। उनमें से वीर सोमराज ने अपने पिता के नाम पर सहजिगेश्वर नामक शिवालय बनाया, जिसकी पूजा के लिए उसके ज्येष्ठ भाई मुलूक (मूलुक) ने, जो सौराष्ट्र का शासक (हाकिम) था, शासन दिया अर्थात् राज्य के मांगरोल, चोरवाड़, वलेज, लाठोदरा, जूगटा, वंथली तालारा (तलोदरा) आदि स्थानों में उस मन्दिर के लिए अलग-अलग कर लगाये (जिनका विस्तृत वर्णन उस लेख में है)। उक्त लेख में सहजिग और मूलुक के पूर्व 'ठ०' लिखा है, जो 'ठक्कुर' पदवी का सूचक है।

दूसरे शिलालेख से, जो वलभी संवत ९११ (वि० सं० १२८७) का है, पाया जाता है कि ठ० मूलु के पुत्र राणक (राणा) के राज्य समय वलभी संवत ९११ (वि० सं० १२८७) में भृगुमठ में देव पूजा के लिए आसन पद दिया गया।

इन दोनों लेखों से निश्चित् है कि गुहिलवंशी (गोहिल) सेजक, सोलंकी राजा का अंगरक्षक हुआ। उसके कई पुत्र हुए, जिनमें से दो के नाम मूलुक (मूलु) और सोमराज-उस लेख में दिये हैं। मूलुक वि० सं० १२०२ (ई० स० ११४४) में सौराष्ट्र का शासक था। मुलूक का पुत्र राणक (राणा) हुआ, जो वि० सं० १२८७ (ई० स० १२३०) तक जीवित था। उसके वंश में भावनगर के राजा हैं।

---

१ भावनगर प्राचीन शोध संग्रह; भाग १, पृ० ५-७।

भावनगर इन्स्क्रिप्शन; पृ० १५८–५९।

२ भावनगर इन्स्क्रिप्शन्स; पृ० १६१।

इन पुराने लेखों से यह स्पष्ट होता है कि काठियावाड़ के गोहिल गुहिलवंशी हैं और वि० सं० की १२ वीं शताब्दी के आस पास सोलंकी राजा सिद्धराज (जयसिंह) और कुमारपाल की सेवा में रह कर सौराष्ट्र (सोरठ, दक्षिणी काठियावाड़) पर शासन करते थे। उनके वंशज गोहिलों के राज्य अब भी काठियावाड़ में हैं और उनके अधीन का काठियावाड़ का दक्षिण-पूर्वी हिस्सा अब तक गोहिलवाड़ नाम से प्रसिद्ध है।

वि० सं० १६०० के पीछे भाटों ने अपनी पुस्तकें बनाना शुरू किया और उन्होंने अनिश्चित् जनश्रुति के आधार पर प्राचीन इतिहास लिखा, जिसमें उन्होंने कई राजवंशों का संबंध किसी न किसी प्रसिद्ध राजा से मिलाने का उद्योग किया, कई नाम कल्पित धर दिये और उनके मन-माने संवत् लिख डाले, जिनके निराधार होने के कई प्रमाण मिलते हैं। ऐसे राजवंशों में काठियावाड़ के गोहिल भी हैं। भाटों की पुस्तकों के आधार पर लिखी हुई अंग्रेज़ी, गुजराती आदि भाषाओं की पुस्तकों में लिखा मिलता है "विक्रमादित्य को जीतने वाले पैठण (प्रतिष्ठान) नगर (दक्षिण में) के चन्द्रवंशी शालिवाहन के वंशज गोहिल हैं। उनका प्रथम निवास स्थान मारवाड़ में लूनी नदी के किनारे जूना खेरगढ़ (खेड़) था। उन्होंने वह प्रदेश खेरवा नाम के भील को मार कर लिया और २० पुश्त तक वहां राज्य किया। फिर राठौड़ों ने उनको वहां से निकाल दिया[१]।"

उन्होंने यह भी लिखा है, "राठौड़ सीहा ने गोहिल मोहदास को मारा, जिससे उसके बेटे झांझर के पुत्र सेजक (सहजिग) की अध्यक्षता में वे ई० स० १२५० (वि० सं० १३०७) के आस-पास सौराष्ट्र (सोरठ, दक्षिणी काठियावाड़) में आये। उस समय राव महिपाल वहां राज्य करता था और उसकी राजधानी जूनागढ़ थी। उसने तथा उसके कुँवर खेंगार ने सेजक को आश्रय दिया और अपनी सेवा में रख कर शाहपुरा के आसपास के १२ गांव उसे जागीर में दिये। फिर सेजक ने अपनी कुँवरी वालमबा का विवाह खेंगार के साथ किया और महिपाल की आज्ञा से अपने नाम से सेजकपुर गांव बसाकर आसपास के कितने-

---

१ फ़ॉर्ब्स, रासमाला; जि० १, पृ० २५६ (ऑक्सफर्ड संस्करण, ई० स० १६२४)।

एक गांव जीत लिये। सेजक की मृत्यु ई०स०१२६० (वि०स० १३४७) में हुई। उसके राणो, साहो और सारंग नाम के तीन पुत्र हुए। राणो के वंश में भावनगर के; साहो के वंश में पालीताणा के और सारंग के वंश में लाठी के राजा हैं[1]।

भाटों की पुस्तकों के आधार पर लिखा हुआ उपर्युक्त कथन अधिकांश में कल्पित ही है। विक्रम को जीतने वाला एवं शक संवत का प्रवर्त्तक, जो शालिवाहन माना जाता है, उसका राज्य कभी मारवाड़ में हुआ ही नहीं। वह तो दक्षिण के प्रसिद्ध पैठण नगर का राजा था। वह न तो चन्द्रवंशी और न सूर्यवंशी; किन्तु, आन्ध्र (सालवाहन) वंशी था। जैन लेखक, उसका जन्म एक कुम्हार (कुम्भकार) के घर में होना और पीछे से प्रतापी होना बतलाते हैं[2]। पुराणों में सूर्य और चन्द्रवंशों के अन्तर्गत उस वंश का समावेश नहीं है। भाटों को इतना तो मालूम था कि काठियावाड़ के गोहिल शालिवाहन नामक किसी राजा के वंशधर हैं, परन्तु किस शालिवाहन के, यह ज्ञात नहीं होने से उन्होंने दक्षिण के प्रसिद्ध शालिवाहन को उनका पूर्व पुरुष मानलिया। वास्तव में जिस शालिवाहन को भाट लोग गोहिलों का पूर्वज बतलाते हैं, वह दक्षिण का आन्ध्रवंशी नहीं, किन्तु मेवाड़ के गुहिलवंशी नरवाहन का पुत्र शालिवाहन था। राजपीपला के गोहिलों के भाट की पुस्तक में शालिवाहन के पुत्र का नाम नरवाहन लिखा है[3], परन्तु ये दोनों नाम उलट-पुलट हैं। खेड़ इलाके पर मेवाड़ के गुहिलवंशी राजाओं का अधिकार था, न कि आन्ध्र वंशियों का। भाटों की ख्यातों में "गोहिल" नामकी उत्पत्ति के विषय में कुछ भी नहीं लिखा, परन्तु मांगरोल के उपरोक्त शिलालेख

---

१ अमृतलाल गोवर्धनदास शाह और काशीराम उत्तमराम पंड्या; हिन्द-राजस्थान (गुजराती); पृ० ११३-१४। मार्कंड नंदशंकर मेहता और मनु नंदशंकर मेहता; हिन्दराजस्थान (अंग्रेजी); पृष्ठ ४८७-८८। वॉटसन्; बॉम्बे गेज़ेटियर; जि० ८, काठियावाड़; पृ० ३८७-८८ (ई० स० १८८४ का संस्करण), नर्मदाशंकर लालशंकर; काठियावाड़ सर्व संग्रह (गुजराती); पृ० ५१२-१३। कालीदास देवशंकर पंड्या; गुजरात राजस्थान (गुजराती); पृ० ३४६-४७।

२ मेरुतुङ्ग; प्रबन्धचिन्तामणि; पृ० २४-३० (टिप्पण)।

३ बॉम्बे गेज़ेटियर; जि० ६, पृ० १०६ टिप्पण १ (ई० स० १८८० का (संस्करण)।

में में साहार और सहजिग का गुहिल वंशी[1] होना स्पष्ट लिखा है और ये ही गुहिलवंशी गोहिल नाम से प्रसिद्ध हुए।

राठौड़ सीहा-द्वारा खेड़ के गोहिल मोहदास के मारे जाने की कथा एवं उसके पौत्र (झांझर के पुत्र) सेजक का ई० स० १२५० (वि० सं० १३०७) के आस पास सौराष्ट्र (सोरठ) में जाना और वि० सं० १३४७ (ई० स० १२९०) में उसकी मृत्यु होना भी कल्पित ही है; क्योंकि सेजक (सहजिग) भाटों के कथनानुसार झांझर का पुत्र नहीं, किन्तु साहो (साहार) का पुत्र था और वि० सं० १२०२ (ई० स० ११४४) के पूर्व ही उसका देहान्त हो चुका था। उक्त संवत में तो उसका पुत्र मूलुक (मूलु) सौराष्ट्र में शासन कर रहा था। राठौड़ सीहा की मृत्यु वि० सं० १३३० (ई० स० ११७३) में हुई, ऐसा उसके मृत्यु-स्मारक-शिलालेख से निश्चित है[2]। सीहा की मृत्यु से लगभग १२५ वर्ष पूर्व ही सेजक की मृत्यु हो चुकी थी। ऐसी दशा में सेजक के दादा का राठौड़ सीहा के हाथ से मारा जाना कैसे सम्भव हो सकता है।

सोरठ में जाने पर जूनागढ़ के राजा महिपाल और उसके पुत्र खेंगार का सेजक को अपनी सेवा में रखना और १२ गांव जागीर में देना भी सर्वथा निराधार कल्पना है, क्योंकि गुजरात के राजा सिद्धराज जयसिंह ने वि० सं० ११७२ (ई० स० १११५) के आस पास सोरठ पर चढ़ाई कर जूनागढ़ के राजा खेंगार को मारा और वहाँ पर अपनी तरफ का शासक नियत किया था, जो सभवतः सेजक ही होना चाहिए। उसके पीछे उसका पुत्र मूलु वि० सं० १२०२ (ई० स० ११४४) में सौराष्ट्र (सोरठ) का शासक था, जैसा कि ऊपर बतलाया जाचुका है। ऐसी स्थिति में सेजक का महिपाल और खेंगार की सेवा में रहना और उनसे जागीर पाने की बात भी कल्पित ही है।

भाटों का सेजक के तीन पुत्र पुत्र-राणो, साहो और सारंग- बतलाना भी गढ़न्त ही है, क्योंकि साहो (साहार) तो सेजक का पिता था और राणो (राणक)

---

१ राज्येऽमुष्य महीभुजो भव दिह श्रीगूहिलाख्यान्वये।
श्रीसाहार इति प्रभूतगरिसाधारो धरामंडनम्॥

भावनगर इंस्क्रिप्शन्स; पृ० १५८।

२ इंडियन एन्टिक्वेरी; जिल्द ४०, पृ० ३०१।

उसके पुत्र मूलुक (मूलु) का पुत्र था और वलभी सं० ६११ (वि० सं० १२८७) में राज्य कर रहा था, जैसा कि उसके घेलाणा के शिलालेख से निश्चित है। सेजक के कई पुत्र थे; क्योंकि मांगरोल के लेख में 'पुत्र' शब्द बहुवचन में रखा है; किन्तु नाम दो-मूलुक और सोमराज-के ही दिये हैं। ऐसी दशा में सारंग के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

खेड़के गोहिलों का राज्य राठौड़ सीहा ने नहीं; किन्तु उसके पुत्र आस्थान ने गोहिलों के मंत्री डाभी राजपूतों के विश्वासघात करने पर वि० सं० १३४० (ई० स० १२८३) के आसपास लिया था। उससे लगभग १५० वर्ष पूर्व ही सेजक के पूर्वज (गोहिल) मारवाड़ छोड़ कर गुजरात में चले गये थे और जो गोहिल वहां (खेड़ में) रहे, उनका राज्य आस्थान ने लिया था[१]। अब भी जोधपुर राज्य में 'गोहिलों की ढाणी' नामका एक छोटा सा ठिकाना है, जहां गोहिल, मेवाड़ के राजाओंके वंशज माने जाते हैं[२]। अतएव काठियावाड़ आदि के गोहिलों का मेवाड़ के गुहिलवंशी राजाओं के वंशज और सूर्यवंशीहोना सिद्ध है, जैसा कि काठियावाड़ में पहले माना जाता था।

वि० सं० की १५ वीं शताब्दी के बने हुए 'मंडलीक काव्य' में, जिसमें जूनागढ़ (गिरनार) के राजाओं का इतिहास है, काठिआवाड़ के गोहिलों को सूर्य वंशी और झालों को चन्द्रवंशी लिखा है[३]। कर्नलटॉड[४] कर्नल वॉट्सन[५], दीवान बहादुर रणछोड़भाई उदयाराम[६] आदि विद्वानों ने भी उनको सूर्यवंशी ही माना है।

---

१ एपिग्राफिया इण्डिका; जि० २० के परिशिष्ट में प्रकाशित इन्स्क्रिप्शन्स ऑफ नॉर्दर्न इन्डिया, पृ० १३२; लेख संख्या ९८२।

२ तवारीख जागीरदारान राज मारवाड़; पृ० २५८।

३ रविविधूद्भवगोहिलझल्लकैर्व्यजनवानरभाजनधारव।
विविधवर्तनसंवितकारणैः ससमदैः समदैः समसेव्यत ॥

४ टॉड राजस्थान; जिल्द १, पृ० १२३; कलकत्ता संस्करण।

५ वॉटसन; बॉम्बे गेजेटियर; जि० ८; काठियावाड़; पृ० २८२।

६ रासमाला (गुजराती अनुवाद); दूसरा संस्करण, पृ ७१० टिप्पण १।

ऊपर उद्धृत किये हुए प्रमाणों से स्पष्ट है कि काठियावाड़ आदि के गोहिल शक संवत् के प्रवर्त्तक आन्ध्र (सातवाहन) वंशी शालिवाहन के वंशज नहीं; किन्तु मेवाड़ के गुहिलवंशी शालिवाहन के वंशज हैं और सूर्यवंशी हैं। भाटों ने अपने ऐतिहासिक अज्ञान के कारण उनको चन्द्रवंशी बना दिया है।

सुधा (मासिक पत्रिका), लखनऊ,
वर्ष ६, ई०स० १९३२

९ एक परमार वंशीय दानपत्र

ई० स० १९३१ में जब मैं रोहेड़ा (सिरोही राज्य) में था, एक माली बड़े गुप्तरूप से एक ताम्रपत्र मेरे पास लाया; क्योंकि उसका ऐसा अनुमान था कि उसमें गड़े हुए धनका वर्णन है। उसे वापस करने के पूर्व मैंने उसकी छापें लेली और पीछे से मैंने उसका आशय राजपूताना म्यूजियम, अजमेर की ई० स० १९३१-३२ की वार्षिक रिपोर्ट में प्रकाशित किया (पृष्ठ २-३)। इस ताम्रपत्र से आबू के परमार राजाओं की शृङ्खला पूर्ण होजाती है, अतएव इसे प्रकाशित करना मैं आवश्यक समझता हूं।

ताम्रपत्र की लंबाई ९ इंच और चौड़ाई ७॥ इंच है और यह एक ओर ही खुदा हुआ है। इसमें सब मिलकर १९ पंक्तियां है, जिनमें से अंतिम[1] की लेखन-शैली भिन्न है और उसका मूल लेख से कोई संबंध भी नहीं है। अक्षर गहरे खुदे हैं और उनकी औसत लम्बाई एक चौथाई इञ्च है। ताम्रपत्र के बीच के भाग में बीचो बीच एक छिद्र है, जिससे प्रकट होता है कि यह ताम्रपत्र पहले दो पत्रों का था, जो एक कड़ी के द्वारा आपस में जुड़े हुए थे। मूल ताम्रपत्र का असंपूर्ण होना दूसरे पत्रे के अस्तित्व का परिचय देता है, पर उसका पता नहीं चलता। पत्रे के किनारे कुछ मुड़े हुए हैं, जो संभवतः लेख को सुरक्षित रखने के लिए ऐसे बनाये गये हों। पत्रा अच्छी दशा में है और अक्षर सर्वथा सुस्पष्ट है।

---

१ उन्नीसवीं पंक्ति इस प्रकार हैः-खा (खे) त्र वीयडा त्रिभागु। कुमार जब पिडा ४ माइ सत कगास अ।

लेख की भाषा संस्कृत और अक्षर नागरी हैं। अन्तिम अर्थात् अट्ठारहवीं पंक्ति को छोड़ कर ताम्रपत्र की शेषांश श्लोक बद्ध है। कहीं-कहीं लेखक दोष से कुछ अशुद्धियां रह गई है, जिनके शुद्ध रूप ताम्रपत्र के अक्षरांतर के नीचे टिप्पणों में दिये गये हैं।

लेखन शैली के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं—

संपूर्ण लेख में 'ब' के स्थान में 'व' का प्रयोग हुआ है। 'रेफ' के नीचे का व्यंजन कहीं-कहीं द्वित्व किया गया है, यथा 'वैरिवर्ग्ग (पं-७) और पुर्ण्णपाल (पं-८)। पृष्ठ मात्रा का जगह जगह उपयोग हुआ है, यथा जटा जूटे (पं० २) मालिकायते (पं० २), अर्बुदे (पं० ३), सुतो (पं० ४), कृष्णराज (पं० ५), महीपालो (पं० ६), धराधीशो (पं० ७), मंडले (पं० ७), पुर्ण्णपालो (पं० ८), योगराजो (पं० ९), संभूतो (पं० १०) इत्यादि। 'इ' का प्राचीन रूप ॰ु॰ भी एक जगह पाया जाता है जैसे इत्यभिधयां (पं० ३)।

वशिष्ट के अग्निकुण्ड से गाधेय (विश्वामित्र) का गर्व हरण करने वाला परमार नामक राजा हुआ। उसके वंश में उत्पलराज हुआ। उसका पुत्र राजा अरण्यराज, उसका पुत्र राजा कृष्णराज, उसका पुत्र राजा धरणीवराह, उसका पुत्र धूर्भट[1] उपनाम महीपाल हुआ। महीपाल के पुत्र धंधुक ने शत्रुओं को पराजित कर अपने मण्डल का राज्य किया। उसके तीन पुत्र पूर्ण्णपाल, दन्तिवर्मा और कृष्णदेव हुए, जिन्होंने क्रमशः राज्य किया। दन्तिवर्मा का पुत्र योगराज और कृष्णदेव का राजा काकल हुआ। योगराज का पुत्र रणकुशल रामदेव हुआ और काकलदेव का पुत्र विक्रमसिंह राजा हुआ। रामदेव का पुत्र राजा यशोधवल हुआ, जिसने मालवे के राजा वल्लाल को रण में मारा। उसका पुत्र धारावर्ष, परमार वंश का भूषण, राजाओं का अग्रणी, शास्त्र और शस्त्र आदि कलाओं में निपुण, प्रजा का प्यारा, बड़ा प्रतापी, अर्बुदभूमि मण्डल का स्वामी हुआ। राजा विक्रमसिंह के पुत्र रणसिंहदेव ने मालवा के वीरों को पर्ला के तट पर परास्त किया और अन्तरा की जागीर प्राप्त की। उसने अपनी बुद्धि, भक्ति और पराक्रम से अपनी प्रजा को प्रसन्न किया। उसकी कृपा से

---

१ इस पत्र का धूर्भट और वि०सं० १२८७ के आबू के शिलालेख का धुवभट एक ही व्यक्ति हैं।

धारावर्ष को अपना राज्य पीछा प्राप्त हुआ। उस (धारावर्ष) की राणी चौहान वंश के केल्हणदेव की पुत्री............थी। (यहाँ ताम्रपत्र का अन्त होता है)।

जैसा कि ऊपर लिखा गया है आबू के परमार राजाओं की वंशावली की पूर्ति करने में यह ताम्रपत्र बड़ा सहायक सिद्ध हुआ है। जिन दो दूसरे शिलालेखों में इन परमार राजाओं की वंशावलियाँ मिलती हैं, उनमें से पहला वि०सं० १०६६[1] का बसन्तगढ़ का है और दूसरा वि०सं० १२८८[2] का आबू का। बसन्तगढ़ के लेख में उत्पलराज से लगाकर पूर्णपाल तक की वंशावली मिलती है। आबू का शिलालेख हमें इससे आगे ले चलता है और ध्रुवभट, धन्धुक आदि का नामोल्लेख करने के अनन्तर रामदेव से कृष्णराजदेव तक इन राजाओं की वंशावली देता है। इन दोनों शिलालेखों में मिलने वाली वंशावलियाँ निम्नानुसार हैं:--

बसन्तगढ़ के शिलालेख से

उत्पलराज
|
अरण्यराज
|
कृष्णराज
|
धरणीवराह
|
महीपाल
|
धन्धुक
|
पूर्णपाल

आबू के शिलालेख से

धूमराज
|

---

१ एपिग्राफिया इंडिका; जि० ६, पृष्ठ १२-५।

२ वही; जि० ८, पृ० १०८-१३।
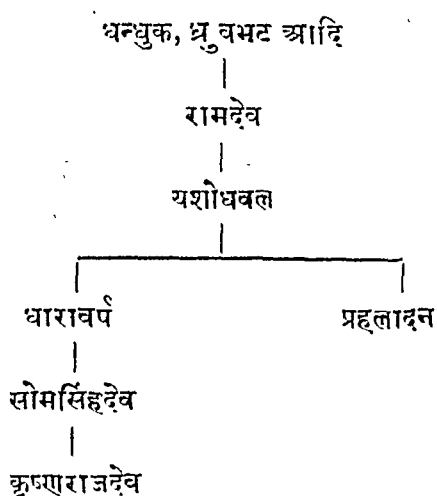
यद्यपि आबू के शिलालेख से हमें इन परमार राजाओं के आगे के कई नाम ज्ञात होते हैं, तथापि उससे यह पता नहीं चलता कि रामदेव का बसन्तगढ़ के लेख में आये हुए अंतिम राजा पूर्णपाल से क्या सम्बन्ध था ? जान पड़ता है कि इस लेख में बीच के राजाओं के कुछ नाम अज्ञानता वंश अथवा जान बूझ कर छोड़ दिये गये हैं। हेमचन्द्र अपने "द्वयाश्रय महाकाव्य" में लिखता है "जब गुजरात के सोलंकी राजा कुमारपाल ने अजमेर के चौहान राजा आना पर चढ़ाई की उस समय आबू का राजा विक्रमसिंह उसके साथ था।[1]" जिनमंडनोपाध्याय अपने "कुमारपालप्रबंध" में लिखता है-"युद्ध के समय विक्रमसिंह आना से जा मिला, जिससे कुमारपाल ने उसे कैद कर उसका आबू का राज्य उसके भतीजे यशोधवल को देदिया[2]।" इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि आबू के परमार राजाओं की शृङ्खला में विक्रम नामका एक राजा हुआ था, परन्तु उसका नाम आबू के शिलालेख में नहीं है। प्रस्तुत दानपत्र में केवल उसका नाम ही नहीं, बल्कि कई दूसरे नाम भी मिलते हैं और इस प्रकार आबू के परमार राजाओं के धारावर्ष तक की वंशावली पूर्ण हो जाती है। उसमें पाया जाता है कि पूर्णपाल के दो और भाई

---

१ सर्ग १६, श्लोक ३३-४। २ पत्र ४०-४३ (वि० सं०१९७१ का निर्णयसागर का संस्करण), श्री आत्मानंद ग्रंथ रत्नमाला सिरीज में प्रकाशित, संख्या ३-४।

दन्तिवर्मा और कृष्णदेव थे, जो क्रमशः राजा हुए। दन्तिवर्मा के एक पुत्र योगराज था। उसको राज्य न मिलकर कृष्णदेव का राजा होना यही बतलाता है कि उस (योगराज) का राज्य उसके चाचाने हड़प लिया होगा। कृष्णदेव का उत्तराधिकारी उसका पुत्र काकलदेव और काकलदेव का विक्रमसिंह हुआ। उसका पुत्र रणसिंह था, परन्तु उसे राज्य न प्राप्त हुआ। विक्रमसिंह के बाद उसका राज्य उसके भतीजे यशोधवल को मिला, जो पूर्णपाल के भाई दंतिवर्मा के पौत्र रामदेव का पुत्र था। यह कैसे और क्योंहुआ, इसका निराकरण ऊपर दिये हुए जैन लेखकों के उद्धरणों से अच्छी तरह हो जाता है। वस्तुतः सोलंकी कुमारपाल ने अजमेर पर दो चढ़ाईयां की थी, परन्तु पिछले जैन लेखकों ने दोनों को मिला दिया। पहली चढ़ाई वि० सं० १२०१ (ई०स० ११४४) के आस-पास हुई, जिसमें कुमारपाल की सफलता में संदेह होता है, परन्तु वि० सं० १२०७ (ई० स० ११५०) के आस-पास होने वाली दूसरी चढ़ाई में वह विजयी हुआ[१]। विक्रमसिंह के समय पहली चढ़ाई हुई होगी, क्योंकि अजाहारी गांव (सिरोहीराज्य) से यशोधवल के समय का एक शिलालेख वि० सं० १२०२ (ई० स० ११४५) का मिला है, जिसमें उसको महामंडलेश्वर कहा है। इस चढ़ाई के समय विक्रमसिंह शत्रु से मिल गया, जिससे उसे राज्य से हाथ धोना पड़ा।

प्रस्तुत दानपत्र में लिखा है कि यशोधवल के उत्तराधिकारी धारावर्ष ने रणसिंह (विक्रमसिंह का पुत्र) की कृपा से अपना गया हुआ राज्य पाया, परन्तु उसका यह कथन माननीय नहीं कहा जा सकता। धारावर्ष का राज्य ५६ वर्ष तक रहा था; उसके समय का एक ताम्रपत्र और १४ शिलालेख वि० सं० १२२० से लगा कर १२७६[२] तक सिरोही राज्य से मिल गये हैं। उसको देखते हुए तो यही

---

१ इंडियन एंटिक्वेरी; जि० ४१, पृष्ठ १६५–६। २ हाथला का वि० सं० १२२० का दानपत्र। कायंद्रा का वि० सं० १२२० का शिलालेख। पींडवाड़ा का विक्रम संवत् १२३३ का शिलालेख। झाडोली का वि० सं० १२४२ का शिलालेख। मधुसूदन मंदिर का वि० सं० १२४२ का शिलालेख। अजाहरी का वि० सं० १२४७ का शिलालेख। बामणवासी का वि० सं० १२४६ का शिलालेख। झाडोलीका वि०सं० १२५५ का शिलालेख। पींडवाड़ा का वि० सं० १२५६ का शिलालेख। ओरिया का वि० सं० १२६५ का शिलालेख। रोहेड़ा का वि० सं० १२७१ का शिलालेख।

कहना पड़ता है कि धारावर्ष का राज्य बीच में कभी भी नहीं छूटा था। फिर यह कैसे संगत माना जा सकता है कि उसे रणसिंह की कृपा से, जो एक मामूली जागीरदार था, अपना गया हुआ राज्य पीछा प्राप्त हुआ। मेरी सम्मति में ताम्रपत्र का इस सम्बन्ध का कथन अतिशयोक्ति से पूर्ण है। सम्भवतः यह दानपत्र रणसिंह की आज्ञा से लिखा गया था, जिसकी प्रशंसा करना लेखक का ध्येय था। धारावर्ष की दो राणियां श्रृङ्गारदेवी और गीगादेवी[1] नाडोल के चौहान शासक केल्हणदेव की पुत्रियां थी, जिनमें से एक का उल्लेख इस दानपत्र में है, पर उसका नाम नहीं दिया है, सम्भवतः दूसरे पत्रे में रहा होगा।

इस दानपत्र के अनुसार आबू के परमारों का वंश-वृक्ष निश्चित ज्ञात सम्वतों के साथ नीचे दिया जाता है:—

१ उत्पलराज

२ अरण्यराज

३ कृष्णराज प्रथम (वि०स० १०२४)[2]

४ धरणी वराह

५ धूर्भट उपनाम महीपाल

६ धन्धुक

७ पूर्णपाल (८) दन्तिवर्मा (९) कृष्णदेव दूसरा

वि०स०१०९९[3] –११०२[4] | । वि.स.१११७[5]-२१[6]

योगराज (१०) काकलदेव

कांटल का वि० सं० १२७४ का शिलालेख। मकावल का वि० सं० १२७६ का शिलालेख। रोहेड़ा का बिना संवत् का शिलालेख और मेरा सिरोही राज्य का इतिहास; पृ०२२–७७।

(१) शान्तिनाथ (झाड़ोली) के मन्दिर का वि० सं० १२५५ का शिलालेख और झाड़ोली की बावड़ी का वि० सं० १२४२ का शिलालेख (मेरा सिरोही राज्य का इतिहास पृ० २४–२५)।

(२) राजपुताना म्यूजियम अजमेर की ई०स०१९३६-७ की वार्षिक रिपोर्ट पृ०२, सं० २। सिरोही राज्य के अन्तर्गत धानाजी से प्राप्त अप्रकाशित शिलालेख। (३) एपिग्राफिया इंडिका; जि० ९, पृष्ठ १२ (४) जर्नल ऑव दि बाम्बे ब्रांच ऑव दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, जि० २३, पृ० ७८।

(५) बाम्बे गैजेटियर जि० १, खंड १, पृ.४७२ सं० ४। (६) वही; जिल्द १, खं० १, पृ० ४७२,

रामदेव (११) विक्रमसिंह

(१२) यशोधवल रणसिंह
वि.सं.१२०२[1]-७[2]

(१३) धारावर्ष
वि.सं.१२२०[3]-७६

प्रस्तुत दानपत्र में कई स्थानों का उल्लेख आया है। उनमें से अर्बुद वर्तमान आबू और उसके आस-पास का प्रदेश तथा मालव वर्तमान मालवा है। पर्ला नदी और अन्य का परिचय ज्ञात नहीं होसका। अन्तरा संभवतः उस जागीर का नाम हो, जो रणसिंह को उसके पिता विक्रमसिंह के क़ैद किये जाने के बाद मिली होगी।

अन्त में बल्लाल के विषय में, जिसका नाम इस दानपत्र मे आया है, कुछ उल्लेख करना आवश्यक है। दानपत्र में उसे "मालव भूपाल" अर्थात् मालवा का राजा लिखा है, जिससे स्पष्ट है कि वह मालवा के परमारों का वंशधर रहा होगा। यद्यपि उसका नाम मालवा से प्राप्त किसी दूसरे ताम्रपत्र में नहीं मिलता है, तो भी अन्यत्र कई स्थल पर उसका नामोल्लेख हुआ है। वि० सं० १२८७[5] के आबू के शिलालेख, सोमेश्वर विरचित "कीर्त्ति कौमुदी,[6] बालचंन्द्रसूरि रचित 'वसंत विलास' [7] और हेमचन्द्राचार्य के "द्वयाश्रय महाकाव्य"[8] में उसका नाम मिलता है। वह गुजरात के सोलंकी राजा कुमारपाल और आबू के परमार राजा यशोधवल का समकालीन था। यह माना जासकता है कि वह शक्तिशाली व्यक्ति रहा होगा। उसने यशोवर्मन की मृत्यु के कुछ समय उपरान्त अपने पूर्वजों

संख्या ५।) (१) इं० एं० जि० ५६, पृ० १२। (२) ए० इ०; जिल्द ९, पृ० ४२२। (३) इं० एं०; जि० ५६, पृ० ५१। (४) प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑव दि आर्किआलाजिकल सर्वे ऑव आवृ० इ० वे० सर्कल, ई० स० १९१६-१७, पृ० ६१। (५) ए० इं०, जि० ८ पृ० २११. श्लोक ३५। (६) सर्ग २; पृ० १३, श्लोक ४८ (काठवाटे संस्करण बम्बई ई० स० १८८३)। (७) सर्ग ३, श्लोक २९ (गायकवाड़ ओरिएंटल सिरीज़ में प्रकाशित. संख्या ७, ई० स० १९१७)। (८) श्लोक १२५, पृ० ५५२ (बम्बई की संस्कृत और प्राकृत सिरीज़ में प्रकाशित, सं० ७६, सन् १९२१)।

का गया हुआ मालवा का राज्य हस्तगत करने का उद्योग किया होगा और वहाँ का कुछ भाग अपने अधिकार में कर अपनी उपाधि "मालव भूपाल" अथवा "मालव पति" निर्धारित की होगी। पीछे से यशोधवल के हाथों, जो कुमारपाल का अधीनस्थ शासक होने के कारण उसकी सेना में रहा होगा, मारा गया। यशोधवल का पहला लेख वि० सं० १२०२ का मिला है और उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी धारावर्ष का पहला लेख वि० सं० १२२० का है, अतएव बल्लाल की मृत्यु वि० सं० १२०२ और १२२० के बीच किसी समय हुई होगी।

श्रीयुत डी० सी० गांगुली ने बल्लाल को द्वारसमुद्र के होयसल वंश का बल्लाल माना है, जो निर्मूल कल्पना है[1]। द्वारसमुद्र के होयसल वंश में बल्लाल[2] नामके तीन राजा हुए, पर उनमें से एक भी कुमारपाल अथवा यशोधवल का समकालीन नहीं था।

बल्लाल किसी राजा का नाम था, अथवा उसकी उपाधि, इसका निर्णय नहीं हो सका।

ॐ॥ [3]देवपायान् सवः श्रीमान् श्रृंगारी[4] गिरिजाप्रियः। य (२)स्य गंगा जटाजूटे मालतीमालिकायते॥ १ श्रीमच्छेष्ठवशिष्ट कुंड (३) हुतभुक् जन्मा[5] बुर्दे[6]यो भवत् भूपालः परमार इत्यभिधया गादे[7]य(४) दर्पापहः। तद्वंश्योत्पलराजभूपतिसुतो यारण्यराजो नृप स्तन्मूर्त रव (५) तीर्णवान् क्षितिपतिः श्रीकृष्णराजो जयी ॥२ श्रीधरणीवराहोभूत्प्रसु (६) भूमिस्तदग्रजः। श्रीधूर्भट महीपालो[8] तत्सुनौ[9] दधुतुमही ॥३श्री धंधु[10]का (७) धराधीशा महीपाल तनूद्रयः[11]। निः सार्यवैरिवर्गं[12]यश्चक्रे राज्य स्वमंडले[13]॥४(८)तत्सुतः पूर्णपालो भूदंतिवर्मा द्वितीयकः।

---

(१) इं० एं०; जि० ५६, पृ० १६५। (२) बल्लाल नाम के किसी राजा के अस्तित्व का पता होल्कर राज्य के नीमाड़ जिले के ऊन गांव में पाये जाने वाले बल्लालेश्वर नामक मन्दिर से भी चलता है। इस मन्दिर का नामकरण इसके निर्माणकर्त्ता के नाम पर हुआ है। मन्दिर के बनवाने वालों के नाम पर मन्दिरों का नामकरण करने की प्रथा अब भी जारी है। (३) Indicated by a symbol. शुद्धपाठ (४) शृङ्गारी (५) हुतभुग्जन्मा (६) अर्बुदे (७) गाधेय। ८. महीपालो। ९. सुतो। १०. धंधुको। ११. तनुद्भवः। (१२) ग(अपने पुराने रूप में)। १३. मंडले।

तृतीयः कृष्णदेवो भू-द्राज्यं चक्रुः[1] क्र(६)मेणते ॥५ दंतिवमात्मजः श्रीमान्योगराजो जगज्जयी। राजा काकलदेयेत[2] (१०) कृष्णदेवतनूद्भवः ॥ ६ योगराजांग संभूतो रामदेवो रणोत्कटः। जातः काकल(११) देवांगाद्विक्रमसिंहदमाधिपः ॥ ७ रामदेवतनोर्जातः श्रीयशोधरलो[3]नृपः। येन माल(१२)व भूपालो बल्लालो[4] दलीतो रणे ॥ ८ तत्सूनुः परमारवंशतिलकः चोणी सु(१३)जामग्रणीः शस्त्रास्त्रादिकला कलापकुशलो लब्धा[5] नुरागोजने। श्रीमान्बुर्द[6] भूमि(१४)मंडलपतिः प्रौढ प्रसापान्वितो[7] धारावर्षनरेश्वरो भवदसौ पुण्यप्रभावोत्कटः ॥९(१५)पर्लातटे मालविकप्रवीरान् पराम्मुखाने[8] यः कृतवान् शरो[9] घैः। चोणीपिनु[10](१६) विक्रमसिंह सूनु[11]लेले[12]न्तरा[13]श्री रणसिंहदेवः ॥१० प्रसाद्य सव्व[14]तो पारान्[15](१७)वुद्धि[16]भक्ति पराक्रमैः तत्प्रसादात्पुनः प्राप्तधारावर्षो निजां मही॥११(१८) तस्य भार्या चाहुमानकुलवंशजा श्री केल्हणदेव दुहिता राज्ञी[17]श्री।

राजस्थान क्षितीज, अलवर (मा० प०),
वर्ष १ अंक १ (ई० स० १९४५)

---

१. चक्रु। २. काकलदेवो भूत्। ३. यशोधवलो। ४. बल्लालो। ५. लब्धानु। ६. अर्बुद भूमि। ७. प्रतापान्वितो। ८. पराङ्मुखान्। ९. शरोघैः। १०. चोणीपतिः। ११. सूनुः। १२. लेभे। १३. अन्तरां। १४. सर्व्वतः। १५. पौरान्। १६. बुद्धि। १७. राज्ञी।

१० मेवाड़ के शिलालेख और अमीशाह।

देहली के सुलतान अलाउद्दीन खिलजी के पहले से लगाकर औरंगज़ेब के समय तक मेवाड़ के राजा अपने वंश के गौरव या देश की रक्षा के लिये अथवा अपना राज्य बढ़ाने के लिये मुसलमान सुलतानों तथा बादशाहों के साथ बहुधा लड़ते ही रहे। सुलतान अलाउद्दीन ने वि० सं० १३६० में चित्तौड़ का क़िला रावल रत्नसिंह से लड़कर लिया और वहां का राज्य अपने सबसे बड़े बेटे खिज़रख़ां को दिया।[१] चित्तौड़ का राज्य कम से कम आठ बरस तक उसके अधिकार में रहा[२]। फिर सुलतान ने वह राज्य जालौर के सोनगरों (चौहानों) के वंशज को दिया।

---

१ इलियट; हिस्टरी आफ इंडिआ, जि० ३, पृ० ७७६-७७; वही, जि० ३ पृ० १८६। ब्रिग; फिरिश्ता जि० १ पृ० ३५३-५४।

२ फिरिश्ता लिखता है कि 'हिजरी सन् ७०३ (वि० स० १३६०) में अलाउद्दीन ने चित्तौड़ का किला फतह कर खिज़रखाँ को दिया और हि० स० ७०४ (वि० सं० १३६१) में उसको हुक्म दिया, किला राजा (रत्नसिंह) के भानजे (सोनगरा मालदेव) के सुपुर्द कर देवे (ब्रिग; फिरिश्ता, जि० १ पृ० ३५४), परन्तु फिरिश्ता का दिया हुआ मालदेव को किला सौंपने का हि. स. ७०४ (वि० सं० १३६१) विश्वास योग्य नहीं है; क्योंकि ऐसा होता तो खिज़रखाँ चित्तौड़ की हुकूमत एक वर्ष से अधिक करने न पाता और किला एक वर्ष में ही फिर हिंदुओं के हाथ में जाना चाहिए था। नीचे लिखे हुए प्रमाणों से पाया जाता है कि खिज़रखाँ हि० स० ७१२ (वि० सं० १३७०) के आस पास तक चित्तौड़ की हुकूमत पर रहा था—

(क) खिज़रखाँ ने चित्तौड़ में रहते समय किले के नीचे बहने वाली गंभीरी नदी पर सुंदर और सुदृढ़ पुल बनवाया, जिसके बनने में कम से कम दो वर्ष लगे होंगे।

मालदेव ने सात बरस तक वहां राज्य किया और उसका देहांत चित्तौड़ में ही

(ख) चित्तौड़ के तलेटी के बाहर के एक मकबरे में हि० स० ७०९ ता० १० जिलहिज्ज (वि० सं० १३६७) का फ़ारसी का एक शिलालेख लगा हुआ है, जिसमें 'बुलमुजफ्फर मुहम्मदशाह सिकंदर सानी' अर्थात् अलाउद्दीन खिलजी को दुनिया का बादशाह कहकर आशीर्वाद दिया है। इससे अनुमान होता है कि कि उस समय तक चित्तौड़ मुसलमानों के ही हाथ में था और मालदेव को नहीं मिला था।

(ग) फ़िरिश्ता हि० स० ७११ (वि० सं० १३६८-६९) के हाल में स्वयं लिखता है कि 'इस समय सुलतान का प्रताप अवनति को पहुँच गया था। उसने राज्य की लगाम मलिक काफूर के हाथ में दे रक्खी थी, जिससे दूसरे उमरा उससे अप्रसन्न हो रहे थे। खिज़रखां को छोटी उम्र से ही चित्तौड़ का शासक बना दिया था; परन्तु उसको सलाह देने य उसका चाल-चलन दुरुस्त रखने के लिये किसी बुद्धिमान पुरुष को उसके पास नहीं रक्खा था। इसी समय तिलंगाने के राजा ने कुछ भेट और २० हाथी भेज कर लिखा कि मलिक काफूर के द्वारा जो खिराज़ नियत हुआ है, वह तैयार है। इस पर मलिक काफ़ूर ने देवगढ़ (दौलताबाद) आदि के दक्षिण के राजाओं को अधीन करने तथा तिलंगाने का खिराज़ लाने की बात कह कह उधर जाना चाहा। खिज़रखां के अधीन के इलाके (चित्तौड़) से दक्षिण की इस चढ़ाई के लिये सुभीता होने पर भी मलिक काफ़ूर ने वहाँ खुद जाना चाहा, जिसका कारण खिज़रखां से उसका द्वेश ही था। सुलतान से आज्ञा पाकर मलिक हि० स० ७१२ (वि० सं० १३६९-७०) में दक्षिण को गया, परन्तु सुलतान के बीमार हो जाने से वह बुला लिया गया। बीमारी की दशा में सुलतान ने खिज़रखां को बुला लिया और मलिक काफ़ूर के उस (खिज़रखां) की शिकायत करने पर उसको कुछ समय तक अलमोड़ा में रहने की आज्ञा दी' (ब्रिग, फ़िरिश्ता, जि० १ पृ० ३७८-८१',)।

(घ) मुंहणोत नैणसी के कथनानुसार वि० सं० १३६८ वैशाखसुदि ५ (नैणसी की ख्याति पत्र ४९, पृ० २) को और फिरिश्ता के अनुसार हि० स० ७०९ (वि० सं० १३६६) में (जि० १ पृ० ३७२) सुलतान अलाउद्दीन की सेना ने जालौर का किला चौहानों से छीन कर वहाँ के हिंदू राज्य की समाप्ति की। इस लड़ाई में वहाँ का राजा कान्हडदेव और उसका कुँवर वीरम-देव दोनों मारे गए। कान्हडदेव का भाई मालदेव बचा, जो सुलतान के मुल्क में बिगाड़ किया करता और सुलतान की फौज उसका पीछा किय करती थी। अंत में सुलतान ने चित्तौड़ का इलाका देकर उसको अपना मातहत बनाया।

हुआ,[1] जिसके पीछे मेवाड़ के गुहिलवंश की सीसोदे की छोटी शाखा के वंशधर राणा हंमीर ने छल और बल से चित्तौड़ का किला लेकर राणा शाखा वाले गुहिल वंशीयों अर्थात् सीसोदियों का राज्य फिर से वहां स्थापित किया। हंमीर, देहली के सुलतान (मुहम्मद तुग़लक़) से लड़ा[2]। हंमीर का पुत्र और उत्तराधिकारी क्षेत्रसिंह हुआ, जो लोगों में खेता, खेतसी या खेतल नाम से प्रसिद्ध है। उसकी गद्दीनशीनी वि०सं० १४२१ में और देहांत १४३६ में हुआ।[3] उसके पौत्र, प्रपौत्र आदि के समय के मेवाड़ के कई शिलालेखों या प्रशस्तियों में क्षेत्रसिंह का अमीशाह को परास्त करना लिखा है; परन्तु यह नहीं लिखा कि अमीशाह कौन और कहां का था। मेवाड़ का इतिहास लिखने वाले भिन्न-भिन्न पुरुषों ने अमीशाह का पता लगाने का यत्न किया; परन्तु उसमें कोई सफल न हुआ। अतएव उसका निश्चय करना आवश्यक है।

भिन्न-भिन्न शिलालेखों में अमीशाह के संबंध में जो कुछ लिखा मिलता है वह यह है—

(मुंहणोत नैणसी की ख्यात, पत्र ४४ पृ० २)। इसलिये मालदेव को चित्तौड़ का इलाका वि० सं० १३६८ से कुछ वर्ष बाद ही मिला होगा।

इन सब बातों पर विचार करते हुए यही संभव प्रतीत होता है कि खिजरखां का अधिकार चित्तौड़ पर कम से कम से कम आठ वर्ष रहने के बाद वह क़िला मालदेव को मिला होगा, न कि वि० सं० १३६१ में, जैसा कि फिरिश्ता ने हि० सन् ७०४ के हाल में लिखा है।

१ मुंहणोत नैणसी की ख्यात, पत्र ४४ पृ० २।

२ वंशे तत्र पवित्रचित्रचरितस्तेजस्विनामग्रणीः
श्रीहंमीरमहीपतिः स्म तपति क्ष्मापालवास्तोष्पतिः।
तौरुष्कामितमुण्डमण्डलमिथःसंघट्टवाचालिता
यस्याद्यापि वदन्ति कीर्तिमभितः संग्रामसीमाभुवः॥ ८॥

चित्तौड़ पर के जैन कीर्तिस्तंभ के पास के महावीर स्वामी के मंदिर की प्रशस्ति (बंब० एशि० सोसा० का जर्नल, जि० २३, पृ० ५०)।

३ वीरविनोद, पृ० ३०२, ३०५।

(१) महाराणा खेत्रसिंह के पौत्र महाराणा मोकल के समय के शृंगी ऋषि नामक स्थान (एकलिंगजी के मंदिर से ५ मील पर) में लगे हुए वि० सं० १४८५ के शिलालेख में लिखा है कि उस (खेत्रसिंह) ने अपनी तलवार के बल से युद्ध में अमीसाह (अमीशाह) को जीता, उसके अशेष यवनों को नष्ट किया और वह उसके सारे खज़ाने तथा असंख्य घोड़ों को अपनी राजधानी में लाया[1]।

(२) महाराणा मोकल के पुत्र महाराणा कुंभा (कुंभकर्ण) के समय की वि० सं० १५१७ की कुंभलगढ़ की प्रशस्ती से पाया जाता है कि जैसे फदकते हुए मेंढक को सांप पकड़ ले, वैसे वीरव्रत वाले राणा खेत ने अमीसाहि (अमीशाह) को धर दबाया। जगत की रक्षा करने वाली अपने हाथ में धरी हुई तलवार से वह खेत राणा (राणा खेता) प्रसिद्ध हुआ[2]।

(३) एकलिंगजी के मंदिर के दक्षिणी द्वार के सामने के ताक में लगी हुई महाराणा कुंभा (कुंभकर्ण) के पुत्र महाराणा रायमल के समय की वि० सं० १५४५ की प्रशस्ति में लिखा है कि अमीसाहि (अमीशाह) रूपी बड़े सर्पके गर्व रूपी विष को जड़ से मिटाने वाला बड़ी संपत्ति का स्वामी पृथ्वीपति (राजा) खेत्र चित्रकूट (चित्तौड़) में हुआ[3]।

---

१ आजावमीसाहमसिप्रमात्रा-
ञ्जित्वाचहत्वायवनानशेषान्।
यः कोशजातं तुरगानसंख्या-
न्समानयत्स्वां किल राजधानीं ॥ [६]
(शृंगी ऋषि का शिलालेख-अप्रकाशित।)[1]

२ अमीसाहिरग्राहि येनाहिनेव
स्फुरद्भेक एकांगवीरव्रतेन।
जगत्रा(त्रा)णकृद्यस्य पाणौ कृपाणः
प्रसिद्धोऽभवद्भूपतिः षे(खे)तराणः ॥ २०२ [॥]
(कुंभलगढ़ की प्रशस्ति—अप्रकाशित।)[2]

३ योमीसाहिमहाहिगर्वगरलं मूलादवादिदहत्
स खेत्रक्षितिभृत् प्रभूतविभवःश्रीचित्रकूटेभवत् ॥२६॥
दक्षिणद्वार की प्रशस्ति (भावनगर इंस्क्रिपशंस, पृ० ११६)।

(४) महाराणा क्षेत्रसिंह के सामंत[1] बंबावदे (मेवाड़ के पूर्वी हिस्से में) के हाड़ा (चौहानों की एक शाखा) महादेव[2] के वि० सं० १४४६ के मेनाल (बंबावदे के हाड़ों के अधीन का प्राचीन नगर, बंबावदे से थोड़े ही मील पर) के शिलालेख में उक्त हाड़ा के विषय में लिखा है कि उसकी तलवार शत्रुओं की आँखों में चकाचौंध उत्पन्न कर देती थी। उसने अमीशाह पर अपनी तलवार खींचकर मेदपाट (मेवाड़) के स्वामी खेता (क्षेत्रसिंह) की रक्षा की और सुलतान की सेना को अपने पैरों के तले कुचलकर नरेंद्र खेता को विजयी किया[3]।

---

१ अमीशाह के साथ की लड़ाई में हाड़ा महादेव लड़ा, जिसका कारण उसका महाराणा क्षेत्रसिंह का सामंत होना ही है। उक्त महाराणा ने हाड़ावटी (हाड़ौती) के स्वामियों को जीत कर उनका देश अपने अधीन किया था, ऐसा उपर्युक्त कुंभलगढ़ तथा दक्षिण द्वार की प्रशस्तियों से पाया जाता है।

हाडावटीदेशपतीन् स जित्वा
तन्मंडलं चात्मवशीचकार ॥ १९८ ॥

(कुंभलगढ़ की प्रशस्ति।)

हाडामंडलमुंडखंडनधृतस्फूर्ज्जत्कदंबोद्धुरं
कृत्वा संगरमात्मसाद्वसुमतीं श्रीखेतसिंहो व्यधात् ॥ २१ ॥

दक्षिणद्वार की प्रशस्ति (भावनगर इंस्क्रिपशंस, पृ० ११९)

२ महादेव बंबावदे[3] के हाडा कुंतल का पुत्र, केल्हण का पौत्र और रतपाल (रतिपाल) का प्रपौत्र था (मेनाल का वि० सं० १४४६ का शिलालेख, टॉड, राजस्थान, जि० ३, पृ० १८०३, आक्सफोर्ड का संस्करण)। बूंदी के इतिहास वंशभास्कर तथा उसके गद्य रूप सारांश वंशप्रकाश में महाराणा हंमीर के साथ हाड़ों की लड़ाई होने, तथा कुंवर क्षेत्रसिंह के घायल होने आदि का जो हाल लिखा है, वह सारा ही कल्पित है। इसी तरह उसके प्रसंग में बंबावदे के हाडों की जो नामावली तथा संवत् दिए हैं वे सब के सब गढंत हैं। वे सब भाटों की ख्यातों से लिए गए हैं; क्योंकि उनमें मेनाल के शिलालेख में दिए हुए बंबावदे के हाडों के नामों में से एक भी नहीं है।

३ टॉड; राजस्थान, जि० ३ पृ० १८०२। इस लेख की खोज के लिये मैं दो बार मेनाल गया; किन्तु बहुत यत्न करने पर भी कहीं इसका पता न चला। अनुमान होता है कि कर्नल टॉड बहुत से शिलालेखों के साथ इसे भी विलायत ले गये हों। अतएव टॉड के दिए हुए अनुवाद पर ही संतोष करना पड़ा।

इन चारों अवतरणों से केवल यही पाया जाता है कि महाराणा क्षेत्रसिंह ने अमीशाह नामक व्यक्ति को युद्ध में हराया और उसका खजाना तथा घोड़े छीन लिए; परंतु वह पाया नहीं जाता कि अमीशाह कौन और कहां का था।

मेवाड़ के भिन्न-भिन्न इतिहास लेखकों में से कर्नल टॉड ने तो अमीशाह का नाम तक नहीं दिया; किंतु यह लिखा है कि 'खेतसी (क्षेत्रसिंह) ने बाकरोल के पास देहली के बादशाह हुमायूँ को परास्त किया'[1], परन्तु महाराणा क्षेत्रसिंह का देहली के बादशाह हुमायूँ से लड़ना सर्वथा असंभव है, क्योंकि हुमायूँ की गद्दी-नशीनी हि० सं० ९३७ (वि० सं० १५८७) में और उक्त महाराणा की वि० सं० १४२१ में हुई थी। टॉड की इस भूल का कारण यही अनुमान होता है कि बादशाह हुमायूँ का नाम प्रसिद्ध होने के कारण भाटों ने अमीशाह को हुमायूँ-शाह लिख दिया हो और उसी पर भरोसा कर टॉड ने उसे देहली का बादशाह मान लिया हो। कर्नल टॉड को क्षेत्रसिंह और हुमायूँ की गद्दीनशीनी के संवत् भली भांति ज्ञात थे; परन्तु लिखते समय मिलान न करने से ही यह अशुद्धि हुई। महाराणा क्षेत्रसिंह और अमीशाह के बीच की लड़ाई बाकरोल के पास नहीं, किंतु चित्तौड़ के निकट हुई थी[2]।

---

१ टॉड; राजस्थान, जि० १, पृ० ३२१।

२ महाराणा क्षेत्रसिंह की अमीशाह के साथ की लड़ाई चित्तौड़ के निकट हुई यह मानने का कारण यह है कि मेवाड़ के शिलालेखों में उक्त महाराणा की मुसलमानों के साथ एक ही लड़ाई (जो अमीशाह के साथ हुई) का होना लिखा मिलता है। महाराणा कुंभा के बनवाए हुए चित्तौड़ के कीर्तिस्तंभ की वि० सं० १५१७ की प्रशस्ति मे लिखा है कि क्षेत्रसिंह ने चित्रकूट के निकट यवनों की सेना का संहार कर उसे पाताल में भेज दिया—

येनानर्गलमल्लदीर्णहृदया श्रीचित्रकूटांति के
तत्रासैनिकघोरवीरनिनदप्रध्वस्तधैर्योदया।
मन्ये यावनवाहिनी निजपरित्राणस्य हेतोरलं
भुनिक्षेपमिषेण भीपरवशा पातालमूलं ययौ॥ २२॥

कीर्तिस्तम्भ की प्रशस्ति—अप्रकाशित।

महामहोपाध्याय कविराजा श्यामलदासजी ने अपने वीरविनोद में लिखा है कि—

'इन महाराणा (क्षेत्रसिंह) के पोते महाराणा मोकल और परपोते महाराणा कुंभा, और कुंभा के पुत्र रायमल्ल के समय की प्रशस्तियों में ···· इनका अशाहती को फ़तह करके गिरफ़्तार करना लिखा है। हमने बहुतसी फ़ार्सी तवारीखों में ढूँढा, लेकिन इस नाम का कोई बादशाह उस ज़मानह में नहीं पाया गया और प्रशस्तियों का लेख भी झूठा नहीं हो सक्ता; क्योंकि वे उसी ज़माने के करीब की लिखी हुई हैं। यदि यह ख़याल किया जावे, कि लिखने वाले ने अहमदशाह गुजराती को बिगाड़ कर अमीशाह बना लिया, तो यह असम्भव है; क्योंकि अव्वल तो गुजरात और मालवे की बादशाहत की बुनयाद भी उस वक्त तक नहीं पड़ी थी और अहमदशाह क्षेत्रसिंह के पोते मोकल के समय में गुजरात का बादशाह बना था; शायद फ़िरोज़शाह तुग़लक़ के ख़िताब में अहमद का लफ़्ज़ हो और उसको बिगाड़ कर पंडितों ने अमीशाह बना दिया हो तो आश्चर्य नहीं; अथवा अफ़ग़ानिस्तान, तुर्किस्तान, व ईरान की तरफ़ कोई अहमदशाह हुआ हो और वह गुजरातियों की मदद के लिए आया हो; क्योंकि उन लोगों की आमदरफ़्त सिन्ध देश और गुजरात की तरफ़ होती रही है; अथवा दिल्ली के बादशाह के शाहज़ादे या भाई का नाम अहमदशाह हो, जिसको बादशाह ने सेनापति बनाकर राजपूतानह की तरफ़ भेजा होगा; वर्नह मेवाड़ से दक्षिणी हिन्दुस्तान की तरफ़ तो उस समय में मुसलमानों की कोई मज़बूत बादशाहत कायम नहीं हुई थी, सिर्फ़ एक बीजापुर की बादशाहत का बानी अलाउद्दीन गांगू हसन बहमनी इन महाराणा के राज्य के बाद दक्षिण का हाकिम बना था। इससे मालूम होता है, कि अमीशाह या अहमदशाह का नाम का कोई बादशाह उस ज़मानह में नहीं था; शायद कोई दूसरा नाम बिगड़ कर अमीशाह हुआ हो, तो तअज्जुब नहीं; लेकिन महाराणा क्षेत्रसिंह ने अमीशाह को फ़तह कर के गिरफ़्तार किया, इस बात में संदेह नहीं है।

इस कथन से भी अमीशाह का निश्चय न हुआ।

---

१ वीरविनोद, भाग १ पृ० ३०१–२

बाबू रामनारायण दूगड़ ने अपने 'राजस्थान रत्नाकर' में लिखा है कि—

'महाराणा रायमल्ल की सं० १५४५ वि० (सं० १४८८ ई०) की एकलिंगजी के मंदिर की प्रशस्ति में चेत्रसिंह के वर्णन में लिखा है कि "योमीसाहिंमहाहिगर्व गरलं मूलादवादीदहत" आदि अर्थात् अमीशाही रूपी सर्प के गर्व गरल का गंजन किया, उसके गढ़ उजाड़े (?)योद्धों को पराजित किये और खजाना लूटा। हम नहीं कह सक्ते कि अमीसाह कौन था, वह मालवे व गुजरात के सुलतानों में से तो हो नहीं सक्ता, क्योंकि गुजरात का पहला सुलतान मुजफ्फरशाह स० १३६१ ई० में और मालवे का दिलावरशाह स० १३८७ ई० में महाराणा चेत्र की मृत्यु के पीछे स्वतन्त्र बादशाह हुए थे। शायद मालवे के सुलतान महमूदखिलजी का पिता आज़म हुमायूँ हो[1]।

यह कथन ठीक भी है क्योंकि आजम हुमायूँ जिनको मलिक मूघीस या खाँजहाँ खिलजी कहते थे और जो मालवे के खिलजी सुलतान हुशंग का भतीजा (या भानजा) था, हि० स० ८१२ (वि० सं० १४६६) के आस-पास हुशंग का वजीर बना था[2], किन्तु महाराणा चेत्रसिंह का देहांत वि० सं० १४३६ में हुआ। इसलिए वह उक्त महाराणा का समकालीन नहीं हो सकता और न उसका नाम अमीशाह होना कहीं लिखा मिलता है।

महाराणा कुंभा (कुंभकर्ण) के समय के बने हुए 'एकलिंग माहात्म्य' में कुंभा के मालवा के सुलतान महमूदखिलजी को जीतने के प्रसंग में लिखा है कि 'जैसे पहले राजा चेत्र (चेत्रसिंह) ने रण खेत में मालवा के स्वामी अमीसाह को पीट (हरा) कर विजय प्राप्त की थी, वैसे ही श्री कुंभ (कुंभकर्ण) ने हस्तिसैन्य वाले मालवा के स्वामी महमद (महमूद) खिलिची (खिलजी) को युद्ध में जीता,[3]' इससे इतना तो निश्चय हो गया कि अमीशाह मालवे का स्वामी था।

---

१ राजस्थान रत्नाकर, प्रथमभाग, तरंग २, पृष्ठ ७०।

२ ब्रिग; फिरिश्ता; जि० ४ पृष्ठ १७४, १६६।

३ अमीसाहं हत्वा रणभुवि पुरा मालवपतिं
जयोत्कर्षं हर्षादलभत किल चेत्रनृपतिः।

फ़िरिश्ता ने अपनी लिखी हुई तवारीख में मालवा के सुलतानों का विस्तृत इतिहास लिखा है, जिसमें वहां के सुलतानों की नामावली में अमीशाह का नाम कहीं नहीं है, परन्तु शेख रिजकुल्ला मुश्ताक़ी की बनाई हुई 'वाक़ेआत-ई-मुश्ताक़ी'[1] से पाया जाता है कि मांडू (मालवा) के पहले सुलतान दिलावरखाँ ग़ोरी का मूल नाम अमीशाह था, क्योंकि वह लिखता है कि 'एक दिन एक व्यापारी बड़े साथ (कारवाँ) सहित आया। अमीशाह ने अपने दस्तूर के मुवाफ़िक़ जब उससे महसूल माँगा, तब उसने कहा कि मैं सुलतान फ़िरोज़ का, जिसने कनोल के क़िले को दृढ़ किया है, सौदागर हूँ और वहीं अन्न ले जा रहा हूँ। इस पर अमीशाह ने उत्तर दिया कि तुम कोई भी हो, तुमको नियम के अनुसार महसूल देकर ही जाना होगा। व्यापारी ने फिर उससे कहा कि मैं सुलतान के पास जा रहा हूँ, यदि तुम

तथैव श्रीकुंभः खिलिचिमहमंदं गजघटा-

वृतं संख्येजैषीन्नहि नृजः कोप्य सदृशः ॥

'एकलिंग माहात्म्य.' राजवर्णन अध्याय, श्लो० १५६। ऊपर (ना.प्र.प.)पृ०-२२ टिप्पण २ में कुंभलगढ़ की प्रशस्ति से महाराणा क्षेत्रसिंह के अमीशाह को जीतने का उल्लेख किया गया है। उसी प्रशस्ति के श्लोक २०० में यह भी लिखा है कि मालवे का स्वामी शकपति (मुसलमानों का स्वामी, सुलतान) उस (क्षेत्रसिंह) से ऐसा पिटा कि मानों भयभीत होकर स्वप्न में भी उसी को देखता है—

शस्त्राशस्त्रिहताजिलंपटभटव्रातोच्छलच्छोणित-

च्छन्नप्रोद्गतपांशु पुंजविसरत्प्रादुर्भवत्कर्दमं ।

त्रस्तः सामि हतो रणे शकपतिर्यस्मात्तथा मालव-

क्ष्मापोद्यापि यथा भयेन चकितः स्वप्नेपि तं पश्यति ॥ २०० ॥

कुंभलगढ की प्रशस्ति।

उक्त प्रशस्ति में अमीशाह का नाम इस श्लोक के दो श्लोकों के बाद आने से यह संदेह रह जाता है कि मालवे का स्वामी और अमीशाह दो भिन्न व्यक्ति थे वा एक ही, परंतु 'एकलिंग माहात्म्य' से स्पष्ट हो गया कि वे दोनों एक ही व्यक्ति के सूचक हैं।

१ रिजकुल्ला मुश्ताकी का जन्म हि० स० ८९७ (वि० सं० १५४८) में और देहांत हि० स० ९८९ (वि० सं० १६३८) में हुआ, इसलिए उसकी तवारीख उक्त दोनों सनों (संवतों) के बीच किसी समय बनी होगी।

महसूल छोड़ दो तो मैं सुलतान से तुम को मांडू का इलाका तथा घोड़ा और खिलअत दिलाऊँगा। तुम इसको अच्छा समझते हो, वा महसूल को? अमींशाह ने उत्तर दिया कि यदि ऐसा हो तो मैं सुलतान का सेवक होकर उसकी अच्छी सेवा बजाऊँगा। फिर उस व्यापारी को जाने दिया। उसने सुलतान के पास पहुंचने पर अर्ज़ किया कि अमींशाह मांडू का एक ज़मींदार है और सब रास्ते उसके अधिकार में हैं। यदि आप उसको मांडू (मालवे) का इलाका, जो बिल्कुल ऊजड़ है, बख्श कर फ़रमान भेजें तो वह वहाँ पर शांति स्थापित करेगा। सुलतान ने उसी के साथ घोड़ा और खिलअत भेजा, जिनको ले वह अमीशाह के पास पहुंचा और उन्हें नज़र कर अपनी तरफ़ की भक्ति प्रकाशित की। उसी दिन से अमींशाह पैदल चलना छोड़कर घोड़े पर सवार होने लगा। उसने अपने मित्रों को भी घोड़े दिए, रिसाला भरती किया और मुल्क को आबाद किया। उसकी मृत्यु के पीछे उसका पुत्र होशंग उसका उत्तराधिकारी और वहां का सुलतान हुआ[1]।' फिरिश्ता आदि तवारीखों में हुशंग (अलपखां) को दिलावरखां गोरी का पुत्र कहा है। इसलिये दिलावरखाँ का ही दूसरा, या सुलतान होने के पहले का, नाम अमींशाह होना पाया जाता है, जिसकी पुष्टि बादशाह जहाँगीर भी करता है।

बादशाह जहाँगीर अपनी दिनचर्या की पुस्तक 'तुज़क-इ-जहाँगीरी, में धारा (धारा नगरी) के प्रसंग में लिखता है कि 'अमीद्शाह गोरी ने, जिसको दिलावरखां कहते थे और जिसका देहली के सुलतान फिरोज़ (तुग़लक़) के बेटे सुलतान मुहम्मद के समय मालवे पर पूरा अधिकार था, क़िले के बाहर जामे मसजिद बनाई थी[2]।' तुज़क-इ-जहांगीरी में दिलावरखाँ का दूसरा नाम अमीशाह नहीं किन्तु अमीद्शाह मिलता है यह फारसी की वर्णमाला का दोष ही है। अनुमान होता है कि 'नू'की जगह लेखक दोषसे 'दाल' लिखेजाने के कारण अमीशाह का अमींद्शाह हो गया हो; परंतु शुद्ध नाम अमींशाह होना चाहिए; क्योंकि

---

१ इलियट; हिस्टरी आफ् इंडिया, जि० ४ पृष्ठ ५५२।

२ अलेक्जैंडर राजर्स का 'तुज़क-इ-जहाँगीरी' का अंग्रेजी अनुवाद जि० १ पृष्ठ ४०७ (हेनी बेवरिज संपादित)।

ऊपर लिखे हुए मेवाड़ के चार शिलालेखों में अमीशाह या अमीसाहि पाठ मिलता है, जो अमींशाह नाम का ही संस्कृत रूप है।

फ़िरोज शाह तुग़लक हि० स० ७५२ से ७६० (वि० सं० १४०८ से १४५५) तक देहली का सुलतान था और महाराणा क्षेत्रसिंह का देहांत वि० सं० १४३६ में हुआ। इसलिए फिरोजशाह ने जिस अमींशाह को मालवे का अधिकारी नियत किया था, उस अमींशाह (दिलावरखाँ गोरी) का उक्त महाराणा का समकालीन होना निश्चित है।

ना० प्र० पत्रिका (त्रै०, न०सं.) काशी,
भाग ३, वि० सं० १६७६।

संपादकीय टिप्पण

1 शृङ्गी ऋषि की वि०सं० १४८५ की प्रशस्ति श्री अक्षयकीर्ति व्यास एम० ए० द्वारा ए० इ०, जि० १३ में प्रकाशित हो चुकी है।

2 कुंभलगढ़ के मामादेव की वि० सं० १५१७ की प्रशस्ति(चतुर्थ पट्टिका) में यह वर्णन है और वह श्री रामरतन हल्दार द्वारा ए० इ०, जि० २१ में प्रकाशित हो चुकी है।

3 बंबावदा—प्रसिद्ध चित्तौड़ दुर्ग से पूर्व में केवल चालीस मील दूर बेगूं से थोड़ी ही दूर पर एक प्राचीन स्थान है, जो पहले चौहानों के अधिकार में था। फिर वहां हाड़ावंश के चौहानों का अधिकार हुआ, जिसको वि०सं० की पन्द्रहवीं शताब्दी में मेवाड़ के गुहिलवंश की सीसोदिया शाखा के राणाओं ने हटा कर, इधर का सारा इलाका अपने राज्य की सीमा में मिला लिया। अब तो वहां खंडहरों के अतिरिक्त और कुछ भी प्राचीनता के चिन्ह अवशेष नहीं हैं।

११ शेरशाह सूर की राव मालदेव पर चढ़ाई

शेरशाह, जिसका असली नाम फ़रीद था, हिसार का रहनेवाला था। उसका पिता हसन, सूर-खानदान का अफ़ग़ान था, जिसको जौनपुर के हाकिम जमालखाँ ने ससराम और टाँडे के जिले, ५०० सवारों से नौकरी करने के एवज़ में, दिए थे। फ़रीद कुछ समय तक बिहार के स्वामी मुहम्मद लोहानी की सेवा में रहा और एक शेर को मारने पर उसका नाम शेरखाँ रक्खा गया। वीर प्रकृति का पुरुष होने के कारण उसकी शक्ति दिन-दिन बढ़ती गई। उसने तारीख़ ९, सफ़र, सन् ९४६ हिजरी (वि० सं० १५९६, आषाढ़ शुक्ला द्वितीय १०=ता० २६ जून, सन् १५३९ ई०) को बादशाह हुमायूँ को चौसा-नामक स्थान (बिहार) में परास्त किया; और दूसरी बार ता० १० मुहर्रम ९४७ हि० (वि० सं० १५९७, ज्येष्ठ सुदि १२-ता० १७ मई सन् १५४० ई०) को क़न्नौज में हराकर आगरे, लाहौर आदि की तरफ़ भगा दिया। इस प्रकार हुमायूँ पर विजय पाकर शेरखाँ उसके राज्य का स्वामी बना, और शेरशाह नाम धारण कर ७ शव्वाल, ९४८ (वि० सं० १५९८ माघ शु० ८=ता० २४ जनवरी सन् १५४२ ई०) को दिल्ली के सिंहासन पर बैठा।

राव मालदेव का जन्म वि० सं० १५६८ पौष कृ० १ (ता० ५ दिसम्बर, सन् १५११ ई०) को हुआ था। संवत् १५८८, ज्येष्ठसुदि ५ (ता० २८ मई सन् १५३१ ई०) को उसने अफ़ीम की पीनक में बैठे हुए अपने पिता राव गाँगा को झरोखे से गिराकर मार डाला और ख़ुद जोधपुर-राज्य का स्वामी बन गया। मालदेव से पूर्व मारवाड़ का राज्य नाम-मात्र का था और राव आस्थान से लगाकर राव गाँगा तक मारवाड़ के राजा छोटे से इलाक़े के स्वामी रहे। प्रकृति से वीर और साहसी होने के कारण, मालदेव ने अड़ोस-

पड़ोस के इलाक़ों को अपने राज्य में मिलाकर एक बड़ा राज्य स्थापित कर लिया और ५०,००० सैनिक अपने साथ रखने के बराबर शक्ति बढ़ा ली। मारवाड़ की ख्यात में उसकी प्रशंसा में बहुत कुछ लिखा हुआ है; परन्तु प्रत्येक रियासत की ख्यातें आत्मश्लाघा और अपने-अपने राज्य का महत्व बतलाने की दृष्टि से लिखी हुई होने से हम उन पर विशेष विश्वास नहीं कर सकते। तो भी यह तो निश्चित है कि मालदेव ने बीकानेर के राव जैतसी को मारकर उसका देश (जांगल), वीरा सिंधल से भाद्राजून, डूँगरमल जैतमालोत से सिवाना, वीरमदेव से मेड़ता और ऐसे ही अजमेर आदि इलाक़े लेकर उन पर अपना अधिकार जमा लिया था।

शेरशाह ने हि० सन् ६५० (वि० सं० १६००=स० १५४३ ई०) में क़रीब ८०,००० सेना[1] के साथ मालदेव पर चढ़ाई की[2] और वह अजमेर के निकट आ पहुँचा। उधर मालदेव भी ५०,००० सेना लेकर लड़ने को आया। बादशाह जहाँ ठहरा था, वहाँ जमीन रेतीली होने के कारण, सैनिकों की रक्षा के लिये न तो खाईं ही खुद सकती थी और न कोई दीवार खड़ी की जा सकती थी। यह स्थिति देखकर बादशाह के पोते महमूदखाँ ने सम्मति दी कि सेना की रक्षा के लिये रेत से भरवाकर बोरियों की आड़ कर दी जाय, तो अच्छा होगा। बादशाह को यह सलाह पसंद आई, और इसके लिये उसने महमूदखाँ की प्रशंसा की[3]। इस सलाह के अनुसार बादशाह ने बनजारों को आज्ञा दी कि रेत से भरकर बोरियाँ सेना के चारों तरफ़ जमा दो[4]। शेरशाह एक महीने तक वहाँ ठहरा रहा; पर लड़ाई

---

१ मालदेव पर चढ़ाई करते समय शेरशाह के साथ कितनी सेना थी, यह बहुधा फ़ारसी-तवारीख़ों में लिखा नहीं मिलता। केवल फिरिश्ता ८०,००० सेना होना बतलाता है। (ब्रिग्ज़; फिरिश्ता, जि० २ पृ० १२२)।

२ तारीख़-इ-शेरशाही; अब्बासखाँ शेरवानी-कृत। इलियट; हिस्ट्री ऑफ इंडिया जि० ४, पृ० ४०४।

३ इलियट; हिस्ट्री ऑफ इंडिया, जि० ४, पृ० ४०५।

४ अल्-बदायूनी की 'मुंतख़बुत्तवारीख़'; डॉक्टर एस्० ए० रैंकिंग-कृत अँगरेज़ी-अनुवाद, जि० १, पृ० ४७७।

न हुई। वह चाहता था कि शत्रु उस पर हमला करे; परंतु जब मालदेव ने उस पर आक्रमण न किया। तब बादशाह ने यह चाल चली कि मालदेव के सरदारों के नाम से झूठे खत लिखवाकर किसी तरह उसके पास पहुंचाए। उनमें यह लिखा था कि यदि हमें अमुक-अमुक जागीरें दी जायँ, तो हम मालदेव को पकड़-कर आपके सिपुर्द कर देंगे और आपको लड़ने की कोई आवश्यकता न रहेगी। ऐसे पत्र पाकर मालदेव का अपने सरदारों पर से विश्वास उठ गया और वह भागने लगा, तो सरदारों ने शपथ खाकर विश्वास दिलाया कि ये कृत्रिम पत्र शेरशाह ने लिखवाए हैं। इस पर भी मालदेव का संदेह दूर न हुआ, और वह अपनी सेना सहित भाग निकला। उसके सरदारों में से जैता (कन्हैया) कूँपा[1] (कुंभा, गुहा) आदि वीर चार हजार से अधिक सेना के साथ ठहर गए और रात्रि के समय शत्रु पर आक्रमण करने चले। परंतु मार्ग भूल जाने के कारण सवेरे शत्रु से उनकी मुठभेड़ हुई। बादशाह ने हाथियों को आगे किया, और तोप-खाने तथा तीरंदाजों को पीछे रक्खा। फिर घमासान युद्ध हुआ, जिसमें सब के सब राजपूत वीर-गति को प्राप्त हुए[2]।

फ़िरिश्ता लिखता है-"कूँपा आदि सरदारों के साथ १०-१२ हजार आदमी थे और उन्होंने शेरशाह की फौज को कई-बार हटाया। पर, इतने में जलालखाँ मदद लेकर आ गया, जिससे राजपूतों के पैर उखड़ गए और वे सब-के-सब लड़-कर काम आए[3]। बादशाह ने इस विजय की खबर सुनकर कहा—मैं एक मुठी-

---

१ वर्णमाला की अपूर्णता के कारण फ़ारसी-तवारीखों में पुरुषों तथा स्थानों आदि के नाम ठीक-ठीक पढ़े नहीं जाते। मालदेव के इन दोनों सरदारों के नाम कूँपा और जैता थे। कूँपा के स्थान में कुंभा या गुहा और जैता के स्थान में कन्हैया या खींवा लिखा मिलता है। परंतु हमने ऊपर शुद्ध नाम देने का यत्न किया है। कूँपा और जैता दोनों रिश्ते में भाई थे। उम्र में कूँपा बड़ा और जैता छोटा था। कूँपा जोधपुर के राव रिड़मल का प्रपौत्र, अखैराज का पौत्र और महेराज का पुत्र था। कूँपा से राठोड़ों की कूँपावत शाखा चली। कई कूँपावत सरदार इस समय भी जोधपुर-राज्य में विद्यमान हैं, जिनमें मुख्य आसोप का सरदार है। जैता उक्त अखैराज का पौत्र और पंचायण का पुत्र था। उससे राठोड़ों की जैतावत-शाखा चली। जैतावत-सरदारों में बगड़ी का ठिकाना मुख्य है[1]।

२ अल-बदायूनी की 'मुंतखबुत्तवारीख' का रैंकिंग-कृत अँगरेजी अनुवाद; जि० १, पृ० ४७८।

३ ब्रिग्ज; फ़िरिश्ता, जि० २, पृ० १२३।

भर बाजरे के लिये हिंदुस्तान की सल्तनत खो बैठता; क्योंकि मालदेव के राज्य में रेतीली भूमि और पानी कमी होने के कारण, गेहूँ, चांवल, मटर, शक्कर, पान आदि हिंदुस्तान की चीजें पैदा नहीं होतीं; केवल बाजरा ही होता है[1]।"

सच्ची स्वामीभक्ति के कारण उक्त सरदारों के इस प्रकार आत्मोत्सर्ग करने के समाचार मालदेव के पास पहुंचने से पहले ही शेरशाह ने उसका जोधपुर में ठहरना भी असंभव कर दिया। मेड़ते से शेरशाह ने अपनी सेना का एक भाग खवासखाँ और ईसाखाँ नियाजी की अध्यक्षता में जोधपुर भेजा, और दूसरा स्वयं लेकर अजमेर पर चढ़ा। अजमेर बिना लड़ाई हस्तगत हो गया। उधर मालदेव ने जोधपुर छोड़कर सिवाने के क़िले में शरण ली[2]। राव कल्याणमल ने बीकानेर और वीरमदेव ने मेड़ते पर क़ब्ज़ा कर लिया और बादशाह के लौट जाने पर,[2] वि०सं० १६०२ में, मालदेव ने जोधपुर को फिर अपने अधिकार में कर लिया।

इस लेख में हमें न तो शेरशाह का और न राव मालदेव का इतिहास लिखने की आवश्यकता है और न उसकी चढ़ाई का वर्णन करने की। तो भी इन बातों का प्रसंगवश संक्षेप में वर्णन करना आवश्यक समझकर ऊपर कुछ परिचय दिया गया है। अब हम इस लेख के मुख्य उद्देश्य अर्थात् उक्त चढ़ाई के कारण का विवेचन करते हैं।

फ़ारसी-तवारीख़ों में उस चढ़ाई का कोई स्पष्ट कारण लिखा नहीं मिलता। तो भी शेरशाह की यह चढ़ाई बड़ी सेना के साथ हुई, जिसका कुछ-न-कुछ कारण अवश्य होना चाहिए। किसी बड़े राजा या बादशाह की दूसरे छोटे राजा पर चढ़ाई मुख्यतः दो कारणों से हुआ करती है। प्रथम तो यह कि वह अपना राज्य बढ़ाने की इच्छा से उसे छीनकर अपने अधीन करे। दूसरा यह कि वह अपने विरुद्ध की हुई किसी कार्यवाही अथवा अपने शत्रु को दी हुई सहायता का बदला लेने के लिये आक्रमण करे। हमें यह निर्णय करने की आवश्यकता है कि शेरशाह का इस चढ़ाई के लिये ऐसा कोई कारण उपस्थित हुआ था, अथवा नहीं।

---

१ ब्रिग्ज़; फिरिश्ता, जि० पृ० १२३।

२ कानूँगो; 'शेरशाह', पृ० ३२६-३०।

मालदेव का देश, रेगिस्तान होने से, मालवे अथवा युक्तप्रांत जैसा उपजाऊ नहीं कि जिसकी प्राप्ति से विजेता को किसी विशेष लाभ की संभावना हो। मरुभूमि होने के कारण, इस प्रदेश पर चढ़ाई करते समय, जल तथा रसद का प्रबंध करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना अनिवार्य था। मालदेव के राज्य में कई सुदृढ़ दुर्ग भी विद्यमान थे और शेरशाह को इस बातका भी पूरा अनुभव था कि हुमायूँ की अधिकांश शक्ति चुनार का क़िला लेने ही में क्षीण हुई थी। ऐसी स्थिति में अपनी गद्दीनशीनी से दो वर्ष के अंदर ही ऐसे विकट प्रदेश पर—आपत्तियाँ सहते हुए—राज्य-वृद्धि के लिये तो शेरशाह का चढ़ाई करना युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होता।

दूसरी बात यह है कि मालदेव पर शेरशाह द्वारा चढ़ाई किए जाने का यह भी कारण नहीं पाया जाता कि मालदेव ने शेरशाह के शत्रु हुमायूँ की किसी प्रकार सहायता अथवा शेरशाह के विरुद्ध कोई कार्यवाही की हो, जैसा कि निम्न-लिखित अवतरणों से ज्ञात होता है—

अबुलफ़ज़ल अपने अक़बरनामे में लिखता है—"बादशाह हुमायूँ शेरशाह से हारकर भागता हुआ हिजरी सन् ६४६ (वि० सं० १५६६=सन् १५४२ ई०) में बीकानेर से १२ कोस पर पहुंचा। बादशाह के सेवकों को मालदेव की तरफ़ से खटका था, जो बादशाह को प्रकट किया गया। उस पर बादशाह ने बुद्धिमान मीर समंदर[1] को मालदेव के पास भेजा। उसने आकर सूचित किया कि मालदेव ऊपरी दिल से तो शुद्ध भाव प्रकट करता है, परंतु वास्तव में उसके मन में दग़ा है। जब हुमायूँ की सेना नागौर के पास पहुंची, तब मालदेव का एक विश्वास-पात्र पुरुष, जिसका नाम संकाई (साँगा) था, हीरे ख़रीदने की इच्छा से हुमायूँ की फ़ौज में आया। उसकी आकृति एवं, हाव-भाव से उसकी सचाई पर विश्वास न

---

१ अबुलफ़ज़ल मालदेव के पास भेजे हुए हुमायूँ के दूत का नाम मीर समंदर लिखता है। अल्-बदायूनी अपनी पुस्तक "मुंतख़बुत्तवारीख़" में उसी का नाम अत्काख़ाँ होना बतलाता है और निज़ामुद्दीन अहमद अपनी तबक़ात-इ-अकबरी में उसका पूरा नाम 'शम्सुद्दीनमुहम्मद अत्काख़ाँ' लिखता है। अनुमान होता है, फ़ारसी-वर्णमाला के दोषों के कारण शम्सुद्दीन के स्थान में अबुलफ़ज़ल के अकबरनामे में 'समंदर' पढ़ा गया होगा।

हुआ। तब हुमायूँ ने कहा, ऐसे रत्न या तो तलवार के बल से या बादशाहों की कृपा से प्राप्त होते हैं, वे बिकते नहीं। इस छली पुरुष के आने से बादशाह और भी सावधान हो गया और उसने समंदर की सचाई की प्रशंसा की। फिर बादशाह ने रायमल सोनी को मालदेव का भेद लेने भेजा और उसे यह समझाया कि यदि लिखने का अवसर न हो, तो इस संकेत से सूचना देना—यदि मालदेव का मन शुद्ध हो, तो पाँचों उँगलियाँ हाथ में दबावे और इसके विपरीत हो, तो केवल तर्जनी को ही। जब हुमायूँ का पड़ाव फलोदी से तीन मंजिल दूर जोगी-तलाब (कृष्णगढ़ के पास) पर हुआ, तब रायमल का एक दूत वहाँ पहुंचा और उसने तर्जनी दबाई। इससे निश्चय हो गया कि मालदेव के मन में कपट है[1]।"

मुंतखबुत्तवारीख में लिखा है—"जब हुमायूँ शेरशाह से हारकर मारवाड़ की तरफ़ आया, तो उसने अत्काखाँ को मालदेव के पास भेजा, और खुद जोधपुर के निकट ठहर गया। मालदेव ने अत्काखाँ को अपने पास रोक लिया, और स्वयं इस विचार से सेना एकत्र करता रहा कि हुमायूँ को पकड़कर शेरशाह के सिपुर्द कर दें; क्योंकि नागौर उस समय शेरशाह के अधीन हो गया था। इसके अलावा मालदेव शेरशाह से डरता भी था। अत्काखाँ मालदेव के यहाँ से किसी प्रकार भागकर हुमायूँ के पास आ गया और यह सूचना उसे दे दी[2]।"

निज़ामुद्दीन अहमद ने अपनी 'तबक़ात-इ-अक़बरी'-नामक पुस्तक में लिखा है—"जब हुमायूँ भागकर मालदेव के राज्य में आया, तब उसने शम्सुद्दीन मुहम्मद अत्काखाँ को जोधपुर भेजा और स्वयं अत्काखाँ के आने की राह देखता हुआ मालदेव के राज्य की सीमा पर ठहर गया। जब मालदेव को हुमायूँ की कमजोरी और शेरशाह से मुक़ाबला करने-योग्य सेना का उसके पास न होना ज्ञात हुआ, तब उसे भय हुआ; क्योंकि शेरशाह ने अपना एक दूत मालदेव के पास भेजकर बड़ी-बड़ी आशाएँ दिलाई थीं और उसने भी शेरशाह से प्रतिज्ञा कर ली थी कि यथा संभव मैं हुमायूँ को पकड़ कर आपके पास भेज दूंगा। इधर नागौर पर शेरशाह ने अधिकार कर लिया था, अतः मालदेव ने भय में आकर हुमायूँ पर फौज भेज दी। हुमायूँ को इस बात की सूचना न मिल जाय, इसके

१ अबुलफ़ज़ल के 'अकबरनामे' का बेवरिज-कृत अँगरेजी अनुवाद; जिल्द १, पृ० ३७१-७३।

२ अल्-बदायूनी की 'मुंतखबुत्तवारीख' का रैंकिंग-कृत अँगरेज़ी-अनुवाद; जि० १, पृ० ५६२-६४।

लिये उसके दूत अरकाखाँ को वहीं रोक लिया; परंतु वह मौक़ा पाकर हुमायूँ के पास पहुंच गया, और उसे यह सब खबर दे दी[१]।"

निज़ामुद्दीन ने यह भी लिखा है—"हुमायूँ के एक पुस्तकाध्यक्ष ने, जो क़न्नौज की लड़ाई के बाद भागकर मालदेव की सेवा में रह गया था, हुमायूँ को लिख भेजा कि मालदेव धोके से आपको पकड़ा देगा, अतः आप इसके राज्य की सीमा से अति शीघ्र बाहर चले जाइए[२]।"

निज़ामुद्दीन और अल-बदायूनी ने यह भी लिखा है—"मालदेव के दो गुप्तचर हुमायूँ के यहाँ पकड़े गए। भेद लेने के लिये जब उनको मारने का हुक्म दिया गया, तब उन्होंने हुमायूँ के आदमियों से ही छुरा और ख़ंजर छीन कर, मारे जाने से पहले, ऐसा हमला किया कि मर्द, औरत, या घोड़ा, जो कोई सामने आया, उसे मार डाला। १७ जीव उनके हाथ से मारे गए, जिनमें हुमायूँ की सवारी का एक ख़ासा घोड़ा भी था। मालदेव के इस बर्ताव को देख कर हुमायूँ उमरकोट की तरफ़ चला गया[३]।"

इन अवतरणों से स्पष्ट है कि मालदेव ने हुमायूँ की कुछ भी सहायता नहीं की। इतना ही नहीं, वह तो उसे पकड़कर शेरशाह के सिपुर्द करने को उद्यत था। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि वह शेरशाह का शत्रु नहीं, किंतु एक प्रकार से सहायक ही था। ऐसी दशा में यह भी संभव नहीं कि शेरशाह शत्रुता का बदला लेने की इच्छा से उस पर चढ़ाई करे। इसलिये इस चढ़ाई का कुछ और ही कारण होना चाहिए।

'कर्मचंद्रवंशोत्कीर्तनकं काव्यम्'-नामक संस्कृत ऐतिहासिक पुस्तक से, जिसकी रचना अकबर के राज्य के ३८ वें वर्ष, अर्थात् वि० सं० १६५० में[४] राज-

---

१ तबक़ात-इ-अकबरी; इलियट; हिस्ट्री ऑफ इंडिया; जि० ५; पृ० २११-१२।

२ वही; जि० ५, पृ० २१२।

३ वही; जि० ५; और अल-बदायूनी की पुस्तक का रैंकिंग-कृत अँगरेज़ी-अनुवाद; जि० २, पृ० ५६४।

४ श्रीजैनचंद्रसुगुरोराज्येविजयिनित्रिपक्षबलजयिनी;
क्रमतो नृपविक्रमतःखभूतरसशशि(१६५०)मिते वर्षे ॥ ५२६ ॥

ाच्छ[1] के प्रमोदमाणिक्यगणि के शिष्य जयसोम ने लाहौर में की थी,[2] इस चढ़ाई े कारण का पता चलता है। उसमें लिखा है—

"किसी समय मालदेव सेना के साथ जांगलदेश (बीकानेर-राज्य) पर ाधिकार जमाने की इच्छा करने लगा। तब जेतृसिंह (जैतसिंह) ने मंत्री (नग-ाज[3]) से कहा कि मंत्रीराज, मालदेव बलवान है; हम लोगों से जीता नहीं जा कता। इसलिये उसके साथ लड़ाई की इच्छा करना फलदायक नहीं। सुना ाता है वह यहाँ पर चढ़ाई करने वाला है, इसलिये उसके चढ़ आने के पहले ही ाय की मंत्रणा करनी चाहिए। फिर आ जाने पर क्या हो सकता है ? तब पुण मंत्री ने यह सलाह दी कि शेरशाह का आश्रय लेना चाहिए। इसके विना ारा काम न निकलेगा; क्योंकि समर्थ की चिंता समर्थ ही मिटा सकता है, हाथी सिर की खुजलाहट बड़े वृक्ष से ही मिट सकती है। यह सुनकर जैतसिंह कहा—वाह, महामंत्री, अपना काम सिद्ध करने के लिये तुमने अच्छा ेश दिया। अपने से बढ़कर गुणवान् की सेवा निष्फल होने पर भी च्छी है; सफल होने पर तो कहना ही क्या ! इसलिये तुम्हीं सोत्साह मन से ् के समीप जाओ; क्योंकि मानस-सरोवर के बिना हंस प्रसन्न नहीं

साहिश्रीमदकब्बरराज्यदिनादखिललोकसुखहेतोः;
अष्टत्रिंशे संवति लाभकृते लाभपुरनगरे ॥ ५२७ ॥
(कर्मचंद्रवंशोत्कीर्तनकं काव्यम्)

[1] कलिकालकेवलीति ख्यातिं प्राप्तास्ततश्च जिनचंद्राः ;
बोधितभूपचतुष्टयकृतसेवा राजगच्छाख्याः ॥ ५१४ ॥

[2] श्रीजिनकुशलाम्नाये श्रीमच्छ्रीक्षेमकीर्तिशाखायाम्;
श्रीक्षेमराजशिष्यप्रमोदमाणिक्यगणिशिष्यैः ॥ ५२९ ॥
श्री जयसोमैर्विहिता श्रीसखवंश्यावली गुरोर्वचसा;
....॥ ५३० ॥
(कर्मचंद्रवंशोत्कीर्तनकं काव्यम्)

जोधपुर के राव जोधा ने अपने पुत्र विक्रम (बीका) को जांगल-देश-विजय कर नवीन राज्य करने को भेजा। उस समय मंत्री वत्सराज को भी बीका के साथ भेजा था। नगराज उक्त ़सराज के दूसरे पुत्र नरसिंह का पुत्र था।

होते। फिर, नज़राने के उपायों में चतुर, बलवान मंत्री नगराज, जो पर्वतराज की तरह युद्ध में शत्रु-रूपी वायु से न डिगनेवाला था, 'जो आज्ञा' कहकर क्षत्रियों की सेना लेकर, (अच्छे) शकुनों से अपने अर्थ के सिद्ध होने का अनुमानकर, बादशाह के पास पहुंचा। मंत्रणा में निपुण नगराज ने हाथी, घोड़े, ऊँट आदि भेट करके शूर-वीरों की रक्षा करनेवाले सुल्तान को प्रसन्न किया। [अपनी अनुपस्थिति में] शत्रु की चढ़ाई के डर से (राजकुमार) कल्याण (जैतसिंह का पुत्र कल्याणमल) सहित सब राज-परिवार को इस (नगराज) ने सारस्वत (सरिसा) नगर में छोड़ा था। मालदेव के मरुस्थल लेने के लिये आने पर जैतसिंह क्रोध से विकराल-मुख होकर युद्ध करने के लिये शत्रुओं के सम्मुख आया। युद्ध आरंभ होने पर मंत्री भीम[1]; योद्धाओं के साथ लड़ता हुआ, शुद्ध ध्यान-पूर्वक, राजा के सामने स्वर्ग को प्राप्त हुआ। संग्राम में जैतसिंह के मारे जाने पर मालदेव जांगल देश को छीन कर गुफा के समान अपनी पुरी (जोधपुर) को चला। [इधर-नगराज] बादशाह से सादर प्रार्थना कर उसकी सेना के साथ ही शत्रुमंडल को नष्ट कर, उनके योद्धाओं का रण में विनाश कर, अपने देश पर अधिकार जमा और बैरियों से बदला लेकर शोभा सहित शाह के साथ लौटा। स्वामिधर्म के पालन में धुरंधर नगराज ने राजा कल्याणमल को शाह के हाथ से साम्राज्य-तिलक दिलवाया, उसे विक्रमपुर (बीकानेर) भेजा और आप बादशाह के साथ गया; क्योंकि सज्जन स्वार्थी नहीं हुआ करते। गुप्त मंत्रणा के बल से अनेक बलवान् शत्रुओं को दबानेवाले इस (नगराज) का शाह शेरशाह ने अधिक सम्मान किया। फिर किसी समय बादशाह की आज्ञा पाकर संतोष ही से तृप्त मंत्रिराज अपने देश की ओर चला। शीघ्र आता हुआ पूर्ण-मनोरथ मंत्री मार्ग में, अजमेर में, पंडितों के सदृश मृत्यु से स्वर्ग को प्राप्त हुआ[2]।"

---

१ भीम (भीमराज) मंत्री वत्सराज के तीसरे पुत्र नरसिंह का ज्येष्ठ त्रपु था।

२ मालदेवेऽन्यदा सेनासनाथे जांगलावनीम्;

जिघृक्षति महामात्यं जैतृसिंहोऽवदत्तराम् ॥ २०५ ॥

मंत्रिराज बली राजा मालदेवोऽस्मदादिभिः;

असाध्यस्तेन नानेन सार्द्धं स्पर्द्धा गुणावहा ॥ २०६ ॥

इस अवतरण से निश्चय होता है कि मालदेव का बीकानेर पर हमला

श्रूयतेऽत्र समागंता यावन्नायाति स स्वयम् ;
तावत्पुरैव मंत्रोऽत्र कार्यः किं पुनरागते ॥ २०७ ॥
गूढमंत्रस्ततो मंत्री राज्ञा मंत्रितवानिति ;
सेरसाहिरिवाराध्यो विना तं न स्वकामितम् ॥ २०८ ॥
समर्थानां यतश्चिंता समर्थैरपनीयते ;
महाद्रिणैव कण्डूया गजगंडस्य नश्यति ॥ २०९ ॥
साधुसाधु महामंत्रिन्मंत्रितं स्वार्थसिद्धये ;
गुणायाधिगुणे सेवा मोघापि सफला किमु ॥ २१० ॥
तेन सांहिसमीपे त्वं याहि सोत्साहमानसः ;
मानसेन विना येन न हंसानां मनोरति ॥ २११ ॥
तथेत्युक्त्वा ततो मंत्री नगराजो बलाधिकः ;
नगराज इवाक्षोभ्यो रणे वैरीसमीरणैः ॥ २१२ ॥
राजन्यसैन्यमादाय दायोपायविशारदः ;
शकुनानुमितस्वार्थसिद्धिः साहिमुपेयिवान् ॥ २१३ ॥
गजास्वकरमव्रातमुपदीकृत्य सेवया ;
शूरत्राणं सुरत्राणं प्रीणयामास मंत्रवित् ॥ २१४ ॥
शात्रवागममाशंक्य सकल्याणस्ततोऽखिलः ;
राजलोकोऽमुना मुक्तः श्रीसारस्वतपत्तने ॥ २१५ ॥
मालदेवे समायाते समादातुं मरुस्थलीम् ;
जेतृसिंहोऽभ्यमित्रीणः समभूद्विमुखो रुषा ॥ २१६ ॥
आयोधने समारब्धे नृपाग्रे भीममंत्रिवत् ;
युद्ध्यमानोभटैः सार्द्धं शुद्धध्यानो दिवं ययौ ॥ २१७ ॥
मालदेवोऽपि संग्रामे जेतृसिंह मृते सति ;
जं(जां) गलं देशमादाय दरिमिव पुरीं गतः ॥ २१८ ॥
साग्रहं साहिमभ्यर्थ्य सममेवास्य सेनया ;
वैरिमंडलमुद्दास्य रणे हत्वा च तद्भटान् ॥ २१९ ॥

करने का विचार सुनकर वहाँ के राव जैतसिंह ने अपने मंत्री नगराज को शेरसाह के पास भेट सहित भेजा। नगराज बादशाह से मेल-मिलाप बढ़ाकर जैतसिंह के मारे जाने के पश्चात् उसको मालदेव पर चढ़ा लाया। शेरशाह की चढ़ाई का यही कारण अनुमान किया जा सकता है।

मारवाड़ की ख्यात में लिखा है—वि० सं० १५६८ में राव मालदेव की फ़ौज बीकानेर पर चढ़ गई, जिसका सरदार कूँपा था। इस लड़ाई में राव जैतसी (जैतसिंह) लड़ कर काम आया। अब जैतसी का पुत्र कल्याणमल वीरमदेव दूदावत के साथ सूर बादशाह शेरशाह के पास दिल्ली गया। पहले बादशाह से मिलना न हो सका। परंतु पीछे से जब मिलना हुआ, तब बहुत कुछ खुशामद करके बादशाह को वे मारवाड़ पर चढ़ा लाए[1]। जैतसिंह के मारे जाने के पीछे कल्याणमल के दिल्ली के बादशाह के पास जाने का कथन मानने-योग्य नहीं है, क्योंकि यह ख्यात सं० १७०० वि० से भी बहुत पीछे की बनी हुई है।

स्वदेशमात्मसात्कृत्वा शोभामासाद्य वैरिषु ;
वैरिनिर्यातनं कृत्वा व्यावृत्तोऽयं स्वसाहिना ॥ २२० ॥
साम्राज्यतिलकं साहिकरेणाकारयत्तराम् ;
कल्याणमल्लराजस्य स्वामिधर्मधुरंधरः ॥ २२१ ॥
राजानं प्रेषयामास विक्रमाख्यं पुरं प्रति ;
स्वयं त्वनुययौ साहेर्न संतः स्वार्थलंपटाः ॥ २२२ ॥
गूढमंत्रबलाक्रांतदुर्दान्तरिपुसंततिः;
संमानितोऽधिकं योऽत्र साहिना सेरसाहिना ॥ २२३ ॥
आज्ञामासाद्य साहेर्यामन्यदा मंत्रिनायकः ;
संतोषपोषभृज्जातः स्वदेशमभिगामुकः ॥ २२४ ॥
तूर्णं पथि समागच्छन्मंत्री पूर्णमनोरथः ;
अजमेरपुरे स्वर्गमगात्पंडितमृत्युना ॥ २२५ ॥
(कर्मचंद्रवंशोत्कीर्तनकं काव्यम्)

१. हस्त-लिखित मारवाड़ की ख्यात; जि० १, पृ० ६६।

महामहोपाध्याय कविराजा श्यामलदास-कृत 'वीरविनोद' में लिखा है कि राव मालदेव ने बीकानेर और मेड़ता अपने भाईयों से छीन लिए थे। इससे बीकानेर का राव कल्याणमल और मेड़ते का राव वीरमदेव शेरशाह के पास दिल्ली पहुंचे और मदद के लिये उसको चढ़ा लाए[1]। यह सारा वृत्तांत भी मारवाड़ की ख्यात से लिया गया है। इसलिये हम इसे महत्त्व का न समझकर जयसोम के कथन को अधिक विश्वास-योग्य मानते हैं; क्योंकि 'कर्मचंद्रवंशोत्कीर्तनकं काव्यम्' उक्त चढ़ाई से केवल ५० वर्ष पीछे लिखा गया है। यह पुस्तक जयसोम ने मनगढ़ंत नहीं लिखी। उसका कथन है कि प्रायः अनुरागवाला पुरुष किए हुए से भी अधिक वर्णन करता है, और द्वेषी (गुणों को) छिपाने के लिये व्याकुल हो कर किया हुआ भी सब-का-सब नहीं कहता। अपने से पहले के पुरुषों को तो मैंने देखा नहीं, इससे उनसे मेरा राग या द्वेष नहीं है, और देखे हुओं का तो मैंने जैसा देखा, वैसा वर्णन किया है। बाकी वंशावलीवाचक (वंशावली लिखनेवाले-जागा) पुण्यसार से जो कुछ सुना, उसकी जाँच करके लिखा है[2]। ऐसी दशा में उसका कथन अविश्वसनीय नहीं कहा जा सकता। उसके कथनानुसार, मालदेव चढ़ाई करने वाला है, यह खबर पाकर मंत्री नगराज का दिल्ली जाना और उसके जाने के अनंतर युद्ध होकर जैतसिंह का मारा जाना अधिक विश्वास-योग्य है।

बीकानेर की रीजेंसी कौंसिल के एडीशनल मेंबर मुंशी सोहनलाल ने ई० स० १८८५ से कुछ वर्ष पीछे 'तारीख बीकानेर' लिखी, जिसमें लिखा है कि "राव जैतसी मालदेव के साथ की लड़ाई मे सं० १५६८ चैत्र वदि ११ को मारा गया।

---

१ वीरविनोद; भाग २, प्रकरण १० के अन्त मे दिए हुए जोधपुर के इतिहास में राव मालदेव का वृत्तांत।

२ रक्तमतिर्वदतितरां यस्मादधिकं कृतादपि प्रायः;
द्विष्टः कृतिमपि सकलं न वदति यदपलपनाकुलितः ॥५३२॥
पूर्वजानामदृष्टत्वाद्रागद्वेषौ न तेषु मे;
दृष्टानां तु यथादृष्टं वर्णनं विदधे मया ॥५३३॥
वंश्यावलीवाचकपुण्यसारमुखाद्यथाश्रावि तथा विविच्य;
अस्माभिरप्यादरसारचित्तैर्लिपीकृतेऽयं कृतिनां सुखाय ॥५३४॥
(कर्मचंद्रवंशोत्कीर्तनकं काव्यम्)

उस समय उसका पुत्र कल्याणसिंह वहां मौजूद न था, जिससे यह हाल उसे मालूम न हुआ; क्योंकि अपने पिता की विद्यमानता में ही वह राणा साँगा के साथ बाबर की लड़ाई में बयाने गया हुआ था[१]।"

बयाने जाने का उपर्युक्त कथन भी विश्वास-योग्य नहीं है; क्योंकि राणा साँगा और बाबर की लड़ाई वि० सं० १५८४ में हुई थी, न कि १५९८ के आस-पास। परंतु इस कथन से यह अभिप्राय निकल सकता है कि राव जैतसी की मालदेव के साथ जो लड़ाई हुई उसके समय कल्याणसिंह (कल्याणमल) बीकानेर में नहीं था; क्योंकि जयसोम के कथनानुसार मंत्री नगराज राजपरिवार सहित उसे सिरसे में छोड़ आया था।

उसी किताब में आगे चलकर यह भी लिखा हुआ है कि अब इन्होंने (कल्याणमल आदि ने) सिरसे में मुक़ाम किया, और वे अपने पैतृक राज्य को मालदेव से छुड़ाने का यत्न करने लगे। यहाँ से राव कल्याणसिंह (कल्याणमल) का भाई भीमराज पचास सवार लेकर दिल्ली गया और बादशाह हुमायूँ की नौकरी मे दाख़िल हो गया। इधर वीरमदेव मेड़तिया भी सिरसे में कल्याणमल से आ मिला। भीमराज वज़ीर से मेल बढ़ाकर उसके द्वारा हुमायूँ बादशाह तक पहुंच गया और वीरमदेव भी भीमराज के पास दिल्ली जा पहुंचा। इसके बाद लेखक ने शेरशाह के दिल्ली के राज्यसिंहासन पर आरूढ़ होने तथा भीमराज और वीरमदेव के बादशाह को ससैन्य मालदेव पर चढ़ा लाने का विवरण दिया है[२]।

इस कथन के अनुसार वि० सं० १५९८ के बाद भीमराज का हुमायूँ के पास दिल्ली जाना पाया जाता है, जो संभव नहीं; क्योंकि उस समय से पूर्व ही हुमायूँ दिल्ली छोड़कर इधर-उधर भागा फिर रहा था। मुंशी सोहनलाल की पुस्तक, कर्नल पाउलेट-कृत बीकानेर के गैज़ेटियर तथा ख्यातों एवं चारणों-भाटों आदि के कथन के आधार पर लिखी हुई होने से, इस प्रसंग में मारवाड़ ख्यात-जैसी ही अविश्वसनीय है।

---

१ तारीख़-बीकानेर; पृ० ११४-१६।

२ तारीख़-बीकानेर; पृ० ११६-१२०।

ऊपर उद्धृत किए हुए प्रमाणों से निश्चित है कि मालदेव का बीकानेर पर चढ़ाई करने का विचार प्रकट होने पर राव जैतसिंह ने अपने मंत्री नगराज को अपनी सहायता करने के लिये शेरशाह को चढ़ा लाने के वास्ते भेजा था; और जैतसिंह की मृत्यु के अनंतर नगराज उसे मालदेव पर चढ़ा लाया था। इस प्रकार बीकानेरवालों के आत्मरक्षणार्थ बुलाने पर ही शेरशाह ने मालदेव पर चढ़ाई की थी, अन्य किसी कारण से नहीं।

माधुरी (मा० प०) लखनऊ,
वर्ष ५, खंड १, सं० १।

सम्पादकीय टिप्पण

1. राठौड़ जैता और कूंपा चचेजाद भाई थे। इनमें जैता का स्थान प्रमुख था; क्योंकि वह मंडोवर के राव रणमल के बड़े कुंवर अखैराज के ज्येष्ठ पुत्र पंचायण का बेटा था। जैता के वंशधर बगड़ी के ठाकुर हैं और इस ही कारण से वंश परंपरागत उनको जोधपुर के महाराजा की गद्दीनशीनी के अवसर पर प्रथम राज्य तिलक करने का सम्मान प्राप्त है।

2. शेरशाह ने जोधपुर आदि का अधिकार करने के पीछे अजमेर पर भी अधिकार कर लिया और वहां से वह चित्तौड़ की तरफ होता हुआ मालवा के मार्ग से कालिंजर को गया। जहाँ उक्त दुर्ग पर आक्रमण के समय बारूद में अकस्मात् आग लग जाने से उसका देहावसान हो गया। इससे अवसर पाकर मालदेव ने पुनः जोधपुर पर वि० सं० १६०२ में अधिकार कर लिया। मालदेव ने अजमेर पर भी इस समय अधिकार कर लिया था; परन्तु वह अधिक दिनों तक न रह सका और उसके लिए दिल्ली के अफगान बादशाह, चित्तौड़ के महाराणा उदयसिंह से उसकी कशमकश बनी ही रही।

तीसरा प्रकरण—विविध

१ सुदि और वदि

आजकल हिंदी के लेखक 'सुदि' और 'वदि'-शब्दों को एक-सा नहीं लिखते। कोई 'सुदि' और 'बुदि' लिखते हैं, तो कोई 'सुदी' और 'बदी'। माधुरी-जैसी उच्च कोटि की पत्रिका में भी ये शब्द दोनों तरह से लिखे हुए देखने में आते हैं। इनमें से कौन-सेरूप शुद्ध हैं, यह निश्चय करने के लिये इनकी उत्पत्ति पर विचार करना आवश्यक है।

'सुदि' और 'वदी' का अर्थ 'शुक्लपक्ष' और 'कृष्णपक्ष' माना जाता है; परन्तु वास्तव में देखा जाय, तो इन शब्दों का अर्थ 'शुक्लपक्ष का दिन' और 'कृष्णपक्ष का दिन' है। पीछे से ये दोनों एक शब्द मान लिए गए हैं, परन्तु वास्तव में ये शब्द नहीं, दो-दो शब्दों के प्रारंभ के अक्षर-मात्र हैं, जिनको साथ लिखने से इन दोनों शब्दों की सृष्टि हुई है।

प्राचीन शिलालेखादि में संवत्सर (संवत, वर्ष), ऋतुपक्ष, और दिन या तिथि एवं अन्य शब्द भी संक्षिप्त रूप में लिखे हुए बहुधा पाए जाते हैं। संवत्सर (वर्ष) को 'संवत' या 'सं', ग्रीष्म को 'ग्री' (प्राकृत में), वर्षा को 'व', हेमंत को 'हे', बहुलपक्ष को 'बहुल' या 'ब' (व), शुक्लपक्ष को 'शुक्र' या 'शु', दिवस को 'दि', तिथि को 'ति', और ठक्कुर को 'ठ' आदि लिखा मिलता है। शुक्लपक्ष के 'शु' और दिवस के 'दि' को साथ लिखने से 'शुदि'-शब्द बना; परन्तु हिंदी आदि प्रचलित भाषाओं में 'श' के स्थान में 'स' का प्रयोग भी होने से, 'शुदि' के स्थान में 'सुदि'-शब्द का प्रचार हुआ है। इसी तरह बहुल (कृष्ण) पक्ष के संक्षिप्त रूप 'ब' और दिवस के 'दि' को साथ लिखने से 'बदि'-शब्द की उत्पत्ति हुई है, जिसके स्थान में 'वदि' ('बवयोरैक्यम्' के अनुसार) भी लिखा जाता है।

पिछले व्याकरण के आचार्यों ने 'सुदि' और 'वदि' शब्दों की गणना अव्ययों में की है। इस पर कोई भी पाठक यह आपत्ति उपस्थित कर सकता है कि जब सिद्धांतकौमुदी-जैसे ग्रंथ के कर्ता ने 'सुदि' और 'वदि'-शब्दों को अव्यय माना है, तो हम कैसे मान सकते हैं कि ये शब्द 'शुक्लपक्ष' और 'दिवस' तथा 'बहुलपक्ष' और 'दिवस' के साथ लिखे हुए संक्षिप्त रूप हैं। इसके उत्तर में मेरा निवेदन यह है कि पिछले व्याकरण के आचार्यों ने इनकी उत्पत्ति की ओर दृष्टि नहीं दी और लोकप्रसिद्ध (भाषा के) इन रूपों में विकार का अभाव देखकर ही उन्होंने इनकी गणना अव्ययों में की है, जो अधिक प्राचीन नहीं है। प्राचीन शिलालेख आदि में ये शब्द विशेष रूप से लिखे हुए मिलते हैं, जिनमें बहुधा 'शुदि'-शब्द का प्रयोग मिलता है, न कि 'सुदि' का। वैयाकरणों ने 'सुदि'-शब्द के लोकप्रसिद्ध रूप 'सुदि' को ही स्थान दिया है, संस्कृत-रूप 'शुदि' को नहीं। ये शब्द भारत में भी सार्वदेशिक नहीं हैं। बंगाल में सौरगणना होने के कारण वहाँ तो इन शब्दों का प्रयोग भी नहीं होता। इसी से 'शब्दकल्पद्रुम'-नामक कोष में 'सुदि'-शब्द के विवेचन में लिखा है-"यह अव्यय है, और पश्चिम देश में प्रसिद्ध है।" उसमें 'वदि' शब्द तो दिया ही नहीं। 'वाचस्पत्य बृहदभिधान'-कोष में 'सुदि' को तो अव्यय मानकर उसे 'शुक्ल-पक्ष' का सूचक कहा है, पर 'बदि' या 'वदि' शब्द तो उसमें भी नहीं है। उसमें 'व(ब)हुल'-शब्द अवश्य है, जिसको 'कृष्णपक्ष' का सूचक बतलाया है और 'शुक्ल' या 'शुद्ध' को 'शुक्लपक्ष' का सूचक लिखा है।

इन शब्दों का ठीक-ठीक निर्णय प्राचीन शिलालेखादि की सहायता से ही हो सकता है।

बयाना (भरतपुर-राज्य) के विजयगढ़ नामक क़िले में खड़े हुए यज्ञस्तंभ के शिलालेख का संवत् नीचे लिखे अनुसार दिया है-

(१) 'चतुर्षु वर्षशतेष्वष्टाविंशेषु ४०० २० ८ (४२८) फाल्गुण-(न)बहुलस्य पंचदश्या[1] अर्थात् वर्ष (संवत्) ४२८ के फाल्गुण-कृष्णा अमावास्या को (यह यज्ञस्तंभ स्थापित किया गया था)।

---

१ फ्लीट-गुप्त-इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २५३, और प्लेट ३६।

(२) मंदसोर से मिले हुए कुमारगुप्त (प्रथम) के समय के शिलालेख में संवत् नीचे लिखे अनुसार है—

मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये;
त्रिनवत्यधिकेऽब्दानां रि (ऋ)तौ सेव्यघनस्तने ।
सहस्य मासशुक्लस्य प्रशस्तेह्नि त्रयोदशे[1] ।

अर्थात्, मालवगण की स्थिति से (मालव-संवत् या विक्रम संवत् से) ४९३ वर्ष व्यतीत होने पर, पौष-शुक्ला के तेरहवें दिन (यह लेख तैयार किया गया) ।

ये उदाहरण वि० सं० ४२८ और ४९३ के शिलालेखों से उद्धृत किए गए हैं, जिनमें 'सुदि', 'वदि' का प्रयोग नहीं, किंतु पूरे शब्द वाले उदाहरण और भी बहुत मिल सकते हैं; परन्तु उन्हें उद्धृत कर लेख को बढ़ाने की आवश्यकता नहीं । अब हम पक्ष और दिन (तिथि) के संक्षेप में लिखे जाने के कुछ उदाहरण उद्धृत करते हैं—

(१) शेरगढ़ (कोटा-राज्य) से मिले हुए सामंत देवदत्त के बौद्ध लेख में 'संवत् ८४७ माघ-शुदि ६[2]' खुदा है ।

(२) ग्वालियर से मिले हुए कन्नौज के प्रतिहार राजा भोजदेव के शिलालेख में 'संवत्सरशतेषु नवसुत्र-(त्र) यस्त्रिशदधिकेषु' 'माघशुक्लद्वितीयायां' 'सं० ९३३ माघ-शुदि २[3] मिलता है । इस लेख में पूरे शब्दों और संक्षेप-रूप में भी संवत्, पक्ष, तिथि दिए हैं ।

(३) हड्डाला (काठियावाड़) से मिले हुए कन्नौज के प्रतिहार राजा महिपालदेव के सामंत धरणीवराह के शक-संवत ८३६ (वि० सं० ९७१) के दानपत्र में 'शक-संवत् ८३६ पौप-सुदि ४ उत्तरायणे[4]' खुदा है और यह उदाहरण काठिया-वाड़ का है ।

---

१ फ्लीट—गुप्त-इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ८३ और प्लेट ११ ।

२ इंडियन ऐंटिक्वेरी, जिल्द १४, पृष्ठ ३५१ ।

३ एपिग्राफ़िया इंडिका, जिल्द १, पृष्ठ १५६ ।

४ एपिग्राफ़िया इंडिका, जिल्द ५ के परिशिष्ट में लेख संख्या ३५३ ।

(४) खेड़ा (गुजरात) से मिले हुए गुर्जरवंशी राजा दूसरे दद्द (प्रशांत-राग) के कलचुरी-संवत् ३८० (वि० सं० ६८७) कार्त्तिक-सुदि १५ के दानपत्र में 'संवत्सरशतत्रयेशीत्यधिकेशुद्धपंचदश्यां...सं० ३०० ८० (३८०) कार्त्तिक-शु० १० ५[1] (१५)' खुदा है। इसमें वर्ष और पक्ष पूरे शब्दों में तथा संक्षिप्त रूप से भी दिए हैं। यह उदाहरण गुजरात का है।

(५) सीयडोना (संयुक्तप्रदेश) से मिले हुए क़न्नौज के प्रतिहारवंशी महाराजाधिराज महेन्द्रपाल के शिलालेख में 'संवत्सरशतेषु नवसु पञ्चधिकेषु चतुरन्वितेषु मार्ग्गशिरमासबहुलपक्षतृतीयायां संवत् ९६४ मार्ग्गवदि ३[2]' है। इसमें वर्ष, मास, पक्ष और तिथि, चारों पूरे शब्दों में एवं उनके संक्षिप्त रूपों में भी दिए हैं।

(६) लखनऊ-म्यूज़ियम में रखे हुए क़न्नौज के गाहड़वाल (गहरवार)-वंशी महाराजाधिराज गोविंदचंद्रदेव के कमौली-गाँव से मिले हुए दानपत्र में 'षटसप्तत्यधिकएकादशशतसंवत्सरे ज्येष्ठमासे कृष्णपक्षे पंचदश्यां तिथौ रविदिनेङ्कतोपि संवत् ११७६ ज्येष्ठवदि १५ रवौ[3]' खुदा है।

(७) मांधाता (माहेश्वर, इंदौर-राज्य) से मिले हुए मालवा के परमार-राजा महाराजाधिराज जयसिंहदेव के दानपत्र में 'संवत् १११२ आषाढ़वदि १३[4]' दिया है।

(८) क़न्नौज के प्रतिहारवंशी महाराजाधिराज त्रिलोचनपालदेव के दानपत्र में, जो बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के संग्रह में सुरक्षित है, 'सं० १०८४ श्रावण-वदि ४[5]' लिखा है।

दक्षिण से मिलनेवाले शिलालेखों और ताम्रपत्रों में संवत्सर (वर्ष), मास, पक्ष और तिथि (दिन) पूरे शब्दों में ही दिए हुए मिलते हैं उनके यहाँ 'शुदि' (सुदि), 'वदि' (बदि) का प्रयोग नहीं मिलता।

---

१ एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द ५ के परिशिष्ट में लेख संख्या ३९५।

२ एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द ५ के परिशिष्ट में लेख संख्या २०।

३ एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द ५ के परिशिष्ट में लेख संख्या ९०।

४ एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द ५ के परिशिष्ट में लेख संख्या ६०।

५ एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द ५ के परिशिष्ट में लेख संख्या ६०।

उपर दिये हुए उदाहरणों से पाठकों को ज्ञात हो जायगा कि इन शब्दों का प्रयोग संयुक्तप्रदेश, राजपूताना, मालवा, गुजरात, काठियावाड़ आदि प्रदेशों में ही होता था। इसी से 'शब्दकल्पद्रुम' में 'सुदि'-शब्द का (बंगाल से) पश्चिम देश में प्रसिद्ध होना लिखा है, जो ठीक ही है।

उक्त उदाहरणों से पाठकों को यह भी विदित हो जायगा कि 'सुदि' और 'वदि' कोई शब्द नहीं, किंतु 'शुक्लपक्ष' या 'बहुल (कृष्ण) पक्ष' और दिवस (तिथि) के प्रारंभिक अक्षरों को साथ लिखने से इन शब्दों की उत्पत्ति हुई है। अतएव 'सुदि' और 'वदि' में 'दी' लिखना सर्वथा अशुद्ध है। ये शब्द भारत में सार्वदेशिक भी नहीं थे, और न अभी हैं।

अपने कथन की पुष्टि में हम यह भी बतलाना चाहते हैं कि जैसे प्राचीन शिलालेखों में 'शुदि' और 'वदि' मिलते हैं, वैसे ही 'शुति' और 'वति' भी मिलते हैं, जिनमें 'शु' और 'व'-अक्षर तो 'शुक्लपक्ष' और 'बहुल-(कृष्ण) पक्ष' के, तथा 'ति' तिथि का संक्षिप्त रूप है। इन शब्दों का उल्लेख न तो किसी व्याकरण में मिलता है और न किसी कोष में। तो भी प्राचीन काल में इनका प्रयोग बहुत होता था, जिसके कुछ उदाहरण हम नीचे देते हैं—

(१) देहली में फ़ीरोज़शाह के कटरे के एक तिमंज़िले मकान के सिर पर खड़े किए हुए अशोक के लेखवाले विशाल स्तंभ पर, जिसको पंजाब के ज़िले अंबाला (सवालक) के गाँव टोपरा से सुल्तान फ़ीरोज़शाह तुग़लक लाया था, अजमेर के चौहान-राजा बीसलदेव (विग्रहराज) के तीन लेख खुदे हुए हैं, जिनमें से एक पर 'संवत १२२० वैसाख-शुति १५' और दूसरे में 'संवत्-श्रीविक्रमादित्ये १२२० वैशाख-शुति १५' गुरौ, खुदा है।[1]

(२) सुंगल (चंबा-राज्य) से मिले हुए राजा विदग्ध के दानपत्र में 'प्रवर्धमाण(न) कल्याणविजयराज्य संवत्सरे चतुर्थे' संवत ४ माघ-शुति प्रतिपद (त) १[2] है।

---

१ इंडियन ऐंटिक्वेरी, पृष्ठ २१८।

२ डॉक्टर फोज़ल—ऐंटिक्विटीज ऑफ चंबा-स्टेट, पृष्ठ २६७।

(३) तूरगाँव (चंबाराज्य) से मिली हुई एक मूर्ति के नीचे के लेख में 'माघ-शुतिद्वादश्यां भौमवारे प्रतिष्ठितम्[1]' खुदा है।

(४) विएना लाइब्रेरी (आस्ट्रिया) में रक्खी हुई डाक्टर बूलर-संग्रहित शारदा (काश्मीर) लिपि की एक हस्तलिखित पुस्तक के अंत में 'श्रीविक्रमादित्य-शाका: १७३२ श्रीमच्छालिवाहनशाका: १५६७ श्रीसदोरंगशाहशाका: १८ श्रीसप्तर्षि-चारमतेन संवत ५१ वै० शुति १० शनौ[2]' लिखा है। यहाँ 'वै' 'वैशाख' का संक्षिप्त रूप है।

(५) ब्राह्मौर-गाँव (चंबा-राज्य) से मिले हुए राजा युगाकरवर्मन् के दान-पत्र में 'संवत १० वैशाख-वति १०[3]' दिया है।

(६) डडवार (चंबा-राज्य) से मिले हुए एक शिलालेख में संवत् १७ ज्येष्ठ-वति १२ बुधवासरे रेवतीनक्षत्रे[4]' खुदा है। यह संवत् १७ सप्तर्षि-संवत् (शास्त्र-संवत, विक्रम-संवत् १०६८) है।

(७) हरि-पर्वत के एक शिलालेख में 'सं० ६० श्रा-वति-प्र शुक्रे महम्मदशाह-राज्ये[5]' खुदा है। इस लेख में 'श्रा' 'श्रावण' का, 'वति' 'बहुलतिथि' का और 'प्र' 'प्रतिपदा' का संक्षिप्त रूप है। यह संवत भी सप्तर्षि-संवत है, जो वि० सं० १४४१ होता है।

(८) डॉक्टर सर ओरल स्टाइन को मिली हुई शारदा (कश्मीरी) लिपि में लिखी हुई 'रत्नावली नाटिका' के अंत में 'सं० ६६ चैत्र-वति एकादश्यां चंद्रवासरे श्रवणनक्षत्रे[6]', लिखा है।

---

१ डॉक्टर फोजल—ऐंटिक्विटीज़ ऑफ दि चंबा स्टेट, पृ० १७३।

२ इंडियन ऐंटिक्वेरी, जिल्द २०, पृष्ठ १५२, संख्या ७।

३ डॉक्टर फोजल—ऐंटिक्विटीज़ ऑफ दि चंबा स्टेट, पृष्ठ १६२।

४ डॉक्टर फोजल—ऐंटिक्विटीज़ ऑफ दि चंबा स्टेट, पृष्ठ १७७।

५ इंडियन ऐंटिक्वेरी, जिल्द २०, पृष्ठ १५३, संख्या ६।

६ इंडियन ऐंटिक्वेरी, जिल्द २०, पृष्ठ १५३, संख्या १०।

इन उदाहरणों से पाया जाता है कि जैसे संयुक्तप्रदेश, राजपूताना, मालवा, गुजरात, कठियावाड़ आदि में 'शुदि' और 'वदि' का प्रयोग होता था, वैसे ही पंजाब और काश्मीरवाले 'शुति' और 'वति' का प्रयोग करते थे।

ऊपर कुछ प्रमाण हमने ऐसे उद्धृत किए हैं, जिनमें पूरे शब्दों में संवत्सर (वर्ष), मास, पक्ष, और तिथि (दिवस) दिए हैं और उनके साथ-साथ वे ही संक्षेप-रूप से भी दिए हैं, जिससे निश्चित है कि 'शुदि' (सुदि) और 'बदि' (वदि) ये कोई स्वतंत्र शब्द नहीं, किन्तु 'शुक्लपक्ष' और 'दिवस' (तिथि) एवं 'बहुल (कृष्ण)पक्ष' और 'दिवस' (तिथि) के सूचक शब्दों के प्रारम्भ के अक्षर मिलकर लिखने से ये शब्द बने हैं। संस्कृत के 'शुदि' शब्द का भाषा में 'सुदि' रूप हुआ है। अतएव 'सुदि' और 'वदि' के स्थान में 'सुदी' तथा 'बदी' लिखना अशुद्ध है। आशा है, हिंदी के लेखक इस विषय पर विचार कर जो पाठ उनको शुद्ध प्रतीत हो, उसी को व्यवहार में लावेंगे।

माधुरी (मा० प०) लखनऊ ई० स० १९२५।

---

२ पद्मावत का सिंहलद्वीप

मलिक मुहम्मद जायसी ने पद्मावत की बड़ी मनोरंजक कथा लिखी, जिसका आधार तो ऐतिहासिक घटना है, किन्तु ऊपर की भित्ति अपनी रचना को रोचक बनाने के लिये विशेषकर कल्पना से खड़ी की गई है। उसमें लिखा है कि "सिंहल द्वीप" (सिंहल, लंका) में गंध्रवसेन (गंधर्वसेन) नाम का राजा था। उसकी पटरानी चंपावती से पद्मावती (पद्मिनी) नाम की एक अत्यन्त रूपवती कन्या उत्पन्न हुई। उसके पास हीरामन नामका एक सुन्दर और चतुर तोता था। एक दिन वह पिंजरे से उड़ गया और एक बहेलिए द्वारा पकड़ा जाकर एक ब्राह्मण के हाथ बेंचा गया। उस (ब्राह्मण) ने उसको चित्तौड़ के राजा रतनसिंह (रत्नसिंह) को एक लाख रुपए में बेंचा। रतनसेन की रानी नागमती ने एक दिन शृंगार कर तोते से पूछा—क्या मेरे जैसी सुंदरी जगत् में कोई है? इस पर तोते ने उत्तर दिया कि जिस सरोवर में हंस नहीं आया, वहाँ बगुला भी हंस कहलाता है। रतनसेन तोते के मुख से पद्मिनी के रूप, गुण आदि की प्रशंसा सुनकर उस पर मुग्ध हो गया और योगी बनकर तोते सहित सिंहल को चला। अनेक राजकुमार भी उसके चेलों के रूप में उसके साथ हो लिए। अनेक संकट सहता हुआ राजा सिंहल में पहुँचा। तोते ने पद्मावती के पास जाकर रतनसेन के रूप, कुल, ऐश्वर्य, तेज आदि की प्रशंसा कर कहा कि तेरे योग्य वर तो यही है और वह तेरे प्रेम से मुग्ध होकर यहाँ आ पहुँचा है। वसंत पंचमी के दिन वह बन-ठनकर उस मंदिर में गई, जहाँ रतनसेन ठहरा हुआ था, वहाँ वे दोनों एक दूसरे को देखते ही परस्पर प्रेम-बद्ध हो गए, जिससे पद्मिनी ने उसी से विवाह करना ठान लिया। अंत में गंधर्वसेन ने उसके वंश आदि का हाल जानने पर अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ कर दिया और रतनसेन बड़े आनंद के साथ कुछ समय तक वहीं रहा।

उधर चित्तौड़ में उसकी वियोगिनी रानी नागमती ने अपने पति की राह देखते हुए एक वर्ष बीत जाने पर एकपक्षी के द्वारा अपने दुःख का संदेश राजा के पास पहुँचाया। इस पर वह वहाँ से विदा होकर अपनी रानी सहित चला और समुद्र के भयंकर तूफान आदि आपत्तियाँ सहता हुआ अपनी राजधानी को लौटा। राघवचेतन नाम के एक ब्राह्मण ने पद्मिनी के रूप की तारीफ दिल्ली जाकर सुल्तान अलाउद्दीन से की, जिस पर वह (अलाउद्दीन) चित्तोड़ पर चढ़ आया। गोरा, बादल आदि अनेक सामंतों सहित रत्नसिंह मारा गया और पद्मिनी उसके साथ सती हुई"।

इस कथा में 'सिंहल द्वीप' का समुद्र के बीच होना बतलाया है और उसी को 'लंका' भी कहा है। अब हमें यह निश्चय करना आवश्यक है कि पद्मावत का सिंहल द्वीप वास्तव में समुद्र-स्थित लंका है, अथवा जायसी ने भ्रम में पड़कर किसी अन्य स्थान को समुद्रस्थित लंका मानकर अपने वर्णन को मनोहर बनाने का उद्योग किया है? इसका निश्चय करने के पूर्व हमें चित्तोड़ के स्वामी रत्नसिंह के राजत्व-काल की ओर दृष्टि डालना आवश्यक है। रत्नसिंह चित्तोड़ के रावल समर-सिंह का पुत्र था। रावल समरसिंह के समय के ८ शिलालेख अब तक मिले हैं, जिनमें सबसे पहला वि० सं० १३३० कार्तिकसुदि १ का चीरवेगाँव का और अंतिम वि० सं० १३५८ माघसुदि १० का चित्तोड़ का है। इन शिलालेखों से निश्चित है कि वि० सं० १३५८ माघसुदि १० तक तो समरसिंह जीवित था। रत्नसिंह के समय का केवल एक शिलालेख वि०सं० १३५९ माघसुदि ५ बुधवार का उदयपुर—चित्तोड़ रेलवे के कांकरोली रोड स्टेशन से ८ मील दूर दरीबा स्थान के माता के मंदिर के स्तंभ पर खुदा हुआ है। इन लेखों से निश्चित है कि समरसिंह की मृत्यु और रत्नसिंह का राज्याभिषेक वि० सं० १३५८ माघसुदि १० और वि० सं० १३५९ माघसुदि ५ के बीच किसी समय होना चाहिए।

रत्नसिंह को राज्य करते हुए एक वर्ष भी नहीं होने पाया था कि पद्मिनी के वास्ते चित्तौड़ की चढ़ाई के लिये सुल्तान अलाउद्दीन ने सोमवार ता० ८ जमादि-उस्सानी हि० स० ७०२ (वि० सं० १३५९ माघ सुदि ९=ता० २८ जनवरी, ई० स० १३०३) को प्रस्थान किया, छः महीने के करीब लड़ाई होती रही, जिसमें रत्नसिंह मारा गया और सोमवार ता० ११ मुहर्रम हि० स० ७०३ (वि० सं० १३६० भाद्र-

पद सुदि १४=ता० २६ अगस्त ई० स० १३०३) को अलाउद्दीन का चित्तौड़ पर अधिकार हो गया।

रत्नसिंह लगभग एक वर्ष ही चित्तौड़ का राजा रहा, उसमें भी अंतिम छः मास तो अलाउद्दीन के साथ लड़ता रहा। ऐसी स्थिति में उसका सिंहल (लंका) जाना, वहां एक वर्ष तक रहना और पद्मिनी को लेकर चित्तौड़ लौटना सर्वथा असंभव है, अतएव जायसी का सिंहलद्वीप (सिंहल) लंका का सूचक नहीं हो सकता।

काशी की नागरीप्रचारिणी सभा-द्वारा प्रकाशित जायसी ग्रंथावली (पद्मावत और अखरावट) के विद्वान संपादक पंडित रामचंद्र शुक्ल ने अपनी भूमिका में लिखा है "पद्मिनी क्या सचमुच सिंहल की थी ? पद्मिनी सिंहल की हो नहीं सकती। यदि सिंहल नाम ठीक मानें तो वह राजपूताने या गुजरात का कोई स्थान होगा[1]।" उक्त विद्वान् का यह कथन बहुत ठीक है और उसका पता लगाना आवश्यक है। उक्त भूमिका में गोरा बादल के विषय में यह भी लिखा है कि गोरा पद्मिनी का चाचा लगता था और बादल गोरा का भतीजा था[2]। कर्नल टॉड ने गोरा और बादल को सीलोन (सिंहल) के राजा के कुटुंबी बतलाया है और गोरा को पद्मिनी का चाचा तथा बादल को गोरा का भतीजा लिखा है[3]। ऐसा ही मेवाड़ की ख्यातों में भी लिखा मिलता है।

गौर (गोरा) नाम का वंश वि० सं० ५४७ से वि० सं० १५४५ तक मेवाड़ में विद्यमान था, जैसा कि 'गौर नामक अज्ञात क्षत्रियवंश' शीर्षक मेरे लेख में बतलाया जा चुका है। गोरा बादल दो नाम नहीं किंतु राठोड़ दुर्गादास, सीसोदिया पत्ता आदि के समान एक नाम होना संभव है, जिसका पहला अंश उसके वंश का सूचक और दूसरा उसका व्यक्तिगत नाम है। पिछले लेखकों ने प्राचीन इतिहास के अंधकार एवं गौरवंश का नाम भूल जाने के कारण गोरा और बादल दो नाम बना लिए। चित्तौड़ से करीब ४० मील पूर्व में सिंगोली नामका प्राचीन

---

१ जायसी-ग्रन्थावली; काशी नागरी-प्रचारणी सभा का संस्करण, भूमिका, पृ० २६।

२ वही; पृष्ठ २५।

३ टॉड राजस्थान जिल्द १; पृ० २८२ (कलकत्ता सं०)।

स्थान है, जिसके विस्तृत खंडहर और प्राचीन किले के चिह्न अब तक विद्यमान हैं, अतएव पद्मिनी का पिता सिंगोली का स्वामी होगा। सिंगोली और सिंहल (सिंहल द्वीप) नाम परस्पर मिलते हुए होने के कारण पद्मावत के रचयिता ने भ्रम में पड़कर सिंगोली को सिंहल (सिंहल द्वीप) मान लिया हो, यह संभव है। रत्नसिंह के राज्य करने का जो अल्प समय निश्चित है उससे यही माना जा सकता है कि उसका विवाह सिंहल द्वीप अर्थात् लंका के राजा की पुत्री से नहीं, किंतु सिंगोली के सरदार की कन्या से हुआ हो।

ना० प० प्र० (त्रै० न० स०),
भाग १३, ई० स० १९३२-३३